



सच्चं लोगम्भि सारभूयं

सागर जैन-विद्या भारती

भाग-१

(प्रो. सागरमल जैन के शोध लेखों का संकलन)

- प्रो. सागरमल जैन



पार्श्वनाथ शोधपीठ, वाराणसी - ५

सागर जैन-विद्या भारती

भाग-१

[प्रो. सागरमल जैन के शोध-लेखों का संकलन]

लेखक

प्रो. सागरमल जैन

निदेशक

पार्श्वनाथ शोधपीठ, वाराणसी

पूज्य सोहनलाल स्मारक पार्श्वनाथ शोधपीठ
वाराणसी-५.

पुस्तक : सागर जैन-विद्या भारती

© लेखक : प्रो. सागरमल जैन

प्रकाशक : पूज्य सोहनलाल स्मारक पार्श्वनाथ शोधपीठ, वाराणसी - 221005.

प्रथम संस्करण सन् १९९४ ई.

मूल्य : ₹. १००/-

मुद्रक : रत्ना प्रिन्टिंग वर्क्स, कमच्छा, वाराणसी

SAGAR JAINA-VIDYA BHARATI

Prof. Sagarmal Jain

Pujya Sohanlal Smaraka Parsvanatha Sodhpitha

P.O. : B.H.U., Varanasi - 221 005, Phone No. 311462

First Edition : 1994

Rs. 100.00

Ratna Printing Works, Kamchchha, Varanasi-5.

प्रकाशकीय

प्रो. सागरमल जैन ने जैन-विद्या के विविध पक्षों पर अपनी लेखनी चलायी है। उनके सभी निबन्ध सामायिक न होकर सार्वकालिक महत्त्व के हैं। उनके ये लेख श्रमण, तुलसीपज्ञा, दार्शनिक त्रैमासिक, परामर्श, जिनवाणी आदि अनेक पत्र-पत्रिकाओं में छपते रहें हैं, साथ ही विभिन्न स्मृति-ग्रन्थों, अभिनन्दन-ग्रन्थों, स्मारिकाओं, संगोष्ठियों एवं कान्फ़ेसों के आलेख संग्रहों में भी उनके लेख प्रकाशित हुए हैं। कुछ ग्रन्थों पर लिखी हुई उनकी भूमिकाएँ भी महत्त्वपूर्ण हैं। हमारी हार्दिक इच्छा है कि प्रो. सागरमल जैन द्वारा लिखित यह समस्त सामग्री पाठकों को एक साथ उपलब्ध हो जाय। योजना महत्त्वपूर्ण होते हुए भी बहुत ही व्यय साध्य है, क्योंकि यह सभी सामग्री लगभग तीन हजार पृष्ठों की है। फिर भी कालक्रम में उनके लेखों को संग्रहीत करके प्रकाशित करने की हमारी भावना है। यह सम्पूर्ण सामग्री लगभग दस खण्डों में प्रकाशित होगी। उसके प्रथम चरण के रूप में उनके कुछ लेखों का प्रकाशन श्रमण के साथ-साथ "सागर जैन-विद्या भारती" के प्रथम खण्ड के रूप में अलग से भी कर रहें हैं। इसमें उन सभी निबन्धों का संग्रह किया गया है, जो विगत वर्ष में उनके द्वारा विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं, ग्रन्थों और संगोष्ठियों हेतु लिखे गये हैं। इनमें से मात्र "जैन आगमों में हुआ भाषिक स्वरूप परिवर्तन" नामक लेख, तुलसीपज्ञा खण्ड-१६, अंक ३ में प्रकाशित हुआ है, शेष सभी लेखों का प्रकाशन होना है। फिर भी जिन पत्र-पत्रिकाओं या ग्रन्थों में उनका प्रकाशन होना है, उनके प्रति आभार व्यक्त करते हुए इन्हें यहाँ प्रकाशित किया जा रहा है। इन लेखों का कम्प्यूटर द्वारा कम्पोजिंग-कार्य श्री बृजेश कुमार श्रीवास्तव ने एवं मुद्रण-कार्य रत्ना प्रिंटिंग वर्क्स ने किया है। साथ ही प्रूफ रीडिंग में डॉ. अशोक कुमार सिंह और श्री असीम कुमार मिश्र ने सहयोग प्रदान किया, अतः हम इन सभी के प्रति अपना आभार व्यक्त करते हैं।

भूपेन्द्रनाथ जैन

मन्त्री

पार्श्वनाथ शोधपीठ
वाराणसी-5.

अप्रैल, १९९४

वाराणसी (उ.प्र.)

विषय-सूची

	पृष्ठ संख्या
1. जैनधर्म-दर्शन का सारतत्त्व	1 - 13
2. भगवान महावीर का जीवन और दर्शन	14 - 18
3. जैनधर्म में भक्ति की अवधारणा	18 - 36
4. जैनधर्म में स्वाध्याय का अर्थ एवं स्थान	37 - 43
5. जैन साधना में ध्यान	44 - 79
6. अर्धमागधी आगम साहित्य में समाधिमरण की अवधारणा	80 - 93
7. जैन कर्म सिद्धान्त : एक विश्लेषण	94 - 128
8. भारतीय संस्कृति का समन्वित स्वरूप	129 - 134
9. पर्यावरण के प्रदूषण की समस्या और जैनधर्म	135 - 143
10. जैनधर्म और सामाजिक समता	144 - 161
11. जैन आगमों में मूल्यात्मक शिक्षा और वर्तमान सन्दर्भ	162 - 172
12. खजुराहो की कला और जैनाचार्यों की समन्वयात्मक एवं सहिष्णु दृष्टि	173 - 178
13. महापण्डित राहुल सांकृत्यायन के जैनधर्म सम्बन्धी मन्तव्यों की समालोचना	179 - 184
14. ऋग्वेद में अर्हत् और ऋषभवाची ऋचायें : एक अध्ययन	185 - 202
15. निर्युक्ति साहित्य : एक पुनर्चिन्तन	203 - 233
16. जैन एवं बौद्ध पारिभाषिक शब्दों के अर्थ-निर्धारण और अनुवाद की समस्या	234 - 238
17. जैन आगमों में हुआ भाषिक स्वरूप परिवर्तन : एक विमर्श	239 - 253
18. भगवान महावीर की निर्वाणतिथि पर पुनर्विचार	254 - 268

डॉ. सागरमल जैन : व्यक्तित्व एवं कृतित्व

प्रो. सागरमल जैन

जीवन परिचय

जन्म और बाल्यकाल

प्रो. सागरमल जैन का जन्म भारत के हृदय मालव अंचल के शाजापुर नगर में विक्रम संवत् 1988 की माघपूर्णिमा के दिन हुआ था। आपके पिता श्री राजमल जी शक्करवाले मध्यम आर्थिक स्थिति होने पर भी ओसवाल समाज के प्रतिष्ठित व्यक्तियों में माने जाते थे। आपका गोत्र मण्डलिक है। आपकी माता श्रीमती गंगाबाई एक धार्मिक महिला थीं। आपके जन्म के समय आपके पिताजी सपरिवार अपने नाना-नानी के साथ ही निवास करते थे, क्योंकि आपके दादा-दादी का देहावसान आपके पिताजी के बचपन में ही हो गया था। बालक सागरमल को सर्वाधिक प्यार और दुलार मिला अपने पिता की मौसी पानबाई से। उन्होंने ही आपके बाल्यजीवन में धार्मिक संस्कारों का वपन भी किया। वे स्वभावतः विरक्तमना थीं। विक्रम संवत् 1994 में जब आपकी वय लगभग 6 वर्ष की थी, तभी उन्होंने पूज्य साध्वी श्री रत्नकुंवर जी म.सा. के सान्निध्य में संन्यास ग्रहण कर लिया था। वे आज प्रवर्तनी रत्नकुंवरजी म.सा. के साध्वी संघ में वयोवृद्ध साध्वी प्रमुखा के रूप में शाजापुर नगर में ही स्थिरवास कर रहीं हैं। इस प्रकार आपका पालन-पोषण धार्मिक संस्कारमय परिवेश में हुआ। मालवा की माटी से सहजता और सरलता तथा परिवार से पापभीरुता एवं धर्म-संस्कार लेकर आपके जीवन की विकास यात्रा आगे बढ़ी।

शिक्षा

बालक सागरमल की प्रारम्भिक शिक्षा तोड़ेवाले भैया की पाठशाला में हुई। यह पाठशाला तब अपने कठोर अनुशासन के लिए प्रसिद्ध थी। यही कारण था कि आपके जीवन में अनुशासन और संयम के गुण विकसित हुए। इस पाठशाला से तीसरी कक्षा उत्तीर्ण कर लेने पर आपको तत्कालीन ग्वालियर राज्य के ऐंग्लो वर्नाक्यूलर मिडिल स्कूल की चौथी कक्षा में प्रवेश मिला। यहाँ रामजी भैया सितूतकर जैसे कठोर एवं अनुशासनप्रिय अध्यापकों के सान्निध्य में आपने कक्षा 4 से कक्षा 8 तक की शिक्षा ग्रहण की और सभी परीक्षाएँ प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण की। माध्यमिक (मिडिल) परीक्षा में प्रथम श्रेणी के साथ-साथ शाजापुर जिले में प्रथम स्थान प्राप्त किया। ज्ञातव्य है कि उस समय माध्यमिक

परीक्षा पास करने वालों के नाम ग्वालियर गजट में निकलते थे। जिस समय इस मिडिल स्कूल में आपने प्रवेश लिया था, उस समय द्वितीय महायुद्ध अपनी समाप्ति की ओर था और दिल्ली एवं बम्बई के मध्य आगरा-बाम्बे रोड पर स्थित शाजापुर नगर के उस स्कूल के पास का मैदान सैनिकों का पड़ाव स्थल था। साथ ही उस समय ग्वालियर राज्य में प्रजामण्डल द्वारा स्वतन्त्रता आन्दोलन की गतिविधियाँ भी तेज हो गई थीं। बाल्यावस्था की स्वाभाविक चपलता वश कभी आप आगरा-बम्बई सड़क पर गुजरते हुए गोरे सैनिकों को 'V for Victory' कह कर प्रोत्साहित करते, तो कभी प्रजामण्डल की प्रभात फेरियों के साथ 'भारतमाता की जय' का उद्घोष करते। बालक सागरमल ने इसी समय अपने मित्रों के साथ पार्श्वनाथ बाल मित्र-मण्डल की स्थापना की। सामाजिक एवं धार्मिक गतिविधियों के साथ-साथ, मण्डल का एक प्रमुख कार्य था अपने सदस्यों को बीड़ी-सिगरेट आदि दुर्व्यसनों से मुक्त रखना। इसके लिए सदस्यों पर कड़ी चौकसी रखी जाती थी। परिणाम यह हुआ कि यह मित्र-मण्डली व्यसन-मुक्त और धार्मिक संस्कारों से युक्त रही।

माध्यमिक परीक्षा (कक्षा 8) उत्तीर्ण करने के पश्चात् परिवार के लोग सब से बड़ा पुत्र होने के कारण आपको व्यवसाय से जोड़ना चाहते थे, परन्तु आपके मन में अध्ययन की तीव्र उत्कण्ठा थी। उस समय शाजापुर नगर, ग्वालियर राज्य का जिला मुख्यालय था, फिर भी वहाँ कोई हाईस्कूल नहीं था। आपके अत्यधिक आग्रह पर आपके पिता ने आपकी ससुराल शुजालपुर के एक मात्र हाईस्कूल में अध्ययन के लिए प्रवेश दिलाया। ज्ञातव्य है कि बालक सागरमल की सगाई इसके पूर्व ही हो चुकी थी। किन्तु वहाँ प्रवेश के लगभग 15-20 दिन पश्चात् ही आप अस्वस्थ हो गये, फलतः मात्र डेढ़ माह के अल्प प्रवास के पश्चात् पारिवारिक ममता ने आपको वापस शाजापुर बुला लिया। इसप्रकार आपका अध्ययन स्थगित हो गया और आप अल्पवय में ही सराफे के व्यवसाय से जुड़ गये।

विवाह एवं पारिवारिक तथा सामाजिक गतिविधियाँ

आपकी सगाई तो बाल्यकाल में ही हो गयी थी और विवाह की योजना भी बहुत पहले ही बन गई थी, किन्तु आपकी सासु-ससुरा की असाध्य बीमारी से ग्रस्त हो जाने और बाद में उनकी मृत्यु हो जाने के कारण विवाह थोड़े समय के

लिए टला तो सही किन्तु 17 वर्ष की वय में प्रवेश करते ही वैशाख शुक्ला त्रयोदशी वि. संवत् 2005 तदनुसार 21 मई 1948 को आपको श्रीमती कमलाबाई के साथ दाम्पत्य-सूत्र में बाँध दिया गया। अल्पवय में आपके विवाह का एक अन्य कारण यह भी था कि आपकी मातृतुल्या पूज्य साध्वी श्री पानकुंवर जी म.सा. के दीक्षित हो जाने और बाल्यकाल से ही आपकी रुचि साधु-सन्तों के समीप अधिक रहने की होने के कारण परिवार को भय था कि कहीं बालकमन पर वैराग्य के संस्कार न जम जायें ? इस प्रकार किशोरवय में ही आपको गृहस्थ जीवन और व्यवसाय से जुड़ जाना पड़ा। जो दिन आपके खेलने और खाने के थे, उन्हीं दिनों में आपको पारिवारिक एवं व्यावसायिक दायित्व का निर्वाह करना पड़ा। यद्यपि आपके मन में अध्ययन के प्रति अदम्य उत्साह था, किन्तु शाजापुर में हाईस्कूल का अभाव तथा पारिवारिक और व्यावसायिक दायित्वों का बोझ इसमें बाधक था, फिर भी जहाँ चाह होती है वहाँ कोई न कोई राह निकल ही आती है।

व्यवसाय के साथ-साथ अध्ययन

चार वर्ष के अन्तराल के पश्चात् सन् 1952 में हिन्दी साहित्य सम्मेलन प्रयाग से 'व्यापार विशारद' की परीक्षा उत्तीर्ण की और उसके दो वर्ष पश्चात् 1954 में अर्थशास्त्र विषय से साहित्यरत्न की परीक्षा उत्तीर्ण की। उस समय आपने अर्थशास्त्र को सुगम ढंग से अध्ययन करने और स्मृति में रखने का एक चार्ट बनाया था, जिसकी प्रशंसा उस समय के एम.ए. अर्थशास्त्र के छात्रों ने भी की थी। इसी बीच आपका पत्र-व्यवहार इलाहाबाद के सुप्रसिद्ध अर्थशास्त्री भगवानदास जी केला से हुआ। उन्होंने श्री नरहरि पारिख के मानव अर्थशास्त्र के आधार पर हिन्दी में मानव अर्थशास्त्र लिखने हेतु आपको प्रेरित किया था। तब आप हाईस्कूल भी उत्तीर्ण नहीं थे और आपकी वय मात्र बीस वर्ष की थी। इस समय आपके एक नये मित्र बने सारंगपुर के श्री मदनमोहन राठी। इसी काल में आपने धार्मिक परीक्षा बोर्ड, पाथर्डी से जैन सिद्धान्त विशारद की परीक्षा उत्तीर्ण की। सन् 1953 में शाजापुर नगर में एक प्राइवेट हाईस्कूल प्रारम्भ हुआ। यद्यपि अपने व्यावसायिक क्रिया-कलापों में व्यस्त होने के कारण आप उसके छात्र तो नहीं बन सके, किन्तु आपके मन में अध्ययन की प्रसुप्त भावना पुनः जागृत हो गई और सन् 1955 में आपने अपने मित्र श्री माणकचन्द्र जैन के साथ स्वाध्यायी छात्र के रूप में हाईस्कूल की परीक्षा दी। वय में माणकचन्द्र

आपसे तीन वर्ष छोटे थे फिर भी आप दोनों में गहरी दोस्ती थी। यद्यपि आप नियमित अध्ययन तो नहीं कर सके, फिर भी अपनी प्रतिभा के बल पर आपने उस परीक्षा में उच्च द्वितीय श्रेणी के अंक प्राप्त किये। अच्छे अंकों से उत्तीर्ण होने के परिणामस्वरूप आप के मन में अध्ययन की भावना पुनः तीव्र हो गयी। इसी अवधि में व्यवसाय के क्षेत्र में भी आपने अच्छी सफलता और कीर्ति अर्जित की। पिता जी की प्रामाणिकता और अपने सौम्य व्यवहार के कारण आप ग्राहकों का मन मोह लिया करते थे। परिणामस्वरूप आपको व्यावसायिक क्षेत्र में अधिक प्रतिष्ठा प्राप्त हुई। अल्प वय में ही आपको शाजापुर नगर के सराफा एसोसियेशन का मंत्री बना दिया गया। पारिवारिक और व्यावसायिक दायित्वों का निर्वाह करते हुए भी आपमें अध्ययन की रुचि सदैव जीवन्त रही। अतः आपने सन् 1957 में इण्टर कामर्स की परीक्षा दे ही दी और इस परीक्षा में भी उच्च द्वितीय श्रेणी के अंक प्राप्त किये। यह आपका सद्भाग्य ही कहा जायेगा कि चाहे व्यवसाय का क्षेत्र हो या अध्ययन का असफलता और निराशा का मुख आपने कभी नहीं देखा। किन्तु आगे अध्ययन का क्रम पुनः खण्डित हो गया, क्योंकि उस समय शाजापुर नगर में कोई महाविद्यालय नहीं था और बी.ए. की परीक्षा स्वाध्यायी छात्र के रूप में नहीं दी जा सकती थी। अतः एक बार पुनः आपको व्यवसाय के क्षेत्र में ही केन्द्रित होना पड़ा, किन्तु भाग्यवानों के लिए कहीं न कहीं कोई द्वार उद्घाटित हो ही जाता है। उस समय म.प्र. शासन ने यह नियम प्रसारित किया कि 25000 रु. की स्थायी राशि बैंक में जमा करके कोई भी संस्था महाविद्यालय का संचालन कर सकती है। अतः आपने तत्कालीन विधायक श्री प्रताप भाई से मिलकर एक महाविद्यालय खुलवाने का प्रयत्न किया और विभिन्न स्रोतों से धन राशि की व्यवस्था करके बालकृष्ण शर्मा नवीन महाविद्यालय की स्थापना की और स्वयं भी उसमें प्रवेश ले लिया। व्यावसायिक दायित्व से जुड़े होने के कारण आप अधिक नियमित नहीं रह सके, फिर भी बी.ए. परीक्षा में बैठने का अवसर तो प्राप्त हो ही गया। इस महाविद्यालय के माध्यम से सन् 1961 में बी.ए. की परीक्षा द्वितीय श्रेणी में उत्तीर्ण की। इस समय आप पर व्यावसायिक, पारिवारिक और सामाजिक दायित्व इतना अधिक था कि चाहकर भी अध्ययन के लिए आप अधिक समय नहीं दे पाते थे। अतः अंकों का प्रतिशत बहुत उत्साहजनक नहीं रहा तो भी शाजापुर से जो छात्र इस परीक्षा में बैठे थे उनमें आपके अंक सर्वाधिक थे। आपके तत्कालीन साथियों में श्री मनोहरलाल जैन एवं आपके ममेरे भाई रखबचन्द्र प्रमुख थे।

परिवार और समाज

गृही जीवन में सन् 1951 में आपको प्रथम पुत्ररत्न की प्राप्ति हुई, किन्तु दुर्दैव से वह अधिक समय तक जीवित नहीं रह सका। अगस्त 1952 में आपके द्वितीय पुत्र नरेन्द्रकुमार का जन्म हुआ। सन् 1954 में पुत्री कु. शोभा का और 1957 में पुत्र पीयूषकुमार का जन्म हुआ। बढ़ता परिवार और पिता की अस्वस्थता तथा छोटे भाई-बहनों का अध्ययन -- इन सब कारणों से मात्र पच्चीस वर्ष की अल्पवय में ही आप एक के बाद एक जिम्मेदारियों के बोझ से दबते ही गये। उधर सामाजिक और धार्मिक क्षेत्र में भी आपकी प्रतिभा और व्यवहार के कारण आप पर सदैव एक के बाद दूसरी जिम्मेदारी डाली जाती रही। इसी अवधि में आपको माधव रजत जयंती वाचनालय, शाजापुर का सचिव, हिन्दी साहित्य समिति, शाजापुर का सचिव तथा कुमार साहित्य परिषद् और सद-विचार निकेतन के अध्यक्ष पद के दायित्व भी स्वीकार करने पड़े। आपके कार्यकाल में कुमार साहित्य परिषद् का म.प्र. क्षेत्र का वार्षिक अधिवेशन एवं नवीन जयंती समारोहों के भव्य आयोजन भी हुए। इस माध्यम से आप बालकवि बैरागी, पद्मश्री डॉ. लक्ष्मीनारायण शर्मा आदि देश के अनेक साहित्यकारों से भी जुड़े। इसी अवधि में आप स्थानीय स्थानकवासी जैन संघ के मंत्री तथा म.प्र. स्थानकवासी जैन युवक संघ के अध्यक्ष बनाये गये। सादडी सम्मेलन के पश्चात् स्थानकवासी जैन युवक संघ के प्रान्तीय अध्यक्ष के रूप में आपने म.प्र. के विभिन्न क्षेत्रों का व्यापक दौरा भी किया तथा जैन समाज की एकता को स्थायित्व देने का प्रयत्न किया।

एम.ए. का अध्ययन और व्यवसाय में नया मोड़

इन गतिविधियों में व्यस्त होने के बावजूद भी आपकी अध्ययन की अभिरुचि कुंठित नहीं हुई, किन्तु कठिनाई यह थी कि न तो शाजापुर में स्नातकोत्तर कक्षाएँ खुलनी सम्भव थीं और न इन दायित्वों के बीच शाजापुर से बाहर किसी महाविद्यालय में प्रवेश लेकर अध्ययन करना ही, किन्तु शाजापुर महाविद्यालय के तत्कालीन प्राचार्य श्री रामचन्द्र 'चन्द्र' की प्रेरणा से एक मध्यम मार्ग निकाला गया और यह निश्चय हुआ कि यदि कुछ दिन नियमित रहा जाये तो अग्रिम अध्ययन की कुछ सम्भावनाएँ बन सकती हैं। उन्हीं के निर्देश पर आपने जुलाई 1961 में क्रिश्चियन कालेज, इन्दौर में एम.ए. दर्शन-शास्त्र के

विद्यार्थी के रूप में प्रवेश लिया। इन्दौर में अध्ययन करने में आवास, भोजन आदि की अनेक कठिनाइयाँ रहीं। सर्वप्रथम आपने चाहा कि क्रिश्चियन कालेज के सामने नसियाजी में स्थित दिगम्बर जैन छात्रावास में प्रवेश लिया जाय, किन्तु वहाँ आपका श्वेताम्बर कुल में जन्म लेना ही बाधक बन गया, फलतः क्रिश्चियन कालेज के छात्रावास में प्रवेश लेना पड़ा। वहाँ नियमानुसार छात्रावास के भोजनालय में भोजन करना आवश्यक था, किन्तु उसमें शाकाहारी और मांसाहारी दोनों प्रकार के भोजन बनते थे और चम्मच तथा बर्तनों का कोई विवेक नहीं रखा जाता था। कुछ दिन आपने मात्र दही और रोटी खाकर निकाले, किन्तु अन्त में विवश होकर छात्रावास छोड़ दिया। कुछ दिन इधर-उधर रहकर गुजारे, अन्त में राजेन्द्र नगर में मकान लेकर रहने लगे। कुछ दिन पत्नी को भी साथ ले गये, किन्तु पारिवारिक स्थिति में यह सुख अधिक सम्भव नहीं था। फिर भी आपने अपने अध्ययन-क्रम को निरन्तर जारी रखा। सप्ताह में दो-तीन दिन इन्दौर और शेष समय शाजापुर। इसी भाग-दौड़ में आपने सन् 1962 में एम. ए. पूर्वाह्न और सन् 1963 में एम. ए. उत्तरार्द्ध की परीक्षाएँ न केवल प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण की, अपितु तत्कालीन पश्चिमी मध्य-प्रदेश के एकमात्र विश्वविद्यालय विक्रम विश्वविद्यालय की कला संकाय में द्वितीय स्थान भी प्राप्त किया। ज्ञातव्य है कि उस समय कला संकाय में सामाजिक विज्ञान संकाय भी समाहित थी।

एम. ए. की परीक्षा उत्तीर्ण करने के पश्चात् आपके जीवन में एक निर्णायक मोड़ का अवसर आया। सन् 1962 में मोरारजी देसाई ने स्वर्ण नियन्त्रण अधिनियम लागू किया, फलस्वरूप स्वर्ण-व्यवसाय प्रतिबन्धित व्यवसाय के क्षेत्र में आ गया और इस व्यवसाय को प्रामाणिकता पूर्वक कर पाना कठिन हो गया और चोरी-छिपे धन्धा करना आपकी प्रकृति के अनुकूल नहीं था। अतः आपने अपने व्यवसाय को एक नया मोड़ देने का निश्चय किया। आपका छोटा भाई कैलाश, जो उस समय एम. काम. (अन्तिम वर्ष) में था, उसके लिए भी स्वतन्त्र व्यवसाय का प्रश्न था। अतः आपने स्वर्ण के व्यवसाय के स्थान पर कपड़े का व्यवसाय प्रारम्भ करने का निश्चय किया। कठिनाई यह थी कि इन दोनों व्यवसायों को किस प्रकार संचालित किया जाय, क्योंकि अभी भाई कैलाश को अपना अध्ययन पूर्ण कर लौटने में कुछ समय था।

दर्शनशास्त्र के अध्यापन

एक ओर प्रबुद्ध वर्ग का आग्रह था कि दर्शन जैसे विषय में प्रथम श्रेणी एवं प्रथम स्थान में स्नातकोत्तर परीक्षा पास करके भी व्यावसायिक कार्यों से जुड़े रहना यह प्रतिभा का सम्यक् उपयोग नहीं है, तो दूसरी ओर पारिवारिक परिस्थितियाँ और दायित्व व्यवसाय के क्षेत्र का परित्याग करने में बाधक थे। वस्तुतः सरस्वती और लक्ष्मी की उपासना में से किसी एक के चयन का प्रश्न आ खड़ा हुआ था। यह आपके जीवन का निर्णायक मोड़ था। स्वर्ण नियन्त्रण कानून लागू होना आदि कुछ बाह्य परिस्थितियों ने भी जीवन के इस निर्णायक मोड़ पर आपको एक दूसरा ही निर्णय लेने को प्रेरित किया। फिर भी लगभग 50 वर्षों से सुस्थापित तथा अपने पूरे क्षेत्र में प्रतिष्ठित उस व्यावसायिक प्रतिष्ठान को एकाएक बन्द कर देना न सम्भव ही था और न ही परिवार के हित में। यह भी संयोग था कि सन् 1964 के मध्य में म.प्र. शासन की ओर से दर्शनशास्त्र के व्याख्याताओं के कुछ पदों के लिए चयन की अधिसूचना प्रसारित हुई। जब आपको उस विज्ञापन की जानकारी हुई तो आपने भी सहज रूप से एक आवेदन पत्र प्रस्तुत कर दिया। आवेदन पत्र पहुँचने के कुछ समय पश्चात् ही आपको म.प्र. शासन की ओर से दर्शनशास्त्र के व्याख्याता पद पर नियुक्ति का आदेश प्राप्त हुआ। आपने सोचा भी नहीं था कि यह सब इतने सहज रूप में हो जायेगा। अब यह निर्णय की घड़ी थी। एक ओर माता-पिता और परिजन व्यवसाय से जुड़े रहने का आग्रह करते थे तो दूसरी ओर अन्तर में छिपी ज्ञानार्जन की ललक व्यवसाय से निवृत्ति लेकर विद्या की उपासना हेतु प्रेरित कर रही थी। आपके भाई कैलाश, जो उस समय उज्जैन विक्रम विश्वविद्यालय में एम.काम. के अन्तिम वर्ष में थे, उससे आपने विचार-विमर्श किया और उसके द्वारा आश्वस्त किये जाने पर आपने दर्शनशास्त्र के व्याख्याता के रूप में शासकीय सेवा स्वीकार करने का निर्णय ले लिया। फिर भी पिताजी का स्वास्थ्य और व्यवसाय का विस्तृत आकार ऐसा नहीं था कि आपकी अनुपस्थिति में केवल पिताजी उसे सम्भाल सकें, ये अन्तर्द्वन्द्व के कठिन क्षण थे। लक्ष्मी और सरस्वती की उपासना के इस द्वन्द्व में अन्ततोगत्वा सरस्वती की विजय हुई और दुकान पर दो मुनीमों की व्यवस्था करके आप शासकीय सेवा के लिए चल दिये।

आपकी प्रथम नियुक्ति महाकौशल महाविद्यालय जबलपुर में हुई। संयोग से

वहाँ आपके पूर्व परिचित उस समय के आचार्य रजनीश (बाद के भगवान और ओशो) उसी विभाग में कार्यरत थे। आपने उनसे पत्र व्यवहार किया और दीपावली पर्व पर लक्ष्मी की अन्तिम आराधना करके सरस्वती की उपासना के लिए 5 नवम्बर, 1964 को जबलपुर के लिए प्रस्थान किया। बिदाई दृश्य बड़ा ही करुण था। पूरे परिवार और समाज में यह प्रथम अवसर था जब कोई नौकरी के लिये घर से बहुत दूर जा रहा था। मित्रगण और परिजनों का स्नेह एक ओर था, तो दूसरी ओर आपका दृढ़ निश्चय। पिताजी की माँग पर बड़े पुत्र को उनके पास रखने का आश्वासन देकर अश्रुपूर्ण आँखों से बिदा ली।

जबलपुर में जिस पद पर आपको नियुक्ति मिली थी वह पद वहाँ के एक व्याख्याता के प्रमोशन से रिक्त होना था, किन्तु वे जबलपुर छोड़ना नहीं चाहते थे। तीन दिन प्राचार्य के कार्यालय के चक्कर लगाये, किन्तु अन्त में शिक्षा सचिव से हुई मौखिक चर्चा के आधार पर प्राचार्य ने आपको एक पत्र दे दिया, जिसके आधार पर आपको ठाकुर रणमत्तसिंह कालेज, रीवाँ में दर्शनशास्त्र के व्याख्याता का पद ग्रहण करना था। रीवाँ आपके लिए पूर्णतः अपरिचित था, फिर भी आचार्य रजनीश आदि की सलाह पर तीन दिन जबलपुर में बिताने के पश्चात् रीवाँ के लिए रवाना हुए। यहाँ विभाग में डॉ. डी.डी. बन्दिष्टे का और महाविद्यालय के डॉ. कन्हेदीलाल जैन आदि अनेक जैन प्राध्यापकों का सहयोग मिला। एक मकान लेकर दोनों समय ढाबे में भोजन करते हुए आपने अध्यापन कार्य की इस नई जिन्दगी का प्रारम्भ किया। पहली बार आपको लगा कि पढ़ने-पढ़ाने का आनन्द कुछ और है किन्तु रीवाँ का यह प्रवास भी अधिक स्थायी न बन सका। शासन द्वारा वहाँ किसी अन्य व्यक्ति को भेज दिये जाने के कारण आपको आदेशित किया गया कि आप महारानी लक्ष्मीबाई स्नातकोत्तर महाविद्यालय ग्वालियर जाकर अपना पदभार ग्रहण करें। 'प्रथम ग्रासे मक्षिका पातः' की उक्ति के अनुसार शासकीय सेवा का यह अस्थायित्व और एक शहर से दूसरे शहर भटकना आपके मन को अच्छा नहीं लगा और एक बार मन में यह निश्चय किया कि शासकीय सेवा का परित्याग कर देना ही उचित है, किन्तु प्रो. बन्दिष्टे और कुछ मित्रों के समझाने पर आपने इतना माना कि आप ग्वालियर होकर ही शाजापुर जायेंगे।

ग्वालियर जाने में आपके दो-तीन आकर्षण थे, एक तो म.प्र. स्थानकवासी जैन युवक संघ की ग्वालियर शाखा के प्रमुख श्री टी.सी. बाफना आपके पूर्व

परिचित थे, दूसरे प्रो. जी.आर. जैन से भी आपका पूर्व परिचय था और आप जैन सापेक्षतावाद और आधुनिक विज्ञान पर शोधकार्य करने की दृष्टि से उनसे अधिक गहराई से विचार-विमर्श करना चाहते थे। अतः 27 नवम्बर 1964 को मात्र 17 दिन के रीवाँ प्रवास के पश्चात् आप ग्वालियर के लिए रवाना हुए। ग्वालियर पहुँचने पर आप मान-मन्दिर होटल में रुके और प्रातः महाविद्यालय के प्राचार्य प्रो. एम. एम. कुरेशी और विभागाध्यक्ष डॉ. एस. एस. बनर्जी से मिले। दोपहर में आपने टी. सी. बाफना और प्रो. जी.आर. जैन से मिलने का कार्यक्रम बनाया। जब प्रो. जी.आर. जैन से मिले तो उनका पहला प्रश्न था कहाँ रुके हो? यह बताने पर उनका पहला वाक्य था -- तुम सामान लेकर आ जाओ और तत्काल ही एक हाल की साफ-सफाई कर आपके रहने की व्यवस्था अपने ही घर में कर दी। -संध्या- को महाविद्यालय के दर्शन-विभाग के व्याख्याता डॉ. अशोक लाड और वाणिज्य विभाग के श्री गोविन्द दास माहेश्वरी आप से मिलने आये। इनसे प्रथम परिचय ही ऐसा रहा कि आप तीनों गहरे मित्र बन गये। एक ही दिन में परिवेश ही बदल गया और शाजापुर वापस लौट जाने का विकल्प समाप्त हो गया। दिसम्बर में शीतकालीन अवकाश के पश्चात् जनवरी 1965 में आप छोटे पुत्र, पुत्री और पत्नी को लेकर ग्वालियर आ गये। यद्यपि आप के लिए अध्यापन का कार्य बिल्कुल नया था, किन्तु पर्याप्त परिश्रम और विषय की पकड़ होने से आप शीघ्र ही छात्रों के प्रिय बन गये। संयोग से महाविद्यालय में उसी वर्ष दर्शनशास्त्र की स्नातकोत्तर कक्षाएँ प्रारम्भ हुई थीं। अतः आपने कठिन परिश्रम करके छात्रों को न केवल महाविद्यालय में पढ़ाया, बल्कि घर पर बुलाकर भी उनकी तैयारी कराते रहे। सभी का परीक्षाफल भी अच्छा रहा। अतः शीघ्र ही एक सुयोग्य अध्यापक के रूप में आपकी ख्याति हो गयी।

ग्वालियर में जब मनोविज्ञान का स्वतन्त्र विषय प्रारम्भ हुआ तो आपने प्रारम्भ में उसके अध्यापन का दायित्व भी दर्शनशास्त्र के अध्यापन के साथ-साथ सम्भाला। आपने 'जैन, बौद्ध और गीता के आचार-दर्शनों का तुलनात्मक अध्ययन' जैसा व्यापक विषय लेकर पी-एच.डी. की उपाधि हेतु अपना पंजीयन करवाया और शोध प्रबन्ध लिखने की तैयारी में जुट गये। इसी सन्दर्भ में जैन और बौद्ध परम्परा के मूल ग्रन्थों विशेष रूप से जैन आगमों और बौद्ध त्रिपिटक साहित्य का अध्ययन प्रारम्भ किया।

अध्यापक के रूप में गुनः मालव भूमि में

ग्वालियर में आपका प्रवास पूरे तीन वर्ष रहा। इसी अवधि में आपका चयन म.प्र. लोक सेवा आयोग से हो चुका था और उसमें वरीयताक्रम में आपको प्रथम स्थान प्राप्त हुआ था। सूची में सर्वोच्च स्थान पर होने के कारण सहायक प्राध्यापक के रूप में आपकी पदोन्नति करने के लिए शासन प्रतीक्षारत था। उधर परिवार के लोग भी यह चाहते थे कि ग्वालियर जैसे सुदूर नगर की अपेक्षा शाजापुर के निकटवर्ती उज्जैन, इन्दौर आदि स्थानों पर आपका स्थानान्तरण हो जाय। संयोग से तत्कालीन उपशिक्षा मंत्री श्री कन्हैयालाल मेहता आपके परिजनों के परिचित थे, अतः नवम्बर 1967 में आपको शासकीय कला एवं वाणिज्य महाविद्यालय इन्दौर स्थानान्तरित किया गया एवं जुलाई 1968 में सहायक प्राध्यापक एवं विभागाध्यक्ष बनाकर आपको हमीदिया महाविद्यालय, भोपाल भेज दिया गया। वैसे तो इन्दौर और भोपाल दोनों ही आपके गृह नगर शाजापुर से नजदीक थे, किन्तु इन्दौर की अपेक्षा भोपाल में अध्ययन की दृष्टि से यहाँ अधिक समय-मिलने की सम्भवना थी। अतः आपने 1 अगस्त 1968 को हमीदिया महाविद्यालय में दर्शनशास्त्र के सहायक प्राध्यापक एवं विभागाध्यक्ष का पद ग्रहण किया। इस महाविद्यालय में दर्शनशास्त्र विषय प्रारम्भ ही हुआ था और मात्र दो छात्र थे। अतः प्रारम्भ में अध्यापन कार्य का अधिक भार न होने से आपने शोध-प्रबन्ध को पूर्ण करने का प्रयत्न किया और अगस्त 1969 में लगभग 1500 पृष्ठों का बृहद्काय शोधप्रबन्ध परीक्षार्थ प्रस्तुत कर दिया। विभाग में छात्रों की अत्यल्प संख्या और महाविद्यालय में दर्शनशास्त्र विषय के उपेक्षित होने के कारण आपका मन पूरी तरह नहीं लग पा रहा था, अतः आपने दर्शनशास्त्र को लोकप्रिय बनाने का बीड़ा उठाया। संयोग से आपके भोपाल पहुँचने के बाद दूसरे वर्ष ही भोपाल विश्वविद्यालय की स्थापना हो गयी और आपको दर्शनशास्त्र विषय की अध्ययन समिति का अध्यक्ष तथा कला संकाय एवं विद्वत् परिषद का सदस्य बनने का मौका मिला। आपने पाठ्यक्रम में समाजदर्शन, धर्मदर्शन जैसे रुचिकर प्रश्नपत्रों का समायोजन किया। साथ ही छात्र और महाविद्यालय की परिस्थितियों के अनुरूप मुस्लिम-दर्शन और ईसाई-दर्शन के विशिष्ट पाठ्यक्रम निर्धारित किये। एक ओर संशोधित पाठ्यक्रम और दूसरी ओर आपकी अध्यापन शैली के प्रभाव से छात्र संख्या में वृद्धि होने लगी। स्थिति यहाँ तक पहुँच गई कि बी.ए. प्रथम वर्ष में लगभग सौ से भी अधिक छात्र होने लगे और परिणामस्वरूप अध्यापन-कक्ष छोटे पड़ने लगे। अन्ततोगत्वा

महाविद्यालय के एक छोटे हाल में दर्शनशास्त्र की कक्षाएँ लगने लगीं। यह आपकी अध्यापन शैली और छात्रों के प्रति आत्मीयता का ही परिणाम था कि सम्पूर्ण मध्यप्रदेश में दर्शन शास्त्र के विद्यार्थियों की संख्या की दृष्टि से आपका महाविद्यालय सर्वोच्च स्थान पर आ गया। लगभग ३०० छात्रों को प्रतिदिन पाँच-पाँच पीरियड पढ़ाकर महाविद्यालय के कर्तव्यनिष्ठ अध्यापकों में आपने अपना स्थान बना लिया। महाविद्यालय में प्रवेश समिति, टाइम-टेबल समिति, छात्र परिषद तथा परीक्षा सम्बन्धी गतिविधियों से भी आप शीघ्र ही जुड़ गये और इस सम्बन्ध में प्राचार्य के द्वारा दिये गये दायित्वों का प्रामाणिकता के साथ निर्वाह किया। मात्र यही नहीं, समाजशास्त्र और मनोविज्ञान विषयों के प्रारम्भ होने पर आपने उनकी कक्षाओं में भी अध्यापन किया। इस प्रकार एक प्रबुद्ध और कर्तव्यनिष्ठ अध्यापक के रूप में आपकी छवि उभर कर सामने आई। आपने दर्शनशास्त्र में अन्य अध्यापकों के पदों के सृजन और दर्शनशास्त्र के स्नातकोत्तर अध्ययन प्रारम्भ किये जाने के लिए भी प्रयत्न प्रारम्भ किये और इसमें आपको सफलता भी मिली। आपको श्री प्रमोद कोयल जैसा योग्य साथी मिल गया। स्नातकोत्तर कक्षाओं के खोलने के सम्बन्ध में भी शासन सहमत हो गया, किन्तु इसी बीच आपको प्रतिनियुक्ति पर पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान में निदेशक बनकर बनारस आना पड़ा। फिर भी आपकी एवं आपके साथी प्रमोद कोयल की पहल असफल नहीं रही और शासन ने हमीदिया महाविद्यालय में स्नातकोत्तर कक्षाएँ प्रारम्भ करने का निर्देश दे ही दिया।

भोपाल में दर्शनशास्त्र अध्ययन समिति के अध्यक्ष होने के नाते आपको प्रो. चन्दधर शर्मा, प्रो. एस.एस. बारलिंगे जैसे सुप्रसिद्ध दार्शनिकों के आतिथ्य का सौभाग्य प्राप्त हुआ। इस अवधि में २५००वीं महावीर निर्वाण शताब्दी के प्रसंग पर रायपुर, उज्जैन, इन्दौर, पूना और उदयपुर के विश्वविद्यालयों द्वारा व्याख्यान एवं संगोष्ठियों में भाग लेने हेतु आप आमन्त्रित किये गये। जब आप भोपाल में ही थे तब दर्शनशास्त्र के पुनश्चर्या पाठ्यक्रम हेतु एक माह के लिए आप पूना विश्वविद्यालय गये। वहाँ प्रो. एस.एस. बारलिंगे के द्वारा दर्शनशास्त्र विभाग में एक जैन चेयर स्थापित करने के प्रयासों में आप भी सहयोगी बने। पूना के जैन समाज के अग्रगण्यों, विशेष रूप से श्री नवलमल जी फिरोदिया के सहयोग से वहाँ जैन चेयर की स्थापना भी हुई। फिरोदिया जी और प्रो. बारलिंगे की हार्दिक इच्छा थी कि आप पूना की जैन चेयर को सम्भाले, किन्तु

नियति को कुछ और ही मंजूर था। पं. दलसुखभाई मालवणिया का आदेश था कि आप पार्श्वनाथ विद्याश्रम की चरमराती हुई स्थिति को सम्हालने के लिए वाराणसी जायें। आपके सामने एक कठिन समस्या थी, एक ओर स्थायित्वपूर्ण शासकीय सेवा तथा घर-परिवार और अपने लोगों के निकट रहने का सुख, तो दूसरी ओर घर-परिवार से दूर एक चरमराती हुई जैन विद्या संस्था को सम्हालने का प्रश्न। उस समय पार्श्वनाथ विद्याश्रम की प्रतिष्ठा तो थी, किन्तु उसकी आर्थिक स्थिति ड़ाँवा-डोल थी। अतः कोई भी वहाँ रहना नहीं चाहता था। फिर भी एक जैन विद्या संस्थान के उद्धार का निश्चय लेकर आपने तत्कालीन संचालन समिति के अध्यक्ष श्री शादीलालजी जैन एवं कोषाध्यक्ष गुलाबचन्द्रजी जैन को आश्वासन दिया कि यदि आप लोग मेरी प्रति नियुक्ति का आदेश म.प्र. शासन से निकलवा सकें और संस्थान की अर्थ-व्यवस्था के सुधार हेतु प्रयत्न करें तो मैं विद्याश्रम आ जाऊंगा। तत्कालीन बंगाल के उपमुख्य मंत्री विजयसिंह नाहर के प्रयत्नों से आपकी प्रतिनियुक्ति के आदेश निकले और आपने 1979 में पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान में निदेशक का कार्यभार ग्रहण का लिया।

विद्यानगरी काशी में

आपके काशी आगमन से संस्थान को एक नव जीवन मिला और आपने अपने श्रम से विद्याश्रम को एक नये कीर्तिमान पर लाकर खड़ा कर दिया।

पार्श्वनाथ विद्याश्रम में आपके आगमन ने जहाँ एक ओर विद्याश्रम की प्रगति को नवीन गति दी, वहीं दूसरी ओर आपको अपने अध्ययन के क्षेत्र में भी नवीन दिशाएँ मिली। विद्याश्रम को काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के प्राचीन भारतीय संस्कृति और इतिहास विभाग, कला इतिहास विभाग, हिन्दी विभाग, दर्शन विभाग, संस्कृत और पालि विभाग आदि में शोध छात्रों के पंजीयन की सुविधा मिली हुई है, अतः आपको इन विविध विषयों के शोध छात्र उपलब्ध हुए। शोध-छात्रों के मार्ग-दर्शन हेतु यह आवश्यक था कि निर्देशक स्वयं भी उन विषयों से परिचित हो, अतः आपने जैनधर्म-दर्शन के अलावा जैन कला, पुरातत्त्व और इतिहास का भी अध्ययन किया। प्रामाणिक शोधकार्य के लिए द्वितीय श्रेणी के ग्रन्थों से काम नहीं चलता है, मूल ग्रन्थों का अध्ययन आवश्यक होता है। आपने शोध छात्रों एवं जिज्ञासु विदेशी छात्रों के हेतु मूल ग्रन्थों के अध्ययन की

आवश्यकता का अनुभव किया। अतः आपने परम्परागत शैली से और आधुनिक शैली से मूल ग्रन्थों का अध्ययन किया और करवाया। मूल ग्रन्थों में आगमों के साथ-साथ विशेषावश्यकभाष्य, सन्मतितर्क, आप्तमीमांसा, जैन तर्कभाषा, प्रमाणमीमांसा, न्यायावतार (सिद्ध ऋषि की टीका सहित), सप्तभंगीतरंगिणी आदि जटिल दार्शनिक ग्रन्थों का भी सहज और सरल शैली में अध्यापन किया। आपके सान्निध्य में ज्योतिषाचार्य जयप्रभवविजयजी, मुनि हितेशविजयजी, मुनिश्री ललितप्रभसागरजी, मुनिश्री चन्द्रप्रभसागरजी, श्री अशोकमुनिजी, साध्वी श्री सुदर्शनाश्री जी, साध्वी प्रियदर्शनाश्री जी, साध्वीश्री सुमतिबाई स्वामी और उनकी शिष्यायें, साध्वीश्री प्राणकुंवरबाई स्वामी एवं उनकी शिष्याएँ, साध्वीश्री प्रमोदकुंवरजी, साध्वीश्री पुष्पकुंवर जी और उनकी शिष्याएँ, साध्वीश्री शिलापीजी, मुमुक्षु-बहन मंगलम् आदि अनेक साधु-साध्वियों एवं वैरागी भाई-बहनों ने आगमों के साथ-साथ इन दार्शनिक ग्रन्थों का अध्ययन किया। विविध साधु-साध्वियों के अध्यापन के साथ-साथ आप काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में भी जाकर जैनधर्म-दर्शन सम्बन्धी प्रश्नपत्रों का अध्यापन कार्य करते रहे हैं। अनेक विदेशी छात्र भी अध्ययन एवं अपने शोध कार्यों में सहयोग हेतु आपके पास आते रहते हैं। एक पोलिश प्राध्यापक ने आपके साथ तत्त्वार्थ-भाष्य का अध्ययन किया।

विद्याश्रम में आपको श्रमण के संपादन एवं प्रूफ रीडिंग के साथ-साथ अपने शोध छात्रों द्वारा लिखे निबन्धों तथा विविध शीर्षस्थ विद्वानों के ग्रन्थों के संपादन, प्रकाशन और प्रूफरीडिंग का कार्य करना पड़ा। इसका सबसे बड़ा लाभ आपको यह हुआ कि जैनधर्म, दर्शन, साहित्य, कला, इतिहास आदि की विविध विधाओं में आपकी गहरी पैठ हो गयी।

प्रतिष्ठा और पुरस्कार

हमीदिया महाविद्यालय, भोपाल में कार्य करते समय भी आपको राष्ट्रीय स्तर की अनेक संगोष्ठियों और कान्फ्रेंसों में जाने का अवसर मिला। जहाँ आपने अपने विद्वत्पूर्ण आलेखों एवं सौजन्यपूर्ण व्यवहार से दर्शन एवं जैन विद्या के शीर्षस्थ विद्वानों में अपना स्थान बना लिया। जब आप भोपाल में थे, तभी प्रो. बारलिंगे के विशेष आग्रह पर आपको न केवल दर्शन परिषद के कोषाध्यक्ष का भार सम्भालना पड़ा, अपितु दार्शनिक त्रैमासिक के प्रबन्ध संपादक का

दायित्व भी ग्रहण करना पड़ा था, जिसका निर्वाह वाराणसी आने के पश्चात् भी सन् 1986 तक करते रहे। सम्प्रति भी आप अ.भा. दर्शन परिषद के वरिष्ठ उपाध्यक्ष हैं।

हमीदिया महाविद्यालय के दर्शन विभागाध्यक्ष एवं पार्श्वनाथ विद्याश्रम के निदेशक के रूप में कार्य करते हुए आपकी प्रतिभा को सम्मान के अनेक अवसर उपलब्ध हुए। न केवल आपके अनेक आलेख पुरस्कृत हुए, अपितु आपके शोध-ग्रन्थ जैन, बौद्ध और गीता के आचारों का तुलनात्मक अध्ययन, भाग-1 एवं भाग-2 को प्रदीपकुमार रामपुरिया पुरस्कार से तथा जैन भाषादर्शन को स्वामी प्रणवानन्द दर्शन पुरस्कार से सम्मानित किया गया।

डॉ. सागरमल जैन, पार्श्वनाथ शोधपीठ, वाराणसी के निदेशक तो हैं ही, उसके साथ-साथ वे जैन विद्या की अनेक संस्थाओं से भी जुड़े हुए हैं। वे आगम अहिंसा समता और प्राकृत संस्थान, उदयपुर के भी मानद निदेशक हैं। जहाँ आपके मार्ग दर्शन में प्रकीर्णक साहित्य के अनुवाद का कार्य चल रहा है। अब तक पाँच प्रकीर्णक प्रकाशित हो चुके हैं। अ.भा. जैन विद्वत् परिषद के तो आप संस्थापक रहे हैं, वर्षों तक आप इसके उपाध्यक्ष भी रहे हैं। राष्ट्रीय मानव संस्कृति शोध संस्थान, वाराणसी के आप उपाध्यक्ष हैं। जैन विद्या के क्षेत्र में जब और जहाँ कहीं भी कोई योजना बनती है, मार्ग निर्देशन हेतु आपका स्मरण अवश्य किया जाता है। वस्तुतः आप विद्वान् तो हैं ही, किन्तु एक सामाजिक कार्यकर्ता भी हैं। आपके द्वारा राष्ट्रीय स्तर की अनेक कान्फ्रेंसों और संगोष्ठियों का सफलतापूर्वक आयोजन हुआ है।

देश-विदेश की यात्रा

देश के विभिन्न विश्वविद्यालयों और जैन संस्थाओं ने आपके व्याख्यानो का आयोजन किया। बम्बई, कलकत्ता, मद्रास, अहमदाबाद, पाटण, उदयपुर, जोधपुर, दिल्ली, उज्जैन, इन्दौर आदि अनेक नगरों में आपके व्याख्यान आयोजित किये जाते रहें हैं। साथ ही आप विभिन्न विश्वविद्यालयों में विषय-विशेषज्ञ के रूप में भी आमन्त्रित किये जाते हैं। यही नहीं आपको एसोशियेशन आफ वर्ल्ड रिलीजन्स 1985 में तथा पार्लियामेन्ट आफ वर्ल्ड रिलीजन्स 1993 में जैनधर्म के प्रतिनिधि वक्ता के रूप में अमेरिका में आमन्त्रित किया गया। पार्लियामेन्ट आफ वर्ल्ड रिलीजन्स के अवसर पर न केवल आपने वहाँ अपना निबन्ध प्रस्तुत किया अपितु अमेरिका के विभिन्न नगरों --

शिकागो, न्यूयार्क, राले, वाशिंगटन, सेनफ्रांसिस्को, लासएन्जिल्स, फिनिक्स आदि में जैनधर्म के विविध पक्षों पर व्याख्यान भी दिये। इस प्रकार जैनधर्म-दर्शन और साहित्य के अधिकृत विद्वान् के रूप में आपका यश देश एवं विदेश में प्रसारित हुआ।

सत्यनिष्ठा

विद्याश्रम में कार्यरत रहते हुए आपने अनेक ग्रन्थों, लघु पुस्तिकाओं और निबन्धों के माध्यम से भारती के भण्डार को समृद्ध किया है। अपने कार्यकाल में लगभग 50 से अधिक ग्रन्थों में लगभग तीस हजार पृष्ठों की सामग्री को संपादित एवं प्रकाशित करके नया कीर्तिमान स्थापित किया है। आपके चिन्तन और लेखन की विशेषता यह है कि आप सदैव साम्प्रदायिक अभिनिवेशों से मुक्त होकर लिखते हैं। आपकी "जैन एकता" नामक पुस्तिका न केवल पुरस्कृत हुई अपितु विद्वानों में समादृत भी हुई। बौद्धिक ईमानदारी एवं सत्यान्वेषण की अनाग्रही शैली आपने पं. सुखलालजी संघवी और पं. दलसुखभाई मालवणिया के लेखन से सीखी। यद्यपि सम्प्रदाय मुक्त होकर सत्यान्वेषण के तथ्यों का प्रकाशन धर्ममीरू और आग्रहशील समाज को सीधा गले नहीं उतरता, किन्तु कौन प्रशंसा करता है और कौन आलोचना, इसकी परवाह किये वगैर आपने सदैव सत्य को उद्घाटित करने का प्रयत्न किया है। उसके परिणामस्वरूप तटस्थ चिन्तकों, विद्वानों और साम्प्रदायिक अभिनिवेशों से मुक्त सामाजिक कार्यकर्त्ताओं में आपके लेखन ने पर्याप्त प्रशंसा अर्जित की।

आज यह कल्पना भी दुष्कर लगती है कि एक बालक जो 15-16 वर्ष की वय में ही व्यावसायिक और पारिवारिक दायित्वों के बोझ से दब सा गया था, अपनी प्रतिभा के बल पर विद्या के क्षेत्र में अपना प्रभुत्व स्थापित कर लेगा। आज देश में जैन विद्या के जो गिने-चुने शीर्षस्थ विद्वान् हैं, उनमें अपना स्थान बना लेना यह डॉ. सागरमल जैन जैसे अध्येवसायी श्रमनिष्ठ और प्रतिभाशाली व्यक्ति की ही क्षमता है। यद्यपि वे आज भी ऐसा नहीं मानते हैं कि यह सब उनकी प्रतिभा एवं अध्येवसायिता का परिणाम है। उनकी दृष्टि में यह सब मात्र संयोग है। वे कहते हैं "जैन विद्या के क्षेत्र में विद्वानों का अकाल ही एक मात्र ऐसा कारण है, जिससे मुझ जैसा अल्पज्ञ भी सम्मान और प्रतिष्ठा प्राप्त कर लेता है।" किन्तु हमारी दृष्टि में यह केवल उनकी विनम्रता का परिचायक है।

आप अपनी सफलता का सूत्र यह बताते हैं कि किसी भी कार्य को छोटा

मत समझो और जिस समय जो भी कार्य उपस्थित हो पूरी प्रामाणिकता के साथ उसे पूरा करने का प्रयत्न करो।

आपके व्यक्तित्व के निर्माण में अनेक लोगों का महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है। पूज्य बाबाजी पूर्णमल जी म.सा. और इन्द्रमल जी म.सा. ने आपके जीवनमें धार्मिक-ज्ञान और संस्कारों के बीज का वपन किया था। पूज्य साध्वीश्री पानकुंवर जी म.सा. को तो आप अपनी संस्कारदायिनी माता ही मानते हैं। आपने डॉ. सी.पी. ब्रह्मों के जीवन से एक अध्यापक में दायित्वबोध एवं शिष्य के प्रति अनुग्रह की भावना कैसी होनी चाहिये, यह सीखा है। पं. सुखलालजी और पं. दलसुखभाई को आप अपना द्रोणाचार्य मानते हैं, जिनसे प्रत्यक्ष में कुछ नहीं सीखा, किन्तु परोक्ष में जो कुछ आप में है, वह सब उन्हीं का दिया हुआ मानते हैं। आपकी चिन्तन और प्रस्तुतीकरण की शैली बहुत कुछ उनसे प्रभावित है। आपने अपने पूज्य पिताजी से व्यावसायिक प्रामाणिकता और स्पष्टवादिता को सीखा यद्यपि आप कहते हैं कि स्पष्टवादिता का जितना साहस पिताजी में था, उतना आज भी मुझमें नहीं है। पत्नी आपके जीवन का यथार्थ है। आप कहते हैं कि यदि उससे यथार्थ को समझने और जीने की दृष्टि न मिली होती तो मेरे आदर्श भी शायद यथार्थ नहीं बन पाते। सेवा और सहयोग के साथ जीवन के कटुसत्यों को भोगने में जो साहस उसने दिलाया वह उसका सबसे बड़ा योगदान है। आप कहते हैं कि शिष्यों में श्यामनन्दन झा और डॉ. अरुणप्रताप सिंह ने जो निष्ठा एवं समर्पण दिया, वही ऐसा सम्बल है, जिसके कारण शिष्यों के प्रत्युपकार की वृत्ति मुझसे जीवित रह सकी, अन्यथा वर्तमान परिवेश में वह समाप्त हो गई होती। मित्रों में भाई माणकचन्द्र के उपकार का भी आप सदैव स्मरण करते हैं। आप कहते हैं कि उसने अध्ययन के द्वार को पुनः उद्घाटित किया था। समाज सेवा के क्षेत्र में भाई मनोहरलाल और श्री सौभाग्यमलजी जैन वकील सा. आपके सहयोगी एवं मार्गदर्शक रहे हैं। आप यह मानते हैं कि "मैं जो कुछ भी हूँ वह पूरे समाज की कृति हूँ, उसके पीछे अनगिनत हाथ रहे हैं। मैं किन-किन का स्मरण करूँ अनेक तो ऐसे भी होंगे जिन की स्मृति भी आज शेष नहीं है।"

वस्तुतः व्यक्ति अपने आप में कुछ नहीं है, वह देश, काल, परिस्थिति और समाज की निर्मिति है, जो इन सबके अवदान को स्वीकार कर उनके प्रत्युपकार की भावना रखता है, वह महान् बन जाता है चिर, जीवी हो जाता है। अन्यथा अपने ही स्वार्थ एवं अहं में सिमटकर समाप्त हो जाता है।

ग्रन्थ-प्रणयन

- | क्रमांक | पुस्तक का नाम | प्रकाशक |
|---------|---|--|
| 1. | जैन, बौद्ध और गीता के आचार दर्शनों का तुलनात्मक अध्ययन, भाग -1 | राजस्थान प्राकृत भारती संस्थान, जयपुर 1982 |
| 2. | जैन, बौद्ध और गीता के आचार दर्शनों का तुलनात्मक अध्ययन, भाग -2 | राजस्थान प्राकृत भारती संस्थान, जयपुर 1982 |
| 3. | जैन, बौद्ध और गीता का समाज दर्शन | राजस्थान प्राकृत भारती संस्थान, जयपुर 1982 |
| 4. | जैन, बौद्ध और गीता का साधना मार्ग | राजस्थान प्राकृत भारती संस्थान, जयपुर 1982 |
| 5. | जैनकर्म सिद्धान्त का तुलनात्मक अध्ययन | राजस्थान प्राकृत भारती संस्थान, जयपुर 1982 |
| 6. | धर्म का भ्रम | पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान, वाराणसी 1986 |
| 7. | अर्हत् पार्श्व और उनकी परम्परा | पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान, वाराणसी 1988 |
| 8. | ऋषिभाषित : एक अध्ययन | राजस्थान प्राकृत भारती संस्थान, जयपुर 1988 |
| 9. | जैन भाषा दर्शन | भोगीलाल ल्हैरचन्द भारतीय संस्कृति मन्दिर, दिल्ली-पाटण 1986 |
| 10. | जैनधर्म का एक विलुप्त सम्प्रदाय : यापनीय | पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान, वाराणसी, 1994 |
| 11. | तत्त्वार्थसूत्र और उसकी परम्परा | पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान, वाराणसी 1994 |
| 12. | अमेकान्त, स्याद्वाद और सप्तभोगी | पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान, वाराणसी 1990 |
| 13. | Doctoral Dissertations in Jainism and Buddhism
(With Dr. A.P. Singh) | पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान, 1983 |

पुस्तिकाएँ

1. अनेकान्त की जीवन दृष्टि (श्री सौभाग्यमल जी जैन के साथ) भारत जैन महामण्डल, बम्बई, 1975
2. अहिंसा की सम्भावनायें पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान, वाराणसी, 1980
3. जैन साहित्य और शिल्प में बाहुबली (डॉ. मारुतिनन्दन प्रसाद तिवारी के साथ) पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान, वाराणसी, 1981
4. पर्युषण पर्व : एक विवेचन पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान, वाराणसी, 1983
5. जैन एकता का प्रश्न पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान, वाराणसी, 1983
6. जैन अष्ट्यात्स्वाद : आधुनिक सन्दर्भ में पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान, वाराणसी, 1983
7. श्रावक धर्म की प्रासंगिकता का प्रश्न पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान, वाराणसी, 1983
8. धार्मिक सहिष्णुता और जैनधर्म पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान, वाराणसी, 1985
9. भारतीय संस्कृति में हरिभद्र का अवदान पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान, वाराणसी, 1987
10. जैन साधना पद्धति में तप सन्मति ज्ञानपीठ, आगरा, 1981

अनूदित-ग्रन्थ

हिन्दी अनुवाद (अप्रकाशित)

1. History of Ethics, Sidzwick

1. चरणकरणाणुयोग, द्वितीय खण्ड की विस्तृत भूमिका

2. जैन तीर्थों का ऐतिहासिक अध्ययन

3. प्रमुख जैन साधवियों और महिलाएँ

4. स्याद्वाद और सप्तभंगी

5. इसिभासियाई

6. चन्द्रकेयक-प्रकीर्णक

7. महाप्रत्याख्यान प्रकीर्णक

8. तंदुल वैचारिक प्रकीर्णक

9. देवेन्द्रस्तव प्रकीर्णक

10. द्वीपसागर प्रज्ञप्ति प्रकीर्णक

11. Lord Mahavira

12. जिनवाणी के मोती

आगम अनुयोग प्रकाशन ट्रस्ट, अहमदाबाद
 पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान, वाराणसी
 पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान, वाराणसी
 पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान, वाराणसी
 पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान, वाराणसी
 आगम अहिंसा समता एवं प्राकृत संस्थान, उदयपुर,
 भूमिका डॉ. सागरमल एवं सुरेश सिंसोदिया
 आगम अहिंसा समता एवं प्राकृत संस्थान, उदयपुर
 भूमिका डॉ. सागरमल एवं सुरेश सिंसोदिया
 आगम अहिंसा समता एवं प्राकृत संस्थान, उदयपुर
 भूमिका डॉ. सागरमल जैन एवं सुभाष कोठारी
 आगम अहिंसा समता एवं प्राकृत संस्थान, उदयपुर
 भूमिका डॉ. सागरमल जैन एवं सुभाष कोठारी
 आगम अहिंसा समता एवं प्राकृत संस्थान, उदयपुर
 भूमिका डॉ. सागरमल जैन एवं सुरेश सिंसोदिया
 पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान, वाराणसी
 जैन विद्या अनुसंधान प्रतिष्ठान, मद्रास

ग्रन्थ - सम्पादन

ग्रन्थ

1. रत्न ज्योति
2. चिन्तन के नये आयाम
3. जैन साहित्य का बृहत् इतिहास, भाग-7
4. हिन्दी जैन साहित्य का बृहत् इतिहास, भाग-1
5. हिन्दी जैन साहित्य का बृहत् इतिहास, भाग-2
6. जैन योग का आलोचनात्मक अध्ययन
7. आनन्दधन का रहस्यवाद
8. प्राकृत दीपिका
9. जैन दर्शन में आत्म विचार
10. जैनाचार्यों का अलंकारशास्त्र में योगदान
11. खजुराहों की जैन मन्दिरों की मूर्तिकला
12. वज्जालगम
13. जैन और बौद्ध भिक्षुणी संघ
14. आचारंग सूत्र : एक अध्ययन
15. मूलाचार का समीक्षात्मक अध्ययन
16. तीर्थंकर, बुद्ध और अक्बार
17. स्यादवाद और सप्तमंगीनय

लेखक/सम्पादक

- सम्पादक डॉ. सागरमल जैन
 श्री सौभाग्यमल जैन
 प. कें. भुजबलीशास्त्री : विद्याधर जोहरापुरकर
 डॉ. शितिकेठ मिश्र
 डॉ. शितिकेठ मिश्र
 डॉ. अर्हददास बाडोवा दिगे
 साध्वी श्री सुदर्शनाजी
 डॉ. सुदर्शनलाल जैन
 डॉ. लालचन्द जैन
 डॉ. कमलेशकुमार जैन
 डॉ. रत्नेशकुमार वर्मा
 श्री विश्वनाथ पाठक
 डॉ. अरुणप्रताप सिंह
 डॉ. परमेशदीवास जैन
 डॉ. फूलचन्द जैन (प्रेमी)
 डॉ. रमेशचन्द्र गुप्त
 डॉ. भिखारीराम यादव

प्रकाशक

- श्री स्थानकवासी जैन समाज, शाजापुर, 1971
 अ. भा. स्था. जैन कान्फरन्स, देहली
 पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान, वाराणसी, 1981
 पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान, वाराणसी, 1989
 पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान, वाराणसी, 1992
 पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान, वाराणसी, 1981
 पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान, वाराणसी, 1983
 पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान, वाराणसी, 1983
 पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान, वाराणसी, 1984
 पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान, वाराणसी, 1984
 पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान, वाराणसी, 1984
 पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान, वाराणसी, 1984
 पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान, वाराणसी, 1986
 पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान, वाराणसी, 1987
 पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान, वाराणसी, 1987
 पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान, वाराणसी, 1988
 पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान, वाराणसी, 1989

18. सम्बोध सप्ततिका
 19. प्राचीन जैन साहित्य में आर्थिक जीवन
 20. जैन साहित्य के विविध आयाम-1
 21. जैन साहित्य के विविध आयाम-2
 22. जैन साहित्य के विविध आयाम-3
 23. गणधारी जिनचन्द्रसूरि काव्याञ्जलि
 24. जैनधर्म की प्रमुख साधिकाएँ एवं महिलाएँ
 25. जैन तीर्थों का ऐतिहासिक अध्ययन
 26. मध्यकालीन राजस्थान में जैनधर्म
 27. मानव जीवन और उसके मूल्य
 28. जैन मेघदूतम्
 29. जैनधर्म सिद्धान्त का उद्भव एवं विकास
 30. Theory of Reality in Jaina Philosophy
 31. Concept of Matter in Jaina Philosophy
 32. Jaina Epistemology
 33. The Concept of Pancasila in Indian Thought
 34. The Path of Arhat
 35. Jaina Perspectives in Philosophy & Religion
 36. Aspects of Jainology Vol. I
 37. Aspects of Jainology Vol. II
- डॉ. रविशंकर मिश्र,
 डॉ. कमलप्रभा जैन,
 सम्पादक डॉ. सागरमल जैन,
 सम्पादक डॉ. सागरमल जैन,
 सम्पादक डॉ. सागरमल जैन,
 सम्पादक डॉ. सागरमल जैन,
 एवं डॉ. हरिहर सिंह
 डॉ. हीराबाई,
 डॉ. शिवप्रसाद,
 डॉ. (श्रीमती) राजेश जैन,
 श्री जगदीश सहाय,
 डॉ. रविशंकर मिश्र,
 डॉ. रवीन्द्रनाथ मिश्र,
 Dr. J. C. Sikdar,
 Dr. J. C. Sikdar
 Dr. Indra Chand Sastri,
 Dr. Kamal Jain,
 T. U. Mehta,
 Dr. Ramjee Singh,
 Dr. Sagarmal Jain,
 Dr. Sagarmal Jain & M. A. Dhaky,
- पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान, वाराणसी, 1986
 पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान, वाराणसी, 1988
 पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान, वाराणसी, 1981
 पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान, वाराणसी, 1990
 पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान, वाराणसी, 1990
 पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान, वाराणसी, 1981
 पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान, वाराणसी, 1991
 पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान, वाराणसी, 1991
 पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान, वाराणसी, 1992
 पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान, वाराणसी, 1990
 पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान, वाराणसी, 1989
 पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान, वाराणसी, 1993
 पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान, वाराणसी, 1991
 पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान, वाराणसी, 1987
 पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान, वाराणसी, 1990
 पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान, वाराणसी, 1983
 पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान, वाराणसी, 1993
 पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान, वाराणसी, 1993
 पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान, वाराणसी, 1987
 पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान, वाराणसी, 1987

38. Aspects of Jainology Vol. III
 39. Aspects of Jainology Vol IV
 40. Samana Suttam [English Translation]
41. महाप्रत्याख्यान प्रकीर्णक
 42. चन्द्रवेद्यक प्रकीर्णक
 43. तंदुलवैद्यारिक प्रकीर्णक
 44. प्राकृत भारती
 45. देवेन्द्रस्तव
 46. द्वीप सागर प्रज्ञप्ति
 47. उपासकदशांग में वर्णित श्रावकाचार
 48. जैनधर्म के सम्प्रदाय
- Dr. Sagarmal Jain & M. A. Dhaky
 Dr. Sagarmal Jain & Dr. A. K. Singh
 Justice T. K. Tukol & Dr. K. K. Dixit
 सुरेश सिंसोदिया
 सुरेश सिंसोदिया
 डॉ. सुभाष कोठारी
 डॉ. प्रेम सुमन जैन, डा. सुभाष कोठारी,
 डॉ. सुभाष कोठारी,
 डॉ. सुरेश सिंसोदिया,
 डॉ. सुभाष कोठारी,
 डॉ. सुरेश सिंसोदिया,
- पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान, वाराणसी, 1991
 पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान, वाराणसी, 1993
 Sarvasēva Sangh Prakashan, Vns. 1993
 आगम अहिंसा समता एवं प्राकृत संस्थान, उदयपुर, 1991
 आगम अहिंसा समता एवं प्राकृत संस्थान, उदयपुर, 1991
 आगम अहिंसा समता एवं प्राकृत संस्थान, उदयपुर, 1991
 आगम अहिंसा समता एवं प्राकृत संस्थान, उदयपुर, 1991
 आगम अहिंसा समता एवं प्राकृत संस्थान, उदयपुर, 1987
 आगम अहिंसा समता एवं प्राकृत संस्थान, उदयपुर, 1987
 आगम अहिंसा समता एवं प्राकृत संस्थान, उदयपुर, 1987
 आगम अहिंसा समता एवं प्राकृत संस्थान, उदयपुर, 1994

शोध-छात्र

1. डॉ. मिश्वारीराम यादव
 2. डॉ. अरुणप्रताप सिंह
 3. डॉ. रविशंकर मिश्र
 4. महो. चन्द्रप्रभसागर
 5. डॉ. रवीन्द्रनाथ मिश्र
 6. डॉ. रमेशचन्द्र गुप्त
 7. डॉ. कमलप्रभा जैन
 8. डॉ. महेन्द्रनाथ सिंह
 9. डॉ. त्रिवेणीप्रसाद सिंह
 10. श्री उमेशचन्द्र सिंह
 11. डॉ. रज्जुकुमार
 12. डॉ. (श्रीमती) रीता सिंह
 13. डॉ. इन्द्रेशचन्द्र सिंह
 14. डॉ. श्रीनारायण दूबे
 15. डॉ. (श्रीमती) संगीता झा
 17. डॉ. धनंजय मिश्र
 18. डॉ. (श्रीमती) गीता सिंह
 19. डॉ. (श्रीमती) अर्चना पाण्डेय
 20. डॉ. (श्रीमती) मञ्जुला भट्टाचार्या
- जैन तर्कशास्त्र के सप्तभांगीय की आधुनिक व्याख्या, 1983
जैन और बौद्ध भिक्षुणी संघ का उद्भव, विकास एवं स्थिति, 1983
महाकावि कालिदासकृत मेघदूत और जैन कावि मेरुतुङ्गाकृत जैनमेघदूत का साहित्यिक अध्ययन, 1983
समय सुन्दर : व्यक्तित्व एवं कृतित्व 1986
जैन कर्म सिद्धान्त का ऐतिहासिक विश्लेषण, 1986
तीर्थंकर, बुद्ध और अवतार की अवधारणाओं का तुलनात्मक अध्ययन, 1986
प्राचीन जैन साहित्य में वर्णित आर्थिक जीवन : एक अध्ययन, 1986
उत्तराध्ययन और धम्मपद का तुलनात्मक अध्ययन, 1986
जैनदर्शन के परिप्रेक्ष्य में मानव व्यक्तित्व का वर्गीकरण, 1987
जैन आगम साहित्य में शिक्षा, समाज एवं अर्थव्यवस्था 1987
जैनधर्म में समाधिमरण की अवधारणा, 1987
प्राकृत और जैन संस्कृत साहित्य में कृष्ण कथा, 1989
जैन साहित्य में वर्णित सैन्यविज्ञान एवं युद्धकला, 1990
जैन अभिलेखों का सांस्कृतिक अध्ययन, 1990
धर्म और दर्शन के क्षेत्र में आचार्य हरिभद्र का अवदान, 1990
हरिभद्र का योग के क्षेत्र में योगदान, 1991
औपनिषदिक साहित्य में श्रमण परम्परा के तत्त्व, 1991
भाषा दर्शन को जैन दार्शनिकों का योगदान, 1991
जैन दार्शनिक ग्रन्थों में ईश्वर कर्तृत्व की समालोचना, 1992

21. डॉ. रवीन्द्रकुमार
22. डॉ. के. वी. एस. पी. बी. आचार्यलु
23. डॉ. जितेन्द्र बी. शाह

अनौपचारिक मार्ग-निर्देशन

24. डॉ. श्यामनन्दन झा
25. साध्वीश्री प्रियदर्शना श्री जी
26. साध्वीश्री सुदर्शना श्री जी
27. साध्वीश्री प्रमोद कुमारी जी

शीलदूत और संस्कृत दूतकाव्यों का तुलनात्मक अध्ययन, 1992
 वैखानस जैन योग का तुलनात्मक अध्ययन, 1992
 नयचक्र का दार्शनिक अध्ययन, 1992

कुन्दकुन्द और शंकर के दर्शनों का तुलनात्मक अध्ययन, 1973
 आनन्दघन का रहस्यवाद, 1982
 आचार्यसूत्र का नैतिक दर्शन, 1982
 इसिभासिवाहं सूत्र का दार्शनिक अध्ययन, 1991

कार्यरत शोध छात्र

1. श्रीमती शुभा तिवारी
 2. श्री विरेन्द्र नारायण तिवारी
 3. श्री दयानन्द ओझा
 4. श्री असीमकुमार मिश्र
 5. कुमकुमराय
 6. श्री मणिनाथ मिश्र
 7. कु. बेबी
 8. श्रीमती कंचन सिंह
 9. कु. आमा
 10. हनुमानप्रसाद मिश्र
- पउमचारियं में सामाजिक चेतना : एक समीक्षात्मक अध्ययन
 प्रमुख स्मृतियाँ तथा जैनधर्म में प्रायश्चित्त विधि
 जयोदय महाकाव्य का आलोचनात्मक अध्ययन
 ऐतिहासिक अध्ययन के जैन स्रोत और उनकी प्रामाणिकता एक अध्ययन
 धर्मशान्तिन्युदय काव्य : एक अध्ययन
 जैन चम्पूकाव्यों का समीक्षात्मक अध्ययन
 सोमेश्वरदेव कृत कीर्तिकौमुदी का आलोचनात्मक अध्ययन
 पार्श्वान्युदय महाकाव्य का समीक्षात्मक अध्ययन
 आख्यानक गणिकोश का आलोचनात्मक अध्ययन
 जैन प्रायश्चित्त विधि

जीवाजी विश्वविद्यालय ग्वालियर में पंजीकृत शोध छात्र

11. श्री रणवीर सिंह भदौरिया
- गीता में प्रतिपादित विभिन्न योग

का. हि. वि. वि. एम. ए. दर्शन (अन्तिमवर्ष) की परीक्षा हेतु प्रस्तुत लघु शोध-प्रबन्धों की सूची

क्रमांक	नाम	विषय	वर्ष
1.	उदयप्रताप सिंह	जैनधर्म में समाधिमरण	1979-80
2.	अक्वधेशकुमार सिंह	द सिस्टम आव वैल्यूज इन जैन फिलॉसफी	1979-80
3.	कृष्णाकान्त कुमार	जैनधर्म के सम्प्रदाय	1980
4.	ताड़केश्वर नाथ	जैनधर्म में मोक्ष एवं मोक्षमार्ग	1980
5.	रामाश्रयसिंह यादव	जैन कर्म सिद्धान्त	1980-81
6.	सतीशचन्द्र सिंह	जैनदर्शन में प्रमाण	1980-81
7.	शिवपरसन सिंह	आचार्य कुन्दकुन्द के दर्शन में आत्मा का स्वरूप	1980-81
8.	अशोककुमार	उपासकदर्शाग के अनुसार श्रावक धर्म	1980-81
9.	वीरेन्द्रकुमार	जैनदर्शन में जीव की अकारणा	1980-81
10.	त्रिवेणीप्रसाद सिंह	रत्नकरण्डकश्रावकाचार के अनुसार गृहस्थ धर्म	1981
11.	मुकुलराज मेहता	जैनधर्म में आध्यात्मिक विकास : एक तुलनात्मक विवेचन	1981

क्रमांक	लेख का नाम	पत्रिका/अंक	वर्ष
1.	जैन दर्शन में निश्चय और व्यवहार नय	दार्शनिक	1974
2.	जैन दर्शन का त्रिविध साधना मार्ग	The Vikram/ नानकंद जी जन्म शताब्दी स्मृति ग्रन्थ	मई एवं नवम्बर 1974
3.	निश्चय और व्यवहार किसका आश्रय ले ?	आचार्य आनन्द ऋषि अभिनन्दन ग्रन्थ	1975
4.	अहिंसा : एक तुलनात्मक अध्ययन	वीर निर्वाण स्मारिका	1975
5.	अद्वैतवाद और आचार दर्शन की सम्भावना	दार्शनिक	1975
6.	भगवान महावीर का अपरिग्रह सिद्धान्त और उसकी उपादेयता	जिनवाणी,	1979
7.	जैन, बौद्ध और गीता दर्शन में मोक्ष का स्वरूप : एक तुलनात्मक अध्ययन	राजेन्द्र-ज्योति	1975-76
8.	नीति के निरपेक्ष एवं सापेक्ष तत्त्व	दार्शनिक	अप्रैल 1976
9.	महावीर के सिद्धान्त : आधुनिक सन्दर्भ में	महावीर जयन्ती स्मारिका	1976
10.	सप्तमंगी : त्रिमूल्यात्मक तर्कशास्त्र के सन्दर्भ में	महावीर जयन्ती स्मारिका	1977
11.	स्याद्धद : एक चिन्तन	महावीर जयन्ती स्मारिका	1977
12.	जैन दर्शन में नैतिकता की सापेक्षता और निरपेक्षता	मुनिद्वय अभिनन्दन ग्रन्थ	1977
13.	जैन दर्शन में मोक्ष का स्वरूप	तीर्थंकर महावीर स्मृति ग्रन्थ	1977
14.	समाधिभरण (मृत्युव्रण) : एक तुलनात्मक एवं समीक्षात्मक अध्ययन	सम्बोधि, वाल्यमू 6	1977
15.	मूल्यबोध की सापेक्षता	दार्शनिक	1977
16.	मानवतावाद और जैनाचार दर्शन	तीर्थंकर	1978
17.	भारतीय दर्शन में सामाजिक चेतना	दार्शनिक	1976
18.	नैतिक मूल्यों की परिवर्तनशीलता का प्रश्न	दार्शनिक	1978

19. जैनदर्शन में नैतिक मूल्यांकन का विषय
तुलसी प्रज्ञा/वाल्जूम 4, अंक 3
1978
20. जैन, बौद्ध और गीता के दर्शन में कर्म का
महावीर जयन्ती स्मारिका, जयपुर
1978
21. शुभत्व एवं अशुभत्व और शुद्धत्व
दार्शनिक
1978
22. जैनदर्शन के 'तेक प्रमाण' का आधुनिक सन्दर्भ में मूल्यांकन
श्री पुष्कर मुनि अभिनन्दन ग्रन्थ
1979
23. मनः शक्ति, स्वरूप और साधना : एक विश्लेषण
श्री दिवाकर स्मृति ग्रन्थ
1978
24. सदाचार के शाश्वत मानदण्ड और जैनधर्म
(500/-रूपये का प्रथम पुरस्कार प्राप्त)
श्री दिवाकर स्मृति ग्रन्थ
1978
25. जैन दर्शन में मिथ्यात्व और सम्यक्त्व
श्रमण/वर्ष 30, अंक 8,
1979
26. प्रवर्तक एवं निवर्तक धर्मों का मनोवैज्ञानिक विकास एवं
उनके दार्शनिक एवं सामाजिक प्रदेय
श्रमण/वर्ष 30, अंक 11
1979
27. जैन साधना के मनोवैज्ञानिक आधार
श्रमण/वर्ष 31, अंक 3
1980
28. अहिंसा का अर्थ विस्तार, सम्भावना और सीमा क्षेत्र
दार्शनिक
1980
29. नैतिक मानदण्ड : एक या अनेक
श्रमण
1980
30. बालकों के संस्कार निर्माण में अभिभावक,
शिक्षक व समाज की भूमिका
श्रमण/वर्ष 31, अंक 4, फरवरी 1980, श्रमण/वर्ष 34 फरवरी
1983
31. धर्म क्या है ? (क्रमशः तीन अंकों में)
श्रमण/वर्ष 31, अंक 5
1980
32. जैन धर्म में भक्ति का स्थान
श्रमण/वर्ष 31, अंक 5
1980
33. आत्मा और परमात्मा
श्रमण/वर्ष 31, अंक 6
1980
34. अध्यात्म बनाम भौतिकवाद
श्रमण/वर्ष 31, अंक 9
1980
35. संयम : जीवन का सम्यक् दृष्टिकोण
सम्बोधि/वाल्जूम 8, जुलाई 1980
36. भेद विज्ञान : भक्ति का सिंहद्वार
श्रमण/वर्ष 31, अंक 9
जुलाई 1980

37. जैन एवं बौद्ध धर्म में स्वहित और लोकोहित का प्रश्न	श्रमण/वर्ष 32, अंक 3	जानवरी	1981
39. सदाचार के मानदण्ड और जैनधर्म	श्रमण/वर्ष 32, अंक 4	फरवरी	1981
40. महावीर का दर्शन : सामाजिक परिप्रेक्ष्य में	श्रमण/वर्ष 32, अंक 6	अप्रैल	1981
41. सत्ता कितनी वाच्य कितनी अवाच्य ? जैन दर्शन के सन्दर्भ में	दार्शनिक	अप्रैल	1981
42. आधुनिक मनोविज्ञान के सन्दर्भ में आचारांग सूत्र का अध्ययन	तुलसी-प्रज्ञा/खण्ड 6, अंक 9		1981
43. महावीर के सिद्धान्त : युगीन सन्दर्भ में	श्रमण/वर्ष 33, अंक 6	अप्रैल	1982
44. पर्युषण पर्व : क्या, कब, क्यों और कैसे ?	श्रमण/वर्ष 33, अंक 10	आस्त	1982
45. असली दूकान/नकली दूकान	श्रमण/वर्ष 33, अंक 10	आस्त	1982
46. व्यक्ति और समाज	श्रमण/वर्ष 34, अंक 2	दिसम्बर	1982
47. जैन एकता का प्रश्न	श्रमण/वर्ष 34	जानवरी	1983
48. जैन साहित्याकाश का एक नक्षत्र क्लिप्त	श्रमण	फरवरी	1983
49. ज्ञान और कथन की सत्यता का प्रश्न : जैनदर्शन के परिप्रेक्ष्य में	परामर्श/अंक3,	जून	1983
50. जैन अध्यात्मवाद आधुनिक सन्दर्भ में	Vaishali Institute Research Bulletin No. 4		
51. दस लक्षण पर्व/दस लक्षण धर्म के	श्रमण/वर्ष 34, अंक 11	आस्त	1983
52. पर्युषण पर्व : एक विवेचन	श्रमण/वर्ष 35	सितम्बर	1983
53. श्रावक धर्म की प्रासंगिकता का प्रश्न	श्रमण		1984
54. भाव्य बनाम पुरुषार्थ	श्रमण/वर्ष 36, अंक 9	जुलाई	1985
55. श्वेताम्बर साहित्य में रामकथा का स्वरूप	श्रमण/वर्ष 36, अंक 12	अक्टूबर	1985
56. महावीर का जीवन दर्शन	श्रमण/वर्ष 37, अंक 6	अप्रैल	1986
57. धर्म और दर्शन के क्षेत्र में हरिभद्र का अवदान	श्रमण/वर्ष 37, अंक 12	अक्टूबर	1986

58. हरिभद्र के धर्मदर्शन में क्रांतिकारी तत्त्व
 59. हरिभद्र की क्रांतिकारी दृष्टि : धूर्ताख्यान के सन्दर्भ में
 60. हरिभद्र के धूर्ताख्यान का मूल स्रोत
 61. जैन वाक्य दर्शन
 62. जैन साहित्य में स्तूप
 63. रामभुक्त या रामभुक्त : सूत्रकृतांग के सन्दर्भ में
 64. जैन धर्म में नैतिक और धार्मिक कर्तव्यता का स्वरूप
 65. आचारंगसूत्र का विश्लेषण
 66. जैनधर्म का एक विलुप्त सम्प्रदाय : यापनीय
 67. अष्टयात्र और विज्ञान
 68. आचार्य हेमचन्द्र : एक युग पुरुष
 69. सतीप्रथा और जैनधर्म
 70. स्वाद्वद और सत्तभगी : एक विन्तन
 71. जैनधर्म में तीर्थ की अवधारणा
 72. पार्श्वनाथ जन्मभूमि मन्दिर वाराणसी का पुरातत्त्ववीय वैभव
 73. जैन परम्परा का ऐतिहासिक विश्लेषण
 74. जैनधर्म में नारी की भूमिका
 75. जैनधर्म के धार्मिक अनुष्ठान एवं कला तत्त्व
 76. समाधिभरण की अवधारणा की आधुनिक परिप्रेक्ष्य में समीक्षा
 77. उच्चैर्नागरशाखा के उत्पत्ति स्थान एवं उमास्वाति के जन्म स्थल की पहचान
- श्रमण/वर्ष 37, अंक 12
 श्रमण/वर्ष 39/अंक 4
 श्रमण/वर्ष 39/अंक 4
 Vaishali Institute Research Bulletin No. 6
 Aspects of Jainology/Vol. II
 Aspects of Jainology/Vol. II
 Aspects of Jainology/Vol. I
 श्रमण/वर्ष 39/अंक 2
 श्रमण
 श्रमण
 श्रमण
 साध्वीरल कुसुमवती अभिनन्दन ग्रन्थ
 श्रमण
 श्रमण
 श्रमण/संस्कृति संघान, वाल्यूस 3
 श्रमण
 श्रमण
 श्रमण
 श्रमण
 श्रमण
 श्रमण
- 1986
 1987
 1987
 1987
 1987
 1987
 1987
 1987
 1987
 1987
 1988
 1989
 1989
 1990
 1990
 1990
 1990
 1990
 1991
 1991
 1991
 1991
- अक्टूबर
 फरवरी
 फरवरी
 दिसम्बर
 जुलाई
 अक्टूबर
 अक्टूबर
 जनवरी-मार्च
 अप्रैल-जून
 अप्रैल-जून
 अप्रैल-जून
 अप्रैल-जून
 जुलाई-सितम्बर
 अक्टूबर-दिसम्बर
 जनवरी-मार्च
 अप्रैल-जून
 जुलाई-दिसम्बर

78. अन्तकृद्दशा की विषयवस्तु : एक पुनर्विचार	Aspects of Jainology/वाल्ज्युम 3	1991
79. मृत्यु और मृत्यु बोध की सापेक्षता का सिद्धान्त	श्रमण	1992
80. गुणस्थान सिद्धान्त का उद्भव एवं विकास	श्रमण	1992
81. श्वेताम्बर मूलसंघ एवं माथुर संघ : एक विमर्श	श्रमण	1992
82. जैनधर्म और आधुनिक विज्ञान	श्रमण	1992
83. प्रश्नव्याकरणसूत्र की प्राचीन विषयवस्तु की खोज	प्राकृत जैन विद्या विकास फण्ड	1992
84. बौद्धधर्म में सामाजिक चेतना	धर्मदूत	1994
85. भारतीय संस्कृति का समन्वित स्वरूप	श्रमण	1994
86. जैनधर्म और सामाजिक समता	श्रमण	1994
87. पर्यावरण के प्रदूषण की समस्या और जैनधर्म	अप्रैल-जून	1994
88. जैनधर्म में स्वाध्याय का अर्थ एवं स्थान	अप्रैल-जून	1994
89. जैन कर्म सिद्धान्त : एक विश्लेषण	अप्रैल-जून	1994
90. अर्धमागधी आगम साहित्य में समाधिभरण की अवधारणा	श्रमण	1994
91. ऋग्वेद में अर्हत और ऋषभवाची ऋचाएँ : एक अध्ययन	श्रमण	1994
92. नियुक्ति साहित्य : एक पुनर्निम्तन	श्रमण	1994
93. जैनधर्म-दर्शन का सार तत्त्व	श्रमण	1994
94. भगवान महावीर का जीवन और दर्शन	श्रमण	1994
95. जैनधर्म में भक्ति की अवधारणा	श्रमण	1994
96. महावीर के समकालीन विभिन्न आत्मवाद एवं उसमें जैन आत्मवाद का वैशिष्ट्य	श्रमण	1994
97. जैन साधना में ध्यान	श्रमण	1994
98. गीता में नियतिवाद और पुरुषार्थवाद की समस्या और यथार्थ जीवन-दृष्टि प्राच्यप्रतिभा, भोपाल	सुधर्मा 1966	1994

श्रमण जनवरी, 1994

99. बौद्धदर्शन और गीता के सन्दर्भ में : जैन आचार दर्शन का तुलनात्मक अध्ययन नामक शोध-प्रबन्ध की संक्षिप्तिका
100. षट्जीव-निकाय में त्रस एवं स्थावर के वर्गीकरण की समस्या
101. फ्रायड और जैनदर्शन
102. निवृत्ति और प्रवृत्ति : एक तुलनात्मक अध्ययन
103. धर्मसाधना का स्वरूप
104. प्राचीन जैनगणों में चार्वाक दर्शन का प्रस्तुतिकरण एवं समीक्षा
105. मूलाचार और उसकी परम्परा
106. जैन आगम साहित्य में श्रावस्ती
107. Jaina Concept of Peace
118. The Philosophical foundation of Religious tolerance in Jainism
119. A Search for the Possibility of Non-violence and Peace,
110. Mahaviras Theory of Samatva Yoga : A Psycho-analytical Approach,
111. The Concept of Vibhajjavada in Buddhism and Jainism,
112. The Relevance of Jainism in Present World
113. The Ethics of Jainism and Swaminarayan : A Comparative Study
114. Religious Harmony and Fellowship of Faiths : A Jain Perspective
115. Prof. K.S. Murty's Philosophy of Peace and non-Violence
116. Equanimity and Meditation
117. The Teaching of Arhat Parsva and the Distinctness of his Sect
118. The Solutions of World Problems from Jaina Perspective
119. Jaina Sadhana and Yoga

तुलसी-प्रज्ञा, 5

श्रमण, अप्रैल-जून 1993

तीर्थंकर

श्रमणोपासक

अप्रकाशित

अप्रकाशित

अप्रकाशित

अप्रकाशित

Chokhamba, Centenary Commemoration Volum

Aspect of Jainology, Vol.1

Jain Journal Vol.25/No.3

Jain Journal Vol.9/No.3

Jain Journal Vol.19/No.3

Jain Journal, Vol.22/No.1

New Dimensions in Vedant Philosophy

Being Published

Being Published

Being Published

Being Published

Being Published

Being Published

सागर जैन-विद्या भारती

भाग-१

[प्रो. सागरमल जैन के शोध लेखों का संकलन]

जैनधर्म-दर्शन का सारतत्त्व*

- प्रो. सागरमल जैन

जैनधर्म का उद्भव और विकास

जिन के द्वारा प्रवर्तितधर्म जैनधर्म कहा जाता है और जो अपनी इन्द्रियों, वासनाओं और इच्छाओं पर विजय पा लेता है, वह जिन है। जैनधर्म का एक प्राचीन नाम निर्गन्ध धर्म भी है। अशोक आदि के अतिप्राचीन शिलालेखों में इसका इसी नाम से उल्लेख मिलता है। निर्गन्ध शब्द का अर्थ है -- जिसके हृदय में छल-कपट, राग-द्वेष, अहंकार, लोभ आदि की कोई गूँठ नहीं है और जो आन्तरिक और बाह्य परिग्रह से मुक्त है, वही निर्गन्ध है। जैनधर्म को आर्हत धर्म भी कहते हैं। अर्हत शब्द का अर्थ है -- जिसने राग-द्वेष पर विजय प्राप्त कर ली है और जो अपनी आध्यात्मिक पवित्रता के कारण जगत का बन्धनीय बन गया, वह अर्हत है और उसका उपासक आर्हत। जहाँ वैदिकधर्म में यज्ञ-याग और कर्मकाण्ड पर विशेष बल दिया गया वही श्रमणधर्म, विशेष रूप से जैनधर्म में तप, त्याग व वैराग्य पर अधिक बल दिया गया। अतः वैदिकधर्म को प्रवृत्ति मूलक और श्रमणधर्म को निवृत्ति मूलकधर्म भी कहते हैं। निवृत्ति मूलकधर्म का मुख्य प्रयोजन होता है, सांसारिक दुःखों से मुक्ति हेतु संन्यास के मार्ग का अनुसरण करना। इस प्रकार जैनधर्म संन्यास प्रधान या वैराग्य प्रधान धर्म है।

मानव व्यक्तित्व में दो तत्त्व पाये जाते हैं -- 1. वासना और 2. विवेक। मनुष्य में वासनाओं की उपस्थिति उसे दैहिक आवश्यकताओं एवं इच्छाओं की पूर्ति की ओर अर्थात् भौतिक सुख-सुविधाओं की उपलब्धि की ओर प्रेरित करती है। जबकि विवेक यह बताता है कि इच्छाएँ अनन्त हैं, उनकी पूर्ण संतुष्टि कभी भी संभव नहीं है, इसलिए शान्ति के इच्छुक मनुष्य को इच्छाओं की संतुष्टि की दिशा में न भागकर इच्छाओं का संयम करना चाहिए। इच्छाओं एवं वासनाओं के संयम की यही बात संन्यास मूलक जैनधर्म की उत्पत्ति का आधार है।

यह प्रश्न भी स्वाभाविक रूप से उठता है कि जैनधर्म का प्रारम्भ कब से हुआ। इसके प्रथम प्रवक्ता कौन हैं ? जैन परम्परा के अनुसार इस काल-चक्र में जैनधर्म की स्थापना भगवान् ऋषभदेव ने की। ऋषभदेव के उल्लेख ऋग्वेद एवं पुराण साहित्य में भी हैं। अतः जैनधर्म संसार का एक अति प्राचीन धर्म है। जैन परम्परा के अनुसार इस कालचक्र में संन्यास मूलक धर्म का प्रथम उपदेश भगवान् ऋषभदेव ने दिया था। श्रीमद्भागवत् में भी ऋषभदेव को

* आकाशवाणी देहली से मई-जून 1993 में प्रसारित वार्ता

संन्यास धर्म अर्थात् परमहंस मार्ग का प्रवर्तक कहा जाता है। ऋषभदेव से पूर्व मानव समाज पूर्णतः प्रकृति पर आश्रित था। काल-क्रम में जब मनुष्यों की जनसंख्या में वृद्धि और प्राकृतिक संसाधन में कमी होने से मनुष्यों में संचय वृत्ति का विकास हुआ तो स्त्रियों, पशुओं और खाद्य पदार्थों को लेकर एक-दूसरे से छीना-झपटी होने लगी। ऐसी स्थिति में ऋषभदेव ने सर्वप्रथम समाज-व्यवस्था एवं शासन- व्यवस्था की नींव डाली तथा कृषि एवं शिल्प के द्वारा अपने ही धर्म से अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति करना सिखाया। किन्तु मनुष्य की बढ़ती हुई भोगाकांक्षा एवं संचय वृत्ति के कारण वैयक्तिक जीवन एवं सामाजिक जीवन में जो अशांति एवं विषमता आयी उसका समाधान नहीं हो सका। भगवान ऋषभदेव ने यह अनुभव किया कि भोग सामग्री की प्रचुरता भी मनुष्य की आकांक्षा व तृष्णा को समाप्त करने में समर्थ नहीं है। यदि वैयक्तिक एवं सामाजिक जीवन में शांति एवं समता स्थापित करनी है, तो मनुष्य को त्याग एवं संयम के मार्ग की शिक्षा देनी होगी। उन्होंने स्वयं परिवार एवं राज्य का त्याग करके वैराग्य का मार्ग अपनाया और लोगों को त्याग एवं वैराग्य की शिक्षा देना प्रारम्भ किया। बस यही जैनधर्म की उत्पत्ति की कहानी है।

आगे चलकर ऋषभदेव की परम्परा में क्रमशः अन्य 23 तीर्थंकर हुए। उनमें 22वें अरिष्टनेमि, 23वें पार्श्वनाथ एवं 24वें भगवान महावीर हुए। 22वें तीर्थंकर अरिष्टनेमि भगवान कृष्ण के चचेरे भाई थे और उन्होंने अहिंसा पर विशेष रूप से बल दिया। अपने विवाह के अवसर पर वैवाहिक भोज हेतु एकत्रित पशु-पक्षियों की चीत्कार सुनकर उन्होंने न केवल उन्हें मुक्त करवाया अपितु वैवाहिक जीवन से मुख मोड़कर तप-साधना का मार्ग अपनाया और ज्ञान प्राप्त किया तथा अहिंसा और संयम का उपदेश दिया। उन्होंने कहा --

*"धम्मो मंगलमुक्किट्ठं अहिंसा संजमो तवो।
देवा वि तं नमसंति जे धम्मो सया मनो।।"*

अर्थात् अहिंसा, संयम व तप रूपी धर्म ही सर्वोत्कृष्ट मंगल है। जिसका मन सदैव इस धर्म में लगा रहता है, उसे देवता भी नमस्कार करते हैं।

23वें तीर्थंकर भगवान पार्श्वनाथ वाराणसी में उत्पन्न हुए थे, इन्होंने तप-साधना में जो आत्मपीडन एवं परपीडन की प्रवृत्ति विकसित हो रही थी, उसका विरोध किया। उन्होंने कहा कि ऐसा तप जिससे दूसरे प्राणियों को कष्ट होता हो और अपने तपस्वी होने के अहंकार की पुष्टि हो और जो लौकिक इच्छाओं की पूर्ति के लिये किया जाता हो, उचित नहीं है, तप का प्रयोजन तो आत्मशुद्धि होना चाहिये। अतः विवेकपूर्ण अहिंसक तप ही श्रेष्ठ है।

भगवान पार्श्वनाथ के बाद भगवान महावीर स्वामी हुए। महावीर ने इन्द्रिय संयम के साथ-साथ ब्रह्मचर्य एवं अपरिग्रह की साधना पर अधिक बल दिया। उन्होंने पार्श्व के चार्तुयाम धर्म में ब्रह्मचर्य को जोड़कर अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह की साधना का उपदेश दिया। महावीर स्वामी का विशेष बल आचार- शुद्धि और व्यवहार- शुद्धि पर था। उन्होंने कहा कि -- आचारो प्रथमोधर्मः अर्थात् आचार ही प्रथम धर्म है। व्यावहारिक जीवन हेतु

उन्होंने अहिंसा, अनेकांत और अपरिग्रह पर विशेष बल दिया।

दुःख और दुःख-विमुक्ति

महाश्रमण महावीर के चिन्तन का मूल स्रोत जीवन की दुःखमयता का बोध ही है। उत्तराध्ययनसूत्र में वे कहते हैं --

जम्म दुक्खं जरा दुक्खं रोगा य मरणाणि य ।
अहो दुक्खो हु संसारो जत्थ कीसन्ति जन्तवो ॥

जन्म दुःखमय है, वृद्धावस्था भी दुःखमय है, रोग और मृत्यु भी दुःखमय है, अधिक क्या यह सम्पूर्ण सांसारिक अस्तित्व ही दुःख रूप है। संसार की दुःखमयता के इसी बोध से दुःख के कारण की खोज एवं दुःख विमुक्ति (मोक्ष या निर्वाण) के चिन्तन का विकास हुआ है। जैन चिन्तकों ने यह माना कि सांसारिकता में सुख नहीं है। जिसे हम सुख मान लेते हैं, वह ठीक उरी प्रकार का है जिस प्रकार खुजली की बीमारी से पीड़ित व्यक्ति खाज को खुजाने में सुख मान लेता है, वस्तुतः वह सुख भी दुःख रूप ही है। संसार में धनी-निर्धन, शासित-शासक सभी तो दुःखी हैं। कहा है --

धन बिना निर्धन दुःखी, तृष्णावश धनवान ।
कवहु न सुख या संसार में, सब जग देख्यो छान ॥

संसार के इन दुःखों को हम दो भागों में विभाजित कर सकते हैं। एक तो भौतिक दुःख, जो प्राकृतिक विपदाओं और बाह्य तथ्यों के कारण होते हैं और दूसरे मानसिक दुःख जो मनुष्य की आकांक्षाओं व तृष्णाओं से जन्म लेते हैं। महावीर की दृष्टि में इन समस्त भौतिक एवं मानसिक दुःखों का मूल व्यक्ति की भोगासक्ति ही है। मनुष्य अपनी कामनाओं की पूर्ति के द्वारा इन दुःखों के निवारण का प्रयत्न तो करता है, किन्तु वह उस कारण का उत्खेद नहीं करता जिससे दुःख प्रस्फुटित होता है क्योंकि वह बाहर न होकर हमारी चित्तवृत्ति में होता है। संयम (ब्रह्मचर्य) और संतोष (अपरिग्रह) के अतिरिक्त मनुष्य की तृष्णा को समाप्त करने का कोई उपाय नहीं है। महावीर ने कहा था कि बाह्य पदार्थों से इच्छाओं की पूर्ति का प्रयास वैसा ही है जैसे घृत डालकर अग्नि को शान्त करना। वह तो उससे शान्त न होकर अधिक प्रज्ज्वलित ही होती है। यह तो शाखाओं को काटकर जड़ों को पानी देने के समान है। उत्तराध्ययनसूत्र में कहा गया है कि --

सुवण्ण-रुप्पस्स उ पव्वया भवे सिया हु केलाससमा असंखया ।
नरस्स लुद्रस्स न तेहिं किंचि इच्छा उ आगाससमा अणन्तिया ॥

चात्रे रत्नार्ण व रजत के कैलाश के गगन अगंख्य पर्वत क्यों न खड़े कर दिये जाय किन्तु वे मनुष्य की तृष्णा को पूर्ण करने में समर्थ नहीं हैं, क्योंकि इच्छा तो आकाश के सामान अनन्त है। समस्त दुःखों का मूल कारण भोगाकांक्षा, तृष्णा या ममत्व बुद्धि ही है। किन्तु इस भोगाकांक्षा की समाप्ति का उपाय इच्छाओं की पूर्ति नहीं है, अपितु संयम एवं निराकांक्षता ही है। यदि हम

व्यक्ति को मानसिक विक्रोभों एवं तनावों से तथा मानव जाति को हिंसा एवं शोषण से मुक्त करना चाहते हैं तो हमें अपने को संयम एवं संतोष की दिशा में मोड़ना होगा। भोगवादी सुखों की लालसा में दौड़ता है और उसकी उपलब्धि हेतु चोरी, शोषण एवं संग्रह जैसी सामाजिक बुराइयों को जन्म देता है। महावीर के अनुसार भोगवादी जीवनदृष्टि इच्छाओं और आकांक्षाओं को जन्म देकर हमारे वैयक्तिक जीवन में तनावों एवं विक्रोभों को उत्पन्न करती है। जिससे हमारा चैतसिक समत्व भंग होता है। वह सामाजिक जीवन में संग्रह एवं शोषण की वृत्ति को जन्म देकर सामाजिक विषमता का कारण बनती है। इसीलिए महावीर ने यह निर्देश दिया कि पदार्थों की ओर भागने की अपेक्षा आत्मोन्मुख बनो, क्योंकि जो पदार्थ-अपेक्षी या परापेक्षी होता है वह परतन्त्र होता है, किन्तु जो आत्मापेक्षी होता है वह स्वतन्त्र होता है। यदि तुम वस्तुतः तनाव मुक्त होना चाहते हो तथा वैयक्तिक एवं सामाजिक जीवन में शान्ति चाहते हो तो, आत्म-केन्द्रित बनो, क्योंकि जो पराश्रित या पर-केन्द्रित होता है, वह दुःखी होता है और जो स्वाश्रित या स्वकेन्द्रित होता है, सुखी होता है। आतुर-प्रत्याख्यान नामक जैनग्रन्थ में कहा गया है कि समस्त सांसारिक उपलब्धियाँ संयोगजन्य हैं। इन्हें अपना मानने या इन पर ममत्व रखने से प्राणी दुःख परम्परा को प्राप्त होता है। अतः इन सांयोगिक उपलब्धियों के प्रति ममत्व वृत्ति का विसर्जन कर देना चाहिए। यही दुःख विमुक्ति का एक मात्र उपाय है। आचारांगमूत्र में कहा गया है कि जहाँ-जहाँ ममत्व है, वहाँ-वहाँ दुःख है। इच्छाओं की पूर्ति से दुःख-विमुक्तिका प्रयास ठीक वैसा ही है जैसे छलनी को जल से भरने का प्रयास। हम बाह्य जगत् में रस लेने के लिए जैसे ही उसमें अपना आरोपण करते हैं, वैसे ही एक प्रकार का द्रैत प्रकट हो जाता है, जिसमें हम अपनेपन का आरोपण करते हैं, आसक्ति रखते हैं, वह हमारे लिए 'स्व' बन जाता है और उससे भिन्न या विरोधी 'पर' बन जाता है। आत्मा की समत्व के केन्द्र से यह च्युति ही उसे इन 'स्व' और 'पर' के दो विभागों में बाँट देती है। इन्हें हम क्रमशः राग और द्वेष कहते हैं। राग आकर्षण का सिद्धान्त है और द्वेष विकर्षण का। अपना-पराया, राग-द्वेष अथवा आकर्षण-विकर्षण के कारण हमारी चेतना में सदैव ही तनाव, संघर्ष अथवा द्वन्द्व बना रहता है, यद्यपि चेतना या आत्मा अपनी स्वाभाविक शक्ति के द्वारा सदैव साम्यावस्था या संतुलन बनाने का प्रयास करती रहती है। लेकिन राग एवं द्वेष किसी भी स्थायी सन्तुलन की अवस्था को सम्भव नहीं होने देते। यही कारण है कि जैनदर्शन में राग-द्वेष से ऊपर उठना सम्यक् जीवन की अनिवार्य शर्त मानी गई है। ममत्व व राग-द्वेष की उपस्थिति ही मानवीय पीड़ा का मूल कारण है। यदि मनुष्य को मानसिक तनावों से मुक्ति पाना है तो इसके लिए निर्ममत्व या अनासक्ति की साधना ही एक मात्र विकल्प है।

आत्मा का बन्धन और मुक्ति

जैनधर्म के अनुसार यह संसार दुःखमय है अतः इन सांसारिक दुःखों से मुक्त होना ही व्यक्ति का मुख्य प्रयोजन होना चाहिए। मनुष्य में उपरिथत राग-द्वेष की वृत्तियाँ ही उसका वास्तविक बन्धन हैं और यही दुःख है। जैनदर्शन के अनुसार मनुष्य जब राग-द्वेष अथवा क्रोध, मान आदि कषायों के वशीभूत होकर कोई भी शारीरिक, वाचिक या मानसिक प्रवृत्ति करता है

तो उसके परिणामस्वरूप कर्म परमाणुओं का आकर्षण होता है, जिसे वे आस्रव कहते हैं। जब चित्तवृत्ति में क्रोधादि कषाय विद्यमान हो तथा शरीर एवं इन्द्रियों की प्रवृत्ति असंयमित हो तो उसके परिणामस्वरूप कर्म का बन्ध होता है या कर्म संस्कार बनते हैं। प्रत्येक कर्म संस्कार काल-क्रम में अपना विपाक या फल देता है और इस प्रकार कर्म और विपाक की परम्परा चलती रहती है। इस तथ्य को हम ऐसे भी समझा सकते हैं कि जब व्यक्ति द्वेष आदि के वशीभूत होकर क्रोध करता है तो उसमें क्रोध के संस्कार बनते हैं। समय-समय पर क्रोध के इन संस्कारों की अभिव्यक्ति होने से क्रोध उसकी जीवन शैली का ही अंग बन जाता है और यही उसका बन्धन है।

जैनधर्म के अनुसार प्रत्येक आत्मा में जो अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त सुख और अनन्त शक्ति रही हुई है, वह इन कर्म संस्कारों के कारण कुंठित हो जाती है। आत्मिक शक्ति का कुंठित होना ही बन्धन है। कर्म का यह बन्धन आठ प्रकार का माना गया है, 1. जो कर्म आत्मा की ज्ञानात्मक शक्ति को कुंठित करते हैं वे ज्ञानावरण कहलाते हैं, 2. जिनके द्वारा आत्मा की अनुभूति सामर्थ्य सीमित होती है उसे दर्शनावरण कहते हैं, 3. जिसके द्वारा सुख-दुःख की अनुभूति होती है, वे वेदनीय कर्म हैं, 4. जिन कर्म संस्कारों के कारण व्यक्ति का दृष्टिकोण एवं चरित्र दूषित हो उसे मोहनीय कर्म कहा गया है। 5. जो कर्म हमारे व्यक्तित्व या चैत्तिक एवं शारीरिक संरचना के कारण होते हैं उन्हें नामकर्म कहते हैं, 6. जिन कर्मों के कारण व्यक्ति को अनुकूल व प्रतिकूल परिवेश उपलब्ध होती है, वह गोत्रकर्म हैं, 7. इसी प्रकार जो कर्म एक शरीर विशेष में हमारी आयु मर्यादा को निश्चित करता है, उसे आयुष्यकर्म कहते हैं। 8. अन्त में जिस कर्म द्वारा हमें प्राप्त होने वाली उपलब्धियों में बाधा हो वह अन्तरायकर्म है।

जैनदर्शन के अनुसार इन कर्मों के वश होकर प्राणी संसार में जन्म-मरण करता है और सांसारिक सुख-दुःख की अनुभूति करता है।

जैनधर्म का प्रयोजन आत्मा को इस कर्म-मल से मुक्त कर विशुद्ध बनाना है। इसके लिए संवर का उपदेश दिया गया है। जिस प्रकार जिस कमरे की खिड़कियाँ खुली हों उसमें धूल के आगमन को नहीं रोका जा सकता है, उसी प्रकार जब आत्मा की इन्द्रियाँ स्पी खिड़कियाँ खुली हों उसमें कर्म रज रूपी मल के आगमन को रोका नहीं जा सकता है। अतः आत्मविशुद्धि के लिये यह आवश्यक है कि व्यक्ति इन इन्द्रियरूपी खिड़कियों को बन्द करें अर्थात् इन्द्रियों का संयम करें। जैनधर्म में इन्द्रिय संयम का मतलब यह नहीं है कि इन्द्रियों की प्रवृत्ति ही न होने दी जाये। महावीरस्वामी ने कहा था कि इन्द्रियों एवं उनके विषयों की उपस्थिति की दशा में इन्द्रियों का अपने विषयों से सम्पर्क न हो, यह सम्भव नहीं है। संयम का तात्पर्य है इन ऐन्द्रिक विषयों की अनुभूति की दशा में हमारा चित्त राग-द्वेष की वृत्ति से आक्रान्त न हो। सतत् अभ्यास द्वारा जब ऐन्द्रिक अनुभूतियों में चित्त अनासक्त रहना सीख जाता है तो संयम की साधना सफल होती है।

जब तक चित्त में पुराने कर्म- मल उपस्थित हैं तब तक आध्यात्मिक विशुद्धि संभव नहीं। इसके लिए जैनधर्म में निर्जरा की बात कही गयी है। निर्जरा का अर्थ है कर्म-मल को अलग कर देना या झाड़ देना। आत्मा पर लगे कर्म- मल को अलग करने का प्रयत्न ही निर्जरा है। जिस प्रकार कमरे की सफाई के लिए यह आवश्यक है कि पहले तो हम कमरे की खिड़कियाँ बन्द कर दें ताकि बाहर से धूल न आये, किन्तु पूर्व की उपस्थित धूल या मल की सफाई के लिए कमरे को झाड़ना भी आवश्यक होता है। उसी प्रकार आत्मा में जो गंदगी है उसे दूर करने के लिए निर्जरा आवश्यक है। जैनधर्म के अनुसार निर्जरा के द्वारा ही आत्मा के पूर्व संचित कर्म- मल का शोधन संभव है। निर्जरा का दूसरा नाम 'तप-साधना' है। कहा गया है कि तप के द्वारा आत्मा करोड़ों भवों के पूर्व संचित कर्मों को नष्ट कर देता है। जिस प्रकार शुद्ध घी को प्राप्त करने के लिए हमें मक्खन को किसी बर्तन में रखकर तपाना होता है, उसी प्रकार आत्मा की शुद्धि के लिये उसे भी शरीर रूपी भाजन के द्वारा तपाना होता है। जैनधर्म में तपस्या का मतलब शरीर को कष्ट देना नहीं अपितु शरीर के प्रति रागात्मकता या ममत्व बुद्धि को दूर करना है। इसीलिये आत्मा की देहासक्ति को तोड़ने का जो प्रयत्न है वही तपस्या है। यह सत्य है कि सभी दुराचरणों का मूल कारण व्यक्ति की ममता या आसक्ति है, इस आसक्ति में ही देहासक्ति सबसे घनीभूत होती है। इसे समाप्त करने के लिए ही जैनधर्म में अनशन आदि बाह्य तपों और स्वाध्याय आदि आन्तरिक तपों का विवेचन किया गया है।

जब तपस्या द्वारा आत्मा की आसक्ति और कर्ममल समाप्त हो जाता है तो आत्मा की अनन्त ज्ञान आदि क्षमताएँ प्रकट हो जाती हैं। आसक्ति और कर्म- मल का क्षय होकर आध्यात्मिक शक्तियों का पूर्ण प्रकटन ही जैनधर्म में मुक्ति या निर्वाण है। इसे ही परमात्मदशा की प्राप्ति भी कहते हैं। जब आत्मा कर्म-मल से रहित होकर पूर्ण निर्ममत्व और निरावरण अवस्था को प्राप्त कर लेता है और अपने आत्म स्वरूप में लीन हो जाता है, तो वही परमात्मा बन जाता है। आत्मा को परमात्मा की अवस्था तक पहुँचाना ही जैन साधना का मूल प्रयोजन है।

आत्मा और परमात्मा

आत्मा की विभावदशा अर्थात् उसकी विषय-वासनाओं में आसक्ति या रागभाव ही उसका बन्धन है, अपने इस रागभाव, आसक्ति या ममता को तोड़ने का जो प्रयास है, वह साधना है और उस आसक्ति, ममत्व या रागभाव का टूट जाना ही मुक्ति है, यही आत्मा का परमात्मा बन जाना है। जैन साधकों ने आत्मा की तीन अवस्थाएँ मानी हैं --

१. बहिरात्मा २. अन्तरात्मा और ३. परमात्मा।

सन्त आनन्दघन जी कहते हैं --

*त्रिविध सकल तनुधर गत आतमा, बहिरातम अध रूप सुज्ञानी।
बीजो अन्तर आतमा तीसरो परमातम अविच्छेद सुज्ञानी।।*

विषय-भोगों में उलझा हुआ आत्मा बहिरात्मा है। संसार के विषय-भोगों में उदासीन साधक अन्तरात्मा है और जिसने अपनी विषय-वासनाओं पर विजय प्राप्त कर लिया है, जो विषय-विकार से रहित अनन्त चतुष्टय से युक्त होकर ज्ञाता-द्रष्टा भाव में स्थित है, वह परमात्मा है।

आत्मा और परमात्मा के पारस्परिक सम्बन्ध को लेकर कहा गया है--

‘अप्या सो परमप्या’।

आत्मा ही परमात्मा है।

प्रत्येक प्राणी, प्रत्येक चेतनसत्ता परमात्म स्वरूप है।

मोह और ममता के कोहरे में हमारा वह परमात्म स्वरूप छुप गया है। जैसे बादलों के आवरण में सूर्य का प्रकाशपुंज छिप जाता है और अन्धकार घिर जाता है, उसी प्रकार मोह-ममता और राग-द्वेष रूपी आवरण से आत्मा का अनन्त आनन्द स्वरूप तिरोहित हो जाता है और जीव दुःख और पीड़ा से भर जाता है।

आत्मा और परमात्मा में स्वरूपतः कोई भेद नहीं है। धान और चावल एक ही है, अन्तर मात्र इतना है कि एक आवरण सहित है और दूसरा निरावरण। इसी प्रकार आत्मा और परमात्मा एक ही है, फर्क केवल कर्म रूप आवरण का है।

जिस प्रकार धान के सुमधुर भात का आस्वादन तभी प्राप्त हो सकता है जब उसका छिलका उतार दिया जावे, उसी प्रकार अपने ही परमात्म स्वरूप की अनुभूति तभी सम्भव है, जब हम अपनी चेतना से मोह-ममता और राग-द्वेष की खोल को उतार फेंके। छिलके-सहित धान के समान मोह-ममता की खोल में जकड़ी हुई चेतना बद्धात्मा है और छिलके-रहित शुद्ध शुभ्र चावल के रूप में निरावरण शुद्ध चेतना परमात्मा है। कहा है --

सिद्धा जैसो जीव है, जीव सोय सिद्ध होय।

कर्म मैल का आंतरा, बूझे विरला कोय।।

मोह-ममता रूपी परदे को हटाकर उस पार रहे हुए अपने ही परमात्म स्वरूप का दर्शन सम्भव है। हमें प्रयत्न परमात्मा को पाने का नहीं, इस परदे को हटाने का करना है, परमात्मा तो उपस्थित है ही। हमारी गलती यही है कि हम परमात्मस्वरूप को प्राप्त करना तो चाहते हैं, किन्तु इस आवरण को हटाने का प्रयास नहीं करते। हमारे प्रयत्नों की दिशा यदि सही हो तो अपने में ही निहित परमात्मा का दर्शन दूर नहीं है। हमारा दुर्भाग्य तो यही है कि आज स्वामी ही दास बना हुआ है। हमें अपनी हस्ती का अहसास ही नहीं है। किसी उर्दू शायर ने ठीक ही कहा है --

इन्सा की बढबख्शी अंदाज से बातर है।

कमबख्त खुदा होकर बंदा नजर आता है।।

जैनधर्म में परमात्मा की अवधारणा एक आदर्श पुरुष के रूप में की गयी है। परमात्मा

न तो किसी को मुक्ति देता है और न दण्ड ही। परमात्मा की स्तुति का प्रयोजन मात्र अपने शुद्ध स्वरूप का बोध करना है। जैनदर्शन में भक्ति के सच्चे स्वरूप को स्पष्ट करते हुए उपाध्याय देवचन्द्रजी लिखते हैं :-

*अज-कुल-गत केशरी लहरे, निज पद सिंह निहार।
तिम प्रभु भक्ति भवी लहरे, आतम शक्ति संभार।।*

जिस प्रकार अज कुल में पालित सिंहशावक वास्तविक सिंह के दर्शन से अपने प्रसुप्त सिंहत्व को प्रकट कर लेता है, उसी प्रकार साधक परमात्मा के गुणकीर्तन या स्तवन के द्वारा निज में जिनत्व की शोध कर लेता है, स्वयं में निहित परमात्मशक्ति को प्रकट कर लेता है। जैन साधना यह स्वीकार करती है कि भगवान की स्तुति प्रसुप्त अन्तश्चेतना को जाग्रत करती है और हमारे सामने साधना के आदर्श का एक जीवन्त चित्र उपस्थित करती है। इतना ही नहीं, वह उस आदर्श की प्राप्ति के लिए प्रेरणा भी बनती है। फिर भी जैन मान्यता तो यह है कि व्यक्ति अपने ही प्रयत्नों से आध्यात्मिक उत्थान या पतन कर सकता है। स्वयं पाप से मुक्त होने का प्रयत्न न करके केवल भगवान् से मुक्ति की प्रार्थना करना जैन-विचारणा की दृष्टि से सर्वथा निरर्थक है। ऐसी विवेकशून्य प्रार्थनाओं ने मानव जाति को सब प्रकार से हीन, दीन एवं परापंक्षी बनाया है। जब मनुष्य किसी ऐसे उद्धारक में विश्वास करने लगता है, जो उसकी स्तुति से प्रसन्न होकर उसे पाप से उबार लेगा तो ऐसी निष्ठा से सदाचार की मान्यताओं को गहरा धक्का लगता है। जैन विचारकों की यह स्पष्ट मान्यता है कि केवल परमात्मा की स्तुति करने से मोक्ष एवं समाधि की प्राप्ति नहीं होती, जब तक कि मनुष्य स्वयं उसके लिए प्रयास न करे। मुक्ति या परमात्म दशा की प्राप्ति के लिये साधना अपेक्षित है।

त्रिविध साधनामार्ग

जैनदर्शन में मोक्ष की प्राप्ति के लिए त्रिविध साधनामार्ग बताया गया है। तत्त्वार्थसूत्र में सम्यक्-ज्ञान, सम्यक्-दर्शन और सम्यक्-चारित्र को मोक्षमार्ग कहा गया है। उत्तराध्ययनसूत्र में सम्यक्-ज्ञान, सम्यक्-दर्शन, सम्यक्-चारित्र और सम्यक्-तप ऐसे चतुर्विध मोक्षमार्ग का भी विधान है, किन्तु जैन आचार्यों ने तप का अन्तर्भावचारित्र में करके इस त्रिविध साधना मार्ग को ही मान्य किया है।

कुछ भारतीय विचारकों ने इस त्रिविध साधनामार्ग के किसी एक ही पक्ष को मोक्ष की प्राप्ति का साधन मान लिया है। आचार्य शंकर मात्र ज्ञान से और रामानुज मात्र भक्ति से मुक्ति की सम्भावना को स्वीकार करते हैं। लेकिन जैन दार्शनिक ऐसी किसी एकान्तवादिता में नहीं गिरते हैं। उनके अनुसार तो ज्ञान, कर्म और भक्ति की समवेत साधना ही मोक्ष की प्राप्ति का मार्ग है। इनमें से किसी एक के अभाव में मोक्ष की प्राप्ति सम्भव नहीं है। उत्तराध्ययनसूत्र के अनुसार दर्शन के बिना ज्ञान नहीं होता और ज्ञान के अभाव में आचरण सम्यक् नहीं होता है और सम्यक् आचरण के अभाव में मुक्ति भी नहीं होती है। इस प्रकार मुक्ति की प्राप्ति के लिए तीनों ही अंगों का होना आवश्यक है।

सम्यक्-दर्शन -- जैन परम्परा में सम्यक्-दर्शन आत्म-साक्षात्कार, तत्त्वश्रद्धा, अन्तर्बोध, दृष्टिकोण, श्रद्धा और भक्ति आदि अनेक अर्थों को अपने में समेटे हुए है। सम्यक्-दर्शन को चाहे यथार्थ दृष्टि कहें या तत्त्वार्थ श्रद्धा, उसमें वास्तविकता की दृष्टि से अधिक अन्तर नहीं होता है। अन्तर होता है उनकी उपलब्धि की विधि में। एक वैज्ञानिक स्वतः प्रयोग के आधार पर किसी सत्य का उद्घाटन कर वस्तुतत्त्व के यथार्थ स्वरूप को जानता है, किन्तु दूसरा वैज्ञानिकों के कथनों पर विश्वास करके वस्तुतत्त्व के यथार्थ स्वरूप को जानता है। यद्यपि यहाँ दोनों का ही दृष्टिकोण यथार्थ होगा, फिर भी एक ने स्वानुभूति से पाया है तो दूसरे ने उसे श्रद्धा के माध्यम से। श्रद्धा ही सम्यक्दृष्टि हो तो भी वह अर्थ अन्तिम नहीं है, अन्तिम अर्थ स्वानुभूति ही है और यही सम्यक्-दर्शन का वास्तविक अर्थ है। ऐसा सम्यग्दर्शन होता है निर्विकार, निराकुल चित्तवृत्ति से।

जैनधर्म में सम्यक्-दर्शन के निम्न पाँच लक्षण बताये गये हैं -- १. सम अर्थात् समभाव, २. संवेग अर्थात् आत्मा के आनन्दमय स्वरूप की अनुभूति अथवा सत्याभीप्सा, ३. निर्वेद अर्थात् अनासक्ति या वैराग्य, ४. अनुकम्पा अर्थात् दूसरे व्यक्ति की पीड़ा को आत्मवत् समझना और उसके प्रति करुणा का भाव रखना और ५. आस्तिक्य अर्थात् पुण्य-पाप, पुनर्जन्म, कर्म-सिद्धान्त और आत्मा के अस्तित्व को स्वीकार करना।

जिस प्रकार बौद्ध-साधना के अनुसार दुःख है, दुःख का कारण है, दुःख से निवृत्ति हो सकती है और दुःखनिवृत्ति का मार्ग है -- इन चार आर्य-सत्यों की स्वीकृति सम्यग्दृष्टि है, उसी प्रकार जैन-साधना के अनुसार षट् स्थानकों (छह बातों) की स्वीकृति सम्यग्दर्शन है -- (१) आत्मा है, (२) आत्मा नित्य है, (३) आत्मा अपने कर्मों का कर्ता है, (४) आत्मा कृत कर्मों के फल का भोक्ता है, (५) आत्मा मुक्ति प्राप्त कर सकता है और (६) मुक्ति का उपाय (मार्ग) है। जैन तत्त्व-विचारणा के अनुसार इन षट्स्थानकों पर दृढ़ प्रतीति, सम्यग्दर्शन की साधना का आवश्यक अंग है। दृष्टिकोण की विशुद्धता एवं सदाचार दोनों ही इन पर निर्भर है, ये षट्स्थानक जैन-साधना के केन्द्र बिन्दु हैं।

सम्यक्-ज्ञान -- दृष्टिकोण की शुद्धि पर ही ज्ञान की सम्यक्ता निर्भर करती है। अतः जैन साधना का दूसरा चरण है सम्यक् ज्ञान। सम्यक् ज्ञान को मुक्ति का साधन स्वीकार किया गया है, लेकिन कौन सा ज्ञान मुक्ति के लिए आवश्यक है, यह विचारणीय है। जैनदर्शन में सम्यक् ज्ञान के दो रूप पाये जाते हैं। सामान्य दृष्टि से सम्यक् ज्ञान वस्तुतत्त्व का उसके अनन्त पहलुओं से युक्त ज्ञान है और इस रूप में वह विचार शुद्धि का माध्यम है। जैनदर्शन के अनुसार एकांगीज्ञान मिथ्यात्व है क्योंकि वह सत्य के अनन्त पक्षों का अपलाप करता है। जब तक आग्रह बुद्धि है तब तक वीतरागता सम्भव ही नहीं है और जब तक वीतराग दृष्टि नहीं है तब तक यथार्थ ज्ञान भी अगम्य है। जैनदर्शन के अनुसार सत्य के अनन्त पहलुओं को जानने के लिए अनेकान्त दृष्टि सम्यक् ज्ञान की अनिवार्य शर्त है। एकान्त दृष्टि या वैचारिक आग्रह अपने में निहित राग के कारण सत्य को रंगीन कर देता है। अतः एकान्त और आग्रह सत्य के

साक्षात्कार में बाधक हैं। जैन साधना की दृष्टि से वीतरागता को उपलब्ध करने के लिए वैचारिक आग्रह का परित्याग और अनाग्रही दृष्टि का निर्माण आवश्यक है और इसके माध्यम से प्राप्त ज्ञान ही सम्यक् ज्ञान है। सम्यग्ज्ञान का अर्थ है वस्तु को उसके अनन्त पहलुओं से जानना।

जैनधर्म में सम्यक्-ज्ञान का अर्थ आत्म-अनात्म का विवेक भी है। यह सही है कि आत्मतत्त्व को ज्ञान का विषय नहीं बनाया जा सकता, उसे ज्ञाता-ज्ञेय के द्वैत के आधार पर नहीं जाना जा सकता, क्योंकि वह स्वयं ज्ञान-स्वरूप है, ज्ञाता है और ज्ञाता कभी ज्ञेय नहीं बन सकता, अतः आत्मज्ञान दुरुह है। लेकिन अनात्म तत्त्व तो ऐसा है जिसे हम ज्ञाता और ज्ञेय के द्वैत के आधार पर जान सकते हैं। सामान्य व्यक्ति भी अपने साधारण ज्ञान के द्वारा इतना तो जान ही सकता है कि उसके ज्ञान के विषय क्या हैं ? और इससे वह यह निष्कर्ष निकाल सकता है कि जो उसके ज्ञान के विषय हैं, वे उसके स्वरूप नहीं हैं, वे अनात्म हैं। सम्यग्ज्ञान आत्म-ज्ञान है, किन्तु आत्मा को अनात्म के माध्यम से ही पहचाना जा सकता है। अनात्म के स्वरूप को जानकर अनात्म से आत्म का भेद करना यही भेद विज्ञान है और यही जैनदर्शन में सम्यक् ज्ञान का मूल अर्थ है। जैनों की पारिभाषिक शब्दावली में इसे भेद- विज्ञान कहा जाता है। आचार्य अमृतचन्द्र सूरि के अनुसार जो कोई सिद्ध है वे ह्य आत्म-अनात्म के विवेक या भेद-विज्ञान से ही सिद्ध हुए हैं और जो बन्धन में हैं, वे इसके अभाव के कारण ही हैं। आचार्य कुन्दकुन्द ने समयसार में इस भेद विज्ञान का अत्यन्त गहन विवेचन किया है।

सम्यक्-चारित्र -- जैन परम्परा में साधना का तीसरा चरण सम्यक्-चारित्र है। इसके दो रूप माने गए हैं १. व्यवहारचारित्र और २. निश्चयचारित्र। आचरण का बाह्य पक्ष या आचरण के विधि-विधान व्यवहारचारित्र कहे जाते हैं। जबकि आचरण की अन्तरात्मा निश्चयचारित्र कही जाती है। व्यक्ति के आध्यात्मिक विकास का प्रश्न है, निश्चयात्मकचारित्र ही उसका मूलभूत आधार है। लेकिन जहाँ तक सामाजिक जीवन का प्रश्न है, चारित्र का बाह्य पक्ष ही प्रमुख है। निश्चय दृष्टि (Real view point) से चारित्र का सच्चा अर्थ समभाव या समत्व की उपलब्धि है। वस्तुतः चारित्र का यह पक्ष आत्म-रमण की स्थिति है। निश्चयिक चारित्र का प्रादुर्भाव केवल अप्रमत्त अवस्था में ही होता है। अप्रमत्त चेतना की अवस्था में होने वाले सभी कार्य शुद्ध ही माने गए हैं। चेतना में जब राग-द्वेष, कषाय और वासनाओं की अग्नि पूरी तरह शान्त हो जाती है तभी सच्चे नैतिक एवं धार्मिक जीवन का उद्भव होता है और ऐसा ही सदाचार मोक्ष का कारण होता है।

व्यवहारचारित्र का सम्बन्ध आचार के नियमों के परिपालन से है। व्यवहारचारित्र को सर्वव्रती और देशव्रतीचारित्र -- ऐसे दो वर्गों में विभाजित किया गया है। देशव्रतीचारित्र का सम्बन्ध गृहस्थ उपासकों से और सर्वव्रतीचारित्र का सम्बन्ध श्रमण वर्ग से है। जैन-परम्परा में गृहस्थाचार के अन्तर्गत अष्टमूलागुण, षट्कर्म, बारह व्रत और ग्यारह प्रतिमाओं का पालन आता है। श्रमणाचार के अन्तर्गत पंचमहाव्रत, रात्रि भोजन-निषेध, पंचसमिति, तीन गुप्ति, दस यतिधर्म, बारह अनुपेक्षाएँ, बाईस परीपह, अट्ठाइस मूलगुण, बावन अनाचार आदि का विवेचन

उपलब्ध है। किन्तु इस सबके मूल में अहिंसा, अनेकांत और अपरिग्रह की साधना ही मुख्य है।

जैनधर्म के केन्द्रीय तत्त्व : अहिंसा, अनाग्रह और अपरिग्रह

जैनधर्म में सम्यक्-चारित्र की दृष्टि से अहिंसा और अनासक्ति ये दो केन्द्रीय सिद्धान्त हैं। वैचारिक क्षेत्र में अहिंसा और अनासक्ति मिलकर अनाग्रह या अनेकान्तवाद को जन्म देते हैं। आग्रह वैचारिक आसक्ति है और एकान्त वैचारिक हिंसा। अनासक्ति का सिद्धान्त ही अहिंसा से समन्वित हो सामाजिक जीवन में अपरिग्रह का आदेश प्रस्तुत करता है। संग्रह वैयक्तिक जीवन के सन्दर्भ में आसक्ति और सामाजिक जीवन के सन्दर्भ में हिंसा है। इस प्रकार जैनदर्शन सामाजिक नैतिकता के तीन केन्द्रीय सिद्धान्त प्रस्तुत करता है:- १. अहिंसा, २. अनाग्रह (वैचारिक सहिष्णुता) और ३. अपरिग्रह (असंग्रह)। सम्यक् आचरण एक प्रकार से जीवन शुद्धि का प्रयास है, अतः मानसिक कर्मों की शुद्धि के लिए अनासक्ति (अपरिग्रह), वाचिक कर्मों की शुद्धि के लिए अनेकान्त (अनाग्रह) और कायिक कर्मों की शुद्धि के लिए अहिंसा के पालन का निर्देश किया गया है। जैनदर्शन का सार इन्हीं तीन सिद्धान्तों में निहित है। जैनधर्म की परिभाषा करने वाला यह श्लोक सर्वाधिक प्रचलित ही है--

स्याद्वादो वर्ततेऽस्मिन् पक्षपातो न विद्यते।

नास्त्यन्यं पीडनं किञ्चित् जैनधर्मः स उच्यते।।

सच्चा जैन वही है जो पक्षपात (समत्व) से रहित है, अनाग्रही और अहिंसक है।

अहिंसा -- अहिंसा जैन आचार-दर्शन का प्राण है। अहिंसा वह धुरी है जिस पर समग्र जैन आचार-विधि घूमती है। जैनागमों में अहिंसा को भगवती कहा गया है। प्रश्नव्याकरणसूत्र में कहा गया है कि भयभीतों को जैसे शरण, पक्षियों को जैसे गान, तृपितों को जैसे जल, भूखों को जैसे भोजन, समुद्र के मध्य जैसे जहाज, रोगियों को जैसे औषध और वन में जैसे सार्थवाह का साथ आधारभूत है, वैसे ही अहिंसा प्राणियों के लिए आधारभूत है। अहिंसा सभी प्राणियों का कल्याण करने वाली है। वह शाश्वत धर्म है, जिसका उपदेश तीर्थंकर करते हैं। आचारांगसूत्र में कहा गया है -- भूत, भविष्य और वर्तमान के सभी अर्हत् यह उपदेश करते हैं कि किसी भी प्राण, पत, जीव और सत्त्व को किसी प्रकार का परिताप, उद्वेग या दुःख नहीं देना चाहिए, न किसी का हनन करना चाहिए। यही शुद्ध, नित्य और शाश्वत धर्म है। समस्त लोक की पीड़ा को जानकर अर्हतों ने इसका प्रतिपादन किया है। सूत्रकृतांगसूत्र के अनुसार जानी होने का सार यह है कि किसी भी प्राणी की हिंसा न करे। अहिंसा ही समग्र धर्म का सार है, इसे सदैव स्मरण रखना चाहिए। दशवैकालिकसूत्र में कहा गया है कि सभी प्राणियों के हित साधन में अहिंसा के सर्वश्रेष्ठ होने से महावीर ने इसको प्रथम स्थान दिया है। अहिंसा के समान दूसरा धर्म नहीं है।

आचारांग में अहिंसा के सिद्धान्त को मनोवैज्ञानिक आधार पर स्थापित करने का प्रयास किया गया है। वह कहता है कि सभी प्राणियों में जिजीविषा प्रधान है, पुनः सभी को सुख अनुकूल और दुःख प्रतिकूल है। अहिंसा का अधिष्ठान यही मनोवैज्ञानिक सत्य है।

अस्तित्व और सुख की चाह प्राणीय स्वभाव है। जैन विचारकों ने इसी मनोवैज्ञानिक तथ्य के आधार पर अहिंसा को स्थापित किया है। वस्तुतः अहिंसा जीवन के प्रति सम्मान, समत्वभाव एवं अद्वैतभाव है। समत्वभाव से सहानुभूति तथा अद्वैतभाव से आत्मीयता उत्पन्न होती है और इन्हीं से अहिंसा का विकास होता है। वस्तुतः प्राणियों के जीवित रहने का नैतिक अधिकार ही अहिंसा के कर्तव्य को जन्म देता है। जीवन के अधिकार का सम्मान ही अहिंसा है। उत्तराध्ययनसूत्र में समत्व के आधार पर अहिंसा के सिद्धान्त की स्थापना करते हुए कहा गया है कि भय और वैर से मुक्त साधक, जीवन की इच्छा रखने वाले सभी प्राणियों को सर्वत्र अपनी आत्मा के समान जान कर उनकी कभी भी हिंसा न करे। इस प्रकार जैनधर्म में अहिंसा का आधार आत्मवत् दृष्टि ही है। आज विश्व शान्ति का एक मात्र विकल्प अहिंसा की समवेत साधना है। महावीर ने कहा था-- 'शस्त्र एक से बढ़ कर एक हो सकते हैं, किन्तु अहिंसा (अशस्त्र) से बढ़कर कुछ नहीं है।'

अनाग्रह -- अनाग्रह या अनेकान्त का सिद्धान्त वैचारिक अहिंसा है। अनाग्रह अपने विचारों की तरह दूसरे के विचारों का सम्मान करना सिखाता है। वह उस भ्रान्ति का निराकरण करता है कि सत्य मेरे पास है, दूसरे के पास नहीं हो सकता। वह हमें यह बताता है कि सत्य हमारे पास भी हो सकता है और दूसरे के पास भी। सत्यता का बोध हमें ही हो सकता है, केवल दूसरों को सत्य का बोध नहीं हो सकता -- यह कहने का हमें अधिकार नहीं है। सत्य का सूर्य न केवल हमारे घर को प्रकाशित करता है वरन् दूसरों के घरों को भी प्रकाशित करता है। वस्तुतः वह सर्वत्र प्रकाशित है। जो भी उन्मुक्त दृष्टि से उसे देख पाता है, वह उसे पा जाता है। सत्य केवल सत्य है, वह न मेरा है और न दूसरे का है। जिस प्रकार अहिंसा का सिद्धान्त कहता है कि जीवन जहाँ कहीं हो, उसका सम्मान करना चाहिए, उसी प्रकार अनाग्रह का सिद्धान्त कहता है कि सत्य जहाँ भी हो, उसका सम्मान करना चाहिए। वस्तुतः पक्षाग्रह की धारणा से विवाद का जन्म होता है। व्यक्ति जब स्व-मत की प्रशंसा और दूसरों की निन्द करता है, तो परिणामस्वरूप सामाजिक जीवन में संघर्ष का प्रादुर्भाव हो जाता है। वैचारिक आग्रह न केवल वैयक्तिक विकास को कुण्ठित करता है, वरन् सामाजिक जीवन में विग्रह, विषाद और वैमनस्य के बीज बो देता है। सूत्रकृतांग में कहा गया है कि जो अपने-अपने मत की प्रशंसा और दूसरे मत की निन्दा करने में ही अपना पाण्डित्य दिखाने हैं और लोक को सत्य से भटकाते हैं, वे एकान्तवादी स्वयं संसारचक्र में भटकते रहते हैं। वस्तुतः जहाँ भी आग्रहबुद्धि होगी, विपक्ष में निहित सत्य का दर्शन सम्भव नहीं होगा और जो विपक्ष में निहित सत्य नहीं देखेगा वह सम्पूर्ण सत्य का द्रष्टा नहीं होगा। जैनधर्म के अनुसार सत्य का प्रकटन आग्रह में नहीं, अनाग्रह में होता है। सत्य का साधक वीतराग और अनाग्रही होता है। जैनधर्म अपने अनेकान्त के सिद्धान्त के द्वारा एक अनाग्रही एवं समन्वयात्मक दृष्टि प्रस्तुत करता है, ताकि वैचारिक एवं धार्मिक असन्निष्ठा को समाप्त किया जा सके।

अनासक्ति -- व्यक्ति के अन्दर निहित आसक्ति दो रूपों में प्रकट होती है -- १. संग्रह-भावना और २. भोग-भावना। संग्रह-भावना और भोग-भावना से प्रेरित होकर ही

मनुष्य दूसरों के अधिकार की वस्तुओं का अपहरण करता है। इस प्रकार आसक्ति बाह्यतः तीन रूपों में प्रकट होती है -- १. अपहरण (शोषण), २. भोग और ३. संग्रह। आसक्ति के तीन रूपों का निग्रह करने के लिए जैन आचारदर्शन में अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह महाव्रतों का विधान है। संग्रह-वृत्ति का अपरिग्रह से, भोगवृत्ति का ब्रह्मचर्य से और अपहरणवृत्ति का अस्तेय महाव्रत से निग्रह होता है। जैन आचार्यों ने जिस अपरिग्रह के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया, उसके मूल में यही अनासक्ति की जीवन दृष्टि कार्य कर रही है। यद्यपि आसक्ति एक मानसिक तथ्य है, मन की ही एक वृत्ति है, तथापि उसका प्रकटन बाह्य है। वह सामाजिक जीवन को दूषित करती है। अतः आसक्ति के प्रहाण के लिए व्यावहारिक रूप में परिग्रह का त्याग भी आवश्यक है।

परिग्रह या संग्रहवृत्ति सामाजिक हिंसा है। जैन आचार्यों की दृष्टि में समग्र परिग्रह हिंसा से प्रत्युत्पन्न है। क्योंकि बिना हिंसा (शोषण) के संग्रह असम्भव है। व्यक्ति संग्रह के द्वारा दूसरों के हितों का हनन करता है और इस रूप में संग्रह या परिग्रह हिंसा का ही एक रूप है। अनासक्ति को जीवन में उतारने के लिए जैन आचार्यों ने यह आवश्यक माना कि मनुष्य बाह्य-परिग्रह का भी त्याग या परिसीमन करे। परिग्रह-त्याग अनासक्त दृष्टि का बाह्य जीवन में दिया गया प्रमाण है। एक ओर विपुल संग्रह और दूसरी ओर अनासक्ति, इन दोनों में कोई मेल नहीं है। यदि मन में अनासक्ति की भावना का उदय है तो उसे बाह्य व्यवहार में अनिवार्य रूप से प्रकट होना चाहिए। जैनदर्शन के अनुसार समविभाग और समवितरण साधना का आवश्यक अंग है। इसके बिना आध्यात्मिक उपलब्धि भी संभव नहीं। अतः जैन आचार्यों ने साधना की दृष्टि से अपरिग्रह को अनिवार्य एक तत्त्व माना है।

इस प्रकार वृत्ति में अनासक्ति, विचार में अनेकान्त और व्यवहार में अहिंसा जैन साधना का सार हैं। जैन साधक सदैव ही यह प्रार्थना करता है --

*सत्त्वेषु मैत्रीं, गुणीषु प्रमोदं, क्लिष्टेषु जीवेषु कृपापरत्वं ।
माध्यस्थ्यभावं वीपरीतवृत्तौ सदानमात्मा विद्धातु देव ॥*

हे प्रभु ! मेरे हृदय में प्राणि मात्र के प्रति मैत्रीभाव, गुणीजनों के प्रति समादरभाव, दुःखियों के प्रति करुणाभाव और विरोधियों के प्रतिमाध्यस्थ्य भाव बना रहे।

भगवान् महावीर का जीवन और दर्शन

- डॉ. सागरमल जैन

भगवान् महावीर का जन्म बौद्धिक जागरण के युग में हुआ था। उस युग में भारत में हमारे औपनिषदिक ऋषि नित-नूतन चिन्तन प्रस्तुत कर रहे थे। महावीर और बुद्ध भी उसी वैचारिक क्रांति के क्रम में आते हैं। लेकिन प्रश्न यह उठता है कि महावीर की विशेषता क्या थी ? बुद्ध की विशेषता क्या थी ? यह एक सुनिश्चित तथ्य है कि कोई भी महापुरुष अपने युग की परिस्थितियों की पैदाइश होता है। महावीर और बुद्ध जब इस भूमण्डल पर आये उनके सामने दो प्रकार की समस्याएँ थीं। एक ओर वैचारिक संघर्ष था दूसरी ओर मनुष्य अपनी मानवीय गरिमा और मूल्यवत्ता को भूलता जा रहा था। महावीर ने जो मुख्य कार्य किया वह यह कि उन्होंने मनुष्य को उसकी विस्मृत महत्ता या गरिमा का बोध कराया। अगर महावीर के जीवन दर्शन को दो शब्दों में कहना हो तो हम कहेंगे विचार में उदारता और आचार में कठोरता।

वैचारिक क्षेत्र में महावीर की जीवन दृष्टि जितनी उदार, सहिष्णु और समन्वयवादी रही, आचार के क्षेत्र में महावीर का दर्शन उतना ही कठोर रहा। महावीर के जीवन के सन्दर्भ में हमारे सामने एक बात बहुत ही स्पष्ट है, वह यह कि वह व्यक्ति राज परिवार में, सम्पन्न परिवार में जन्म लेता है लेकिन फिर भी वह उस सारे वैभव को ठुकरा देता है और श्रमण जीवन अंगीकार कर लेता है। आखिर ऐसा क्यों करता है ? उसके पीछे क्या उद्देश्य है ? क्या महावीर ने यह सोचकर संन्यास ले लिया कि श्रमण या संन्यासी होकर ही मुक्ति प्राप्त की जा सकती ? ऐसी बात नहीं थी, क्योंकि महावीर ने स्वयं ही आचारांग में कहा है "गामे वा रण्णे वा" धर्म साधना गांव में भी हो सकती है और अरण्य में भी हो सकती है। फिर महावीर ने संन्यास का मार्ग क्यों चुना ? उत्तर स्पष्ट है "समिच्च लोए खेयन्ने पवेइए" समस्त लोक की पीड़ा को जानकर और जगत् को दुःख और पीड़ा से मुक्त करने के लिए महावीर ने संन्यास धारण किया। वे अपने वैयक्तिक जीवन से एक ऐसा आदर्श प्रतिष्ठित करना चाहते थे, जिसे सम्मुख रखकर के व्यक्ति मानवता के कल्याण की दिशा में आगे बढ़ सकता है। सम्भवतः प्रश्न यह हो सकता है कि लोकमंगल और लोककल्याण के लिए श्रमणत्व क्यों आवश्यक है ? मित्रों ! हम आज के युग में भी देखते हैं कि जब तक व्यक्ति कहीं भी अपने निजी स्वार्थों से और वैयक्तिक तथा पारिवारिक कल्याण से जुड़ा होता है तब तक वह सम्यक् रूप से लोककल्याण का सम्पादन नहीं कर सकता। चाहे आप उसको लोककल्याण अधिकारी क्यों नहीं बना दें क्या वह लोककल्याण कर सकेगा ? व्यक्ति जब तक अपने स्वार्थों एवं हितों से ऊपर नहीं उठ जाता है, तब तक वह लोकमंगल का सृजन नहीं कर सकता।

लोकमंगल के सृजन के लिए निजी सुखाकांक्षाओं से, स्वार्थों से, अहम् से, मैं और मेरे के भाव से ऊपर उठना आवश्यक होता है। इसीलिए चाहे वे महावीर हों या चाहे बुद्ध हों या अन्य कोई, लोकमंगल के लिए तो अपने आपको पूरी तरह से लौकिक ऐषणाओं, वासनाओं और कषायों से ऊपर उठाना होगा। ममत्व और मेरेपन के घेरे को समाप्त करना होगा।

महावीर के सम्बन्ध में जो बात मैं आपके सामने प्रस्तुत करने जा रहा हूँ उसमें मुख्य है महावीर की वैचारिक उदारता। समाज में अगर कोई संघर्ष है तो उस संघर्ष का समाधान वैचारिक उदारता के बिना सम्भव नहीं है। विचारों के प्रति भी ममत्व या आग्रह को समाप्त करना होगा। इसलिए महावीर ने तो कभी यह भी नहीं कहा कि मैं किसी नवीन धर्म का प्रवर्तन कर रहा हूँ न कोई नवीन सिद्धान्त तुम्हें दे रहा हूँ। महावीर ने विनय भाव से यही कहा कि -- "समियाए आयरिए धम्मे पवेइए" आर्यजनों के समभाव में धर्म कहा है। महावीर की इस विनयता और उदारता को समझिये और उससे प्रेरणा लिजिये। आचारांग में वे कहते हैं --

"जे अरहन्ता भगवन्ता पडिपुन्ना, जे वा आगमिस्सा, जे वा आसि ते सव्वे इमं भासंति, परुवेंति सव्वे सत्ता न हन्तव्वा, एस धम्मो सुदो णिच्चो सासयो।"

जो अरहंत हो चुके हैं, जो होंगे और जो हैं, वे सब एक ही बात कहते हैं कि किसी भी प्राणी को दुःख या पीड़ा नहीं देना चाहिए। यही शुद्ध नित्य और शाश्वत धर्म है।

इसलिए मेरा निवेदन है कि महावीर को किसी धर्म विशेष के साथ बाँधे नहीं। उनको किसी एक धर्म और सम्प्रदाय के साथ बाँध करके हम उनके साथ न्याय नहीं कर पायेंगे।

मुझे आश्चर्य लगता है कि जब विद्वान् यह कहते हैं कि भगवान् महावीर जैन धर्म के प्रवर्तक हैं। मित्रों विचार करें। यह जैन शब्द कब का है ? छठी शताब्दी के पहले हमें "जैन" शब्द का कहीं उल्लेख ही नहीं मिलता।

जब भी महावीर से कोई उनका परिचय पूछता था तो वे कहते थे -- मैं श्रमण हूँ, निर्गन्थ हूँ। निर्गन्थ कौन हो सकता है ? महावीर कहते थे "जे मणं परिजाणइ से निर्गन्थे -- जो मन का द्रष्टा है वही निर्गन्थ है। महावीर अपने आपको किसी घेरे में बांध करके खड़ा होना ही नहीं चाहते थे। जो भी मन का द्रष्टा है, जो अपने विचारों का, विकारों का और अपनी वासनाओं का साक्षी है, द्रष्टा है वही निर्गन्थ है। अपने हृदय की ग्रन्थि को देख लेना, यही निर्गन्थ की पहचान है। उनकी साधना यात्रा प्रारम्भ होती थी अन्तरदर्शन से, अन्दर झाँकने से। यही उनका आत्मदर्शन था। महावीर ने जो सिखाया वह यही कि व्यक्ति अपने अन्दर देखें, अपने आपको परखें। क्योंकि यही वह मार्ग था जो कि व्यक्ति को अपने आध्यात्मिक विकास की दिशा में ले जाता है। महावीर ने सम्पूर्ण जीवन में जो कुछ कहा और जो कुछ किया उसका मूलभूत सार तत्त्व यही है। महावीर जीवन पर्यन्त यही कहते रहे -- ज्ञाता और द्रष्टा बनों। यही वह मूल आधार है जहाँ स्थित होकर आत्म विश्लेषण के द्वारा हम अपनी और समाज की सारी समस्याओं को समझ सकते हैं। आज हमारा दुर्भाग्य यह है कि हम अपने भीतर के वासनाओं

और कषायों के कूड़े-कचरे को न देखकर, अपितु उस पर सुनहला आवरण डाल करके अपना जीवन व्यवहार चलाना चाहते हैं। इसके कारण न केवल हमारा जीवन विषाक्त बनता है अपितु सामाजिक परिवेश भी विषाक्त बनता है। महावीर ने कहा था कि जब तक तुम अपने आपको वासनाओं और कषायों से ऊपर नहीं उठा सकते तब तक तुम लोकमंगल की साधना नहीं कर सकते।

हम जानते हैं कि महावीर के जीवन के साढ़े बारह वर्ष कठोर साधना के वर्ष हैं। उन वर्षों में उन्होंने कोई उपदेश नहीं दिया। जैनों की एक परम्परा तो यहाँ तक कहती है कि उसके बाद भी भगवान् बोले नहीं। लेकिन आज हम सब अधिक मुखर हो गये हैं। हम बोलते अधिक हैं और करते कम हैं। महावीर ने बोला बहुत अल्प और किया बहुत अधिक। महावीर का दर्शन था कि यदि आप अपने जीवन को परिष्कारित कर लेते हैं तो आपका जीवन ही बोलेगा। ऐसे व्यक्ति के लिए शाब्दिक उपदेश देने की भी कोई आवश्यकता नहीं है, क्योंकि उसकी जीवन शैली ही उपदेश है। आज हमारा दुर्भाग्य यह है कि हमारा जीवन नहीं बोलता है, हम मात्र उपदेश देते हैं। महावीर के जीवन और दर्शन में कितनी व्यापकता एवं उदारता थी, इसकी कल्पना हम महावीर को जैन धर्म के चौखटे में खड़ा करके नहीं देख सकते। बुद्ध और महावीर दोनों के साथ सम्भवतः यह अन्याय हुआ है कि एक वर्ग विशेष ने जब उन्हें अपना लिया तो दूसरे वर्ग ने उनसे अपना सम्बन्ध विच्छेद कर लिया। अगर हम जैनधर्म और बौद्धधर्म के प्राचीनतम स्वरूप को देखें तो ज्ञात होगा कि महावीर और बुद्ध भारत की उसी ऋषि परम्परा के अंग हैं, जिनके उल्लेख वैदिक परम्परा के उपनिषदों में जैन परम्परा के ऋषिभाषित और उत्तराध्ययन में तथा बौद्ध परम्परा के धेरगाथा और सुत्तनिपात में मिलते हैं। मुझे अपने अध्ययन के दौरान ऋषिभाषित के अध्ययन का सौभाग्य मिला है। प्राकृत का यह ग्रन्थ, जो किसी समय जैन आगम साहित्य का एक भाग था, शताब्दियों से जैनों में भी उपेक्षित बना रहा। जहाँ उसमें निर्गन्थ परम्परा के पार्श्व और महावीर के वचनों का संकलन है, वहीं उसमें औपनिषदिक परम्परा के नारद, अरुण, उद्दालक और भारद्वाज आदि का, बौद्ध परम्परा के वज्जीपुत्त और सारिपुत्त, महाकाश्यप आदि का तथा अन्य भ्रमण परम्पराओं के मंखलीगोशाल, संजय वेल्ठ्ठीपुत्त आदि का भी उल्लेख है। उन सबके लिए 'अर्हत्' इसी विशेषण का प्रयोग किया गया है। ग्रन्थकार के लिए महावीर भी अर्हत् ऋषि हैं तो उद्दालक आदि भी अर्हत् ऋषि हैं।

यदि आप उस ग्रन्थ को पढ़ें तो आपको यह स्पष्ट लग सकता है कि वह ग्रन्थ किसी परम्परा के आग्रह से जुड़ा हुआ नहीं है। महावीर ने जो वैचारिक उदारता दी थी उसी का परिणाम यह ग्रन्थ था। सम्भवतः जो दुर्भाग्य प्रत्येक महापुरुष के साथ होता है, वही महावीर के साथ भी घटित हुआ। कुछ लोग उनके आसपास घेरा बना करके खड़े हो गये और इस प्रकार वे समाज के अन्य वर्गों से कट गये। अगर हम आज भी भारतीय चिन्तन की उदार वेतना को सम्यक् रूप से कुछ समझना चाहते हैं तो मैं आपसे कहूँगा कि हमें उपनिषदों ऋषिभाषित और धेरगाथा जैसे ग्रन्थों का निष्पक्ष भाव से अध्ययन करना चाहिए। मित्रों अगर बौद्ध यह समझते

रहें कि धेरगाथा के सारे "धेर" बौद्ध थे और जैन यह समझते रहें कि "इसिभासियाई" के सारे ऋषि जैन थे, तो इससे बड़ी भ्रान्ति और कोई नहीं होगी। धेर गाथा में वर्द्धमान धेर हैं और यह वर्द्धमान धेर लिखवी पुत्र हैं यह बात उसकी अट्ठकथा कह रही है, तो क्या हम यह माने कि वर्द्धमान बुद्ध का शिष्य या बौद्ध था। मित्रों हमारा जो प्राचीन साहित्य है वह उदार और व्यापक दृष्टि से युक्त है और महावीर ने जो हमको जीवन दृष्टि दी थी -- वह दृष्टि थी वैचारिक उदारता की।

आपको मैंने अपने वक्तव्य के पूर्व में संकेत किया था कि महावीर और बुद्ध जिस काल में जन्में थे वह दार्शनिक चिन्तन का काल था। अनेक मत-मतांतर, अनेक दृष्टिकोण, अनेक विचारधारायें उपस्थित थीं। महावीर और बुद्ध दोनों के सामने यह प्रश्न था, मनुष्य इन विभिन्न दृष्टिकोणों में किसको सत्य कहे। महावीर ने कहा कि सभी बातें अपने-अपने दृष्टिकोण या अपेक्षा भेद से सत्य हो सकती हैं, इसलिए किसी को भी गलत मत कहो जबकि बुद्ध ने कहा कि तुम इन दृष्टियों के प्रपंच में मत पड़ो, क्योंकि ये दुःख विमुक्ति में सहायक नहीं हैं।

एक ने इन विभिन्न दृष्टियों से ऊपर उठाने की बात कही तो दूसरे ने उन दृष्टियों को समन्वय के सूत्र में पिरोने की बात कही। सूत्रकृताङ्गसूत्र में महावीर कहते हैं --

**"सयं सयं पसंसंता गरहंता परं वयं।
जे उ तत्थ विउस्संति संसारे ते विउस्सिया" ।।**

जो अपने-अपने मत की प्रशंसा करते हैं और दूसरे के मतों की निन्दा करते हैं और जो सत्य को विद्रूपित करते हैं वे संसार में परिभ्रमण करेंगे।

आज हमारे दुर्भाग्य से देश में धर्म के नाम पर संघर्ष हो रहे हैं। क्या वस्तुतः संघर्ष का कारण धर्म है ? क्या धर्म संघर्ष सिखाता है ! मित्रों मूल बात तो यह है कि हम धर्म के उत्स को ही नहीं समझते हैं, हम नहीं जानते हैं कि वस्तुतः धर्म क्या है ? हम तो धर्म के नाम पर आरोपित कुछ कर्मकाण्डों, कुछ रूढ़ियों या कुछ व्यक्तियों से अपने को बांध करके यह कहते हैं यही धर्म है। महावीर ने इस तरह के किसी भी धर्म का उपदेश नहीं दिया। महावीर ने कहा था कि "धम्मो सुद्धस्स चिट्ठइ" धर्म तो शुद्ध चित्त में रहता है। धर्म "उज्जुभूयस्स" चित्त की सरलता में है। वस्तुतः जहाँ सरलता है, सहजता है, वहीं धर्म है। धर्म है क्या ? महावीर ने कहा था कि "समिथाए आयरिए धम्मो पव्वइये" समभाव में समत्व की साधना में ही आर्य जनों ने धर्म कहा है। महावीर कहते हैं कि जहाँ भी समत्व की साधना है, जहाँ भी व्यक्तियों को तनाव से मुक्त करने का कोई प्रयत्न है, वैयक्तिक जीवन और सामाजिक जीवन से तनाव और संघर्ष को समाप्त करने का कोई प्रयास है, वहीं धर्म है। ऐसा धर्म चाहे आप उसे जैन कहें, बौद्ध कहें, हिन्दू कहें वह धर्म, धर्म है और सभी महापुरुष धर्म के इसी उत्स का प्रवर्तन करते हैं।

महावीर का जो जीवन और दर्शन है वह हमारे सामने इस बात को स्पष्ट रूप से प्रस्तुत करता है कि हम वैयक्तिक जीवन में वासनाओं से ऊपर उठें, अपने विकारों पर नियंत्रण का

प्रयत्न करें और सामाजिक जीवन में लोकमंगल की साधना करें। वैयक्तिक जीवन में वासनाओं से शुद्धि और सामाजिक जीवन में संघर्षों का निराकरण -- ये दो बातें ऐसी हैं जो महावीर के जीवन और दर्शन को हमारे सामने सम्यक् रूप से प्रस्तुत करती हैं।

अनेकान्त का सिद्धान्त स्पष्ट रूप से इस बात को बताता है कि व्यक्ति अपने को आग्रह के घेरे में खड़ा न करें। सत्य का सूरज किसी एक के घर को प्रकाशित करेगा और दूसरे के घर को प्रकाशित नहीं करेगा, यह नहीं हो सकता। सूरज का काम है प्रकाश देना, जो भी अपना दरवाजा, अपनी छत, खुली रख सकेगा उसके यहाँ सूर्य का प्रकाश आ ही जायेगा। मित्रों ! यही स्थिति सत्य की है। यदि आपके मस्तिष्क का दरवाजा या खिड़की खुली है तो सत्य आपको आलोकित करेगा ही। लेकिन अगर हमने अपने आग्रहों के दरवाजों से अपनी मस्तिष्क की खिड़की को बन्द कर लिया है तो सत्य का प्रकाश प्रवेश नहीं करेगा। सत्य न तो मेरा होता है न पराया ही। वह सबका है और वह सर्वत्र हो सकता है। "मेरा सत्य" यह महावीर की दृष्टि में सबसे बड़ी भ्रान्ति है। आचार्य सिद्धसेन महावीर की स्तुति करते हुए कहते हैं कि -- "भद्रं मिच्छादंसेण समूह मइयस्स अमयसारस्स" हे प्रभु मिथ्या दर्शन समूह रूप अमृतमय आपके वचनों का कल्याण हो"। महावीर का अपना कुछ भी नहीं है-- जो सबका है वही उनका है और अगर हम दार्शनिक गहराई में न जायें और महावीर के दर्शन को जीवन-मूल्यों के साथ उसे जोड़ें तो हम पायेंगे कि वह वैयक्तिक जीवन में और सामाजिक जीवन में संघर्षों के निराकरण और समत्व की साधना की बात कहता है। "प्रश्नव्याकरणसूत्र" में अहिंसा के साठ नाम दिये हैं। जितने सारे सद्गुण हैं, वे समस्त सद्गुण अहिंसा में समाहित हैं। अहिंसा और अनेकान्त -- ये दो महावीर के धर्म चक्र के दो पहिये हैं, जिनके आधार पर धर्मरूपी रथ आगे बढ़ता है।

मैं अब आपका अधिक समय नहीं लेना चाहूँगा और अन्त में यही कहना चाहूँगा कि अगर महावीर को समझना है तो उन्होंने वैयक्तिक जीवन में जो कठोर साधनाएँ की हैं उनकी ओर देखें, यह देखें कि वासनाओं और विकारों से कैसे लड़े ? यदि सामाजिक जीवन के सन्दर्भ में उनके जीवन को समझना है तो उनकी वैचारिक उदारता और लोकमंगल की कामना को समझे और जीयें। सम्भवतः तभी हम महावीर को सम्यक् प्रकार से समझ सकेगें।

जैन धर्म में भक्ति की अवधारणा

- प्रो. सागरमल जैन

जैनधर्म में भक्ति की अवधारणा का विवेचन करने के पूर्व यह विचार करना आवश्यक है कि 'भक्ति' शब्द का तात्पर्य या अर्थ क्या है और वह जैनधर्म में किस अर्थ में स्वीकृत है। भक्ति शब्द भज् धातु में क्तिन् प्रत्यय लगकर बना है। भज् धातु का अर्थ है-- सेवा करना। किन्तु यथार्थ में भक्ति शब्द का अर्थ इससे कहीं अधिक व्यापक है। सामान्यतया आराध्य या उसके विग्रह की गुणसंकीर्तन, स्तुति, वन्दन, प्रार्थना, पूजा और अर्चा के रूप में जो सेवा की जाती है, उसे हम भक्ति नाम देते हैं। यद्यपि यह स्मरण रखना है कि ये सब क्रियायें भी तब तक भक्ति नहीं कही जा सकती हैं, जब तक इनके मूल में आराध्य के प्रति पूज्यबुद्धि, श्रद्धा, अनुराग और समर्पण का भाव नहीं हो। जैनाचार्य पूज्यपाद देवन्दी ने भक्ति की व्याख्या निम्न रूप में की है--

अर्हदाचार्य बहुश्रुतप्रवचनेषु भाव विशुद्धि युक्तोऽनुरागो भक्ति -- सर्वार्थसिद्धि

अर्थात् अर्हत्, आचार्य, बहुश्रुत एवं आगम के प्रति भावविशुद्धि पूर्वक जो अनुराग है, वह भक्ति है। प्रो. रामचन्द्र शुक्ल ने प्रेमपूर्ण श्रद्धा को भक्ति कहा है। कुछ विद्वानों ने इसे आराध्य और आराध्यक के मध्य एक रागात्मक सम्बन्ध माना है। किन्तु मेरी दृष्टि में भक्ति शब्द का तात्पर्य इन सबसे अधिक है।

यह सत्य है कि भक्ति का उदय उपास्य और उपासक या भक्त और भगवान के बीच एक दूरी या द्वैत में ही होता है, किन्तु इसकी चरम निष्पत्ति इस द्वैत को समाप्त करने में ही है। जैसे-जैसे भक्त और भगवान् या आराध्य और आराध्यक के मध्य की यह दूरी सिमटती जाती है और एक ऐसा समय आता है जब व्यक्ति उस द्वैत को समाप्त कर स्वयं में भगवत्ता की अनुभूति कर लेता है। यही भक्ति का परिपाक है, यहाँ ही वह पूर्णता को प्राप्त होती है। जैन धर्म की विशेषता यही है कि उसमें भक्ति का प्रयोजन इस द्वैत या दूरी को समाप्त करना ही माना गया है।

जैनों के अनुसार यह द्वैत तब ही समाप्त होता है, जब भक्त स्वयं भगवान बन जाता है। यद्यपि हमें स्मरण रखना होगा कि अनीश्वरवादी एवं प्रत्येक आत्मा की स्वतन्त्र सत्ता मानने

- प्रो. कल्याणमल लोढ़ा के निर्देश से भारतीय भाषा परिषद् कलकत्ता द्वारा प्रकाश्य 'भारतीय भक्ति : तत्त्व, दर्शन एवं साहित्य' के हेतु लिखित आलेख, सामार

वाले जैन दर्शन में इस द्वैत के समाप्त होने का अर्थ अद्वैत वेदान्त की तरह भक्त की वैयक्तिक सत्ता का ब्रह्म में विलय नहीं है। साथ ही जैनदर्शन द्वैतवादियों या विशिष्टाद्वैतवादियों की तरह यह भी नहीं मानता है कि भक्ति की चरम निष्पत्ति में भी भक्त और भगवान का द्वैत बना रहता है, चाहे वह सारूप्य मुक्ति को ही क्यों प्राप्त कर लें।

जैनदर्शन के अनुसार भक्ति की चरम निष्पत्ति आत्मा द्वारा अपने ही निरावरण शुद्ध स्वरूप या परमात्म स्वरूप को प्राप्त करना है-- वह स्वयं परमात्मा बन जाना है। वह स्वयं के द्वारा स्वयं को पाना है।

भक्ति और प्रेम :

सामान्यतया भक्ति में अनुराग या प्रेम को एक आवश्यक तत्त्व माना गया है। परमात्मा के प्रति निश्छल प्रेम भक्ति का आधार है। किन्तु यहाँ प्रश्न यह उपस्थित होता है कि क्या वीतरागता के उपासक जैन धर्म में भक्ति की अवधारणा के साथ प्रेम को अपरिहार्य माना जा सकता है। यह सत्य है कि अनुराग या प्रेम की उत्कटता ही भक्ति का रूप लेती है किन्तु एक ओर राग के प्रहाण या वीतरागदशा की प्राप्ति का प्रयास अ दूसरी ओर अनुराग या प्रेम की साधना -- ये दोनों एक साथ कैसे सम्भव है ? वीतरागता का साधक राग या अनुराग से कैसे जुड़ सकता है। यद्यपि यह भी सत्य है कि जैन परम्परा में उहाँ भक्ति भाव की अभिव्यक्ति हुई है, वहाँ किसी न किसी रूप में तीर्थंकर प्रभु के प्रति प्रेम या अनुराग की चर्चा अवश्य हुई है। जैन परम्परा में राग दो प्रकार का माना गया है --

- (1) प्रशस्तराग और (2) अप्रशस्त राग।

यदि हम भक्ति को रागात्मक सम्बन्ध या अनुराग मानते हैं तो जैनधर्म में भक्ति का स्थान इसी प्रशस्तराग के अन्तर्गत हो सकता है। किन्तु ऐसा प्रशस्त राग भी जैन साधना का आदर्श नहीं माना जा सकता है। जैन परम्परा में गौतम से अधिक श्रेष्ठ भक्त और कौन हो सकता है? महावीर के प्रति उनकी अनन्य भक्ति या अनुराग लोकविश्रुत है। किन्तु जैन विचारक यह मानते हैं कि ऐसा प्रशस्त राग भी मोक्ष मार्ग के पथिक के लिए बाधक ही है। गौतम की महावीर के प्रति यह अनन्य भक्ति या रागात्मकता उनकी मोक्ष प्राप्ति में बाधक ही मानी गयी है। वे महावीर के जीवित रहते वीतरागदशा या कैवल्य को उपलब्ध नहीं कर सके। महावीर ने स्वयं कहा था कि स्नेह या अनुराग तो मोक्ष मार्ग में एक अर्गला है (मुखमग पवन्नानं सिनेहो वज्ज सिखला-कल्पसूत्रटीका, विनयविजय, पृ. १२०)। जैन परम्परा में भक्ति श्रद्धा पर आधारित तो मानी गयी, किन्तु उसे राग या प्रेम रूप में स्वीकार नहीं किया गया। यह एक अलग बात है कि परवर्ती जैनाचार्यों ने भक्ति के इस रागात्मक स्वरूप को अपनी परम्परा में स्थान दिया। यह भी ठीक है कि एक भावुक आदमी वासनात्मक प्रेम या अप्रशस्त राग से छुटकारा पाने के लिए प्रशस्त राग का सहारा ले, किन्तु अन्ततोगत्वा हमें यही मानना होगा कि वीतरागता की उपासक जैन परम्परा में रागात्मकता को भक्ति का आधार नहीं माना जा सकता है। प्रेम चाहे कैसा भी हो, वह बन्धन है अतः उसे अतिक्रान्त करना आवश्यक है।

श्रद्धा और भक्ति :

भक्ति में श्रद्धा का तत्त्व प्रमुख होता है, किन्तु हमें यह भी स्मरण रखना होगा कि श्रद्धा एवं भक्ति में एक महत्त्वपूर्ण अन्तर भी है। श्रद्धा और भक्ति में मुख्य अन्तर तो यह है कि जहां श्रद्धा आराध्य अथवा सिद्धान्त अथवा दोनों के प्रति हो सकती है, वहीं भक्ति सदैव ही आराध्य के प्रति होती है, सिद्धान्त के प्रति नहीं। सिद्धान्त के प्रति तो मात्र श्रद्धा/आस्था होती है, भक्ति नहीं। क्योंकि भक्ति वैयक्तिक (Personal) होती है। पुनः जहां भक्ति के लिए श्रद्धा आवश्यक तत्त्व है। वहां श्रद्धा के लिए भक्ति आवश्यक नहीं। अपने प्रचलित अर्थ की दृष्टि से श्रद्धा और भक्ति में एक महत्त्वपूर्ण अन्तर यह भी है कि श्रद्धा मात्र एक निष्क्रिय भाव-दशा है, वह किसी के प्रति अनन्य निष्ठा की द्योतक है और वह निष्ठा सिद्धान्त अथवा व्यक्ति किसी के प्रति भी हो सकती है। श्रद्धा कारण है, भक्ति कार्य। भक्ति तो श्रद्धा की बाह्य अभिव्यक्ति है, वह चित्त की सक्रिय भाव दशा है। पूज्य-बुद्धि और पूजा में जो अन्तर है वहीं अन्तर श्रद्धा और भक्ति में है। श्रद्धा पूज्य-बुद्धि है, पूजा नहीं। पूजा पूज्य-बुद्धि की बाह्य अभिव्यक्ति है। सत्य तो यह है कि श्रद्धा जब सक्रिय होकर क्रियात्मक रूप में बाह्य जगत् में अभिव्यक्त होती है, तो वह भक्ति बन जाती है। वह श्रद्धा एवं कर्म का समन्वय है। वह श्रद्धा युक्त कर्म है। निर्गुण भक्ति में भी चाहे प्रतिमा-पूजा या अर्चा न हो, किन्तु नाम-स्मरण, संकीर्तन आदि कर्मों तथा विह्वलता आदि भावों की बाह्य अभिव्यक्ति तो है ही, श्रद्धा और भक्ति दोनों ही वैयक्तिक हैं, सार्वजनिक नहीं। फिर भी श्रद्धा नितान्त वैयक्तिक है, मात्र चैतसिक है, उसे किसी भी स्थिति में सामूहिक नहीं बनाया जा सकता है, वहां भक्ति के नाम संकीर्तन, पूजा, अर्चा आदि रूपों में बाह्य अभिव्यक्ति सम्भव होने से उसे सामूहिक या सार्वजनिक बनाया जा सकता है। यदि हम भक्ति के घटकों की चर्चा करें तो उसमें श्रद्धा, प्रेम, समर्पण, नाम-स्मरण, स्तुति, विग्रह-पूजा और सेवा सभी समाहित है। इस प्रकार भक्ति एक व्यापक परिप्रेक्ष्य को अभिव्यक्त करती है। श्रद्धा तो भक्ति का एक अंग मात्र है, भक्ति में श्रद्धा आवश्यक है, किन्तु श्रद्धा भक्ति का रूप ले ही यह आवश्यक नहीं है। जैनधर्म में जब हम भक्ति की चर्चा करते हैं तो हमें श्रद्धा एवं भक्ति के इस अन्तर को दृष्टिगत रखना होगा। क्योंकि जैनधर्म मूलतः निवृत्ति परक है, अतः उसमें श्रद्धा की ही प्रधानता रही है। पुनः जैनधर्म निरीश्वरवादी है, अतः उसमें श्रद्धा या भक्ति का केन्द्र सृष्टिकर्त्ता या जगत् नियन्ता ईश्वर न होकर शुद्धात्मस्वरूप वीतराग दशा ही रही है। उसकी श्रद्धा के केन्द्र हैं -- देव (वीतरागदशा प्राप्त व्यक्ति), गुरु और धर्म। किन्तु जैन धर्म में जैसे ही प्रतीकोपासना या जिन प्रतिमा की पूजा की परम्परा स्वीकृत हुई, उसमें तीर्थंकर प्रतिमा की उपासना के साथ भक्ति के अन्य पक्षों का विकास प्रारम्भ हो गया।

भारत में भक्ति की अवधारणा का विकास :

भारतीय धर्मदर्शन के क्षेत्र में भक्ति की अवधारणा अति प्राचीन काल से उपस्थित रही है। मोहनजोदड़ो एवं हड़प्पा से प्राप्त हुई सीलों के परिदृश्यों के आधार पर यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि उस समय भी मूर्ति पूजा या प्रतीक पूजा अस्तित्व में थी और इस दृष्टि से यह

ज्ञानने में कोई बाधा नहीं है कि उस युग में किसी न किसी रूप में भक्ति की अवधारणा भी उपस्थित थी। यदि हम वैदिक साहित्य की ओर मुड़ते हैं, तो उसमें भी जो ऋग्वेदादि प्राचीन स्तर के ग्रन्थ हैं, उनमें चाहे मूर्ति-पूजा या विग्रह-पूजा का निर्देश नहीं हो, किन्तु यह भी नहीं कहा जा सकता है कि वहां भक्ति की अवधारणा पूर्णतया अनुपस्थित है। क्योंकि ऋग्वेद के सूक्तों में भी स्तुति सम्बन्धी सूक्त ही सर्वाधिक हैं। स्तुति के साथ भी पूज्य-बुद्धि और श्रद्धा का तत्त्व तो जुड़ा ही होता है। इसलिए हम यह कह सकते हैं कि वैदिक काल में चाहे विग्रह-पूजा या मूर्ति-पूजा न रही हो, किन्तु श्रद्धा व स्तुति के रूप में उसमें भक्ति का तत्त्व तो है ही। आगे चलकर औपनिषदिक काल और विशेष रूप से गीता के रचनाकाल में तो हमें भक्ति की एक सुस्थापित परम्परा उपलब्ध होती है। गीता में जिन योगों (साधना-विधियों) की चर्चा मिलती है, उसमें भक्तियोग सबसे महत्त्वपूर्ण है। यद्यपि गीता की ज्ञानयोग परक एवं कर्मयोग परक व्याख्याएँ भी की गयीं, किन्तु यदि हम गीता की अन्तरात्मा में झाँककर देखें तो लगता है कि उसमें भक्ति या समर्पण भाव ही एक केन्द्रीय तत्त्व है। कर्म की निष्कामता का आधार भी कर्म-फल की आकांक्षा का प्रभु के प्रति समर्पण ही है। यह बात अलग है कि गीता ज्ञान एवं कर्म को भी समान रूप से महत्त्व देती है, किन्तु उसमें इन्हें भी भक्ति के कारण व कार्य के रूप में व्याख्यायित किया जा सकता है। परमात्मा के स्वरूप का ज्ञान, जो कि गीता के ज्ञानयोग का प्रतिपाद्य है, अन्ततोगत्वा प्रभु के प्रति अनन्य निष्ठा में परिणित होता है। दूसरी ओर गीता यही कहती है कि श्रद्धावान ही प्रभु के ज्ञान को प्राप्त होता है (४/३६) पुनः गीता का कर्मयोग भी वस्तुतः परमात्मा के प्रति न केवल कर्मफल का पूर्ण समर्पण है अपितु समर्पित भाव से उसके आदेशों का परिपालन भी है। गीता लोकसेवा को भी प्रभु की सेवा में अर्न्तभावित कर कर्मयोग को भक्तियोग बना देती है। गीता में ज्ञान वह है जिससे भक्ति की धारा प्रसृत होती है और कर्म उस भक्ति की व्यापक बाह्याभिव्यक्ति है। यही कारण रहा कि रामानुज, वल्लभ आदि भक्तिमार्गी आचार्यों ने गीता की भक्ति परक व्याख्या प्रस्तुत की। अतः हम यह कह सकते हैं कि भारत में प्रारम्भिक काल से लेकर सूर व तुलसी के माध्यम से आधुनिक काल तक भक्ति की एक अजस्र धारा प्रवाहित होती रही है और जैन परम्परा भी इससे प्रभावित होती रही है।

जैनधर्म में भक्ति

जैनदर्शन में भक्ति की अवधारणा के विकास को समझने के लिए भक्ति के भारतीय परिप्रेक्ष्य को समझना आवश्यक है, क्योंकि जैनधर्म में भक्ति का जो विकास हुआ वह इन समसामयिक परिस्थितियों से अप्रभावित नहीं रहा है। जैनधर्म की भक्ति साधना में अन्य परम्पराओं से आये तत्त्व आज इस तरह आत्मसात् हो गये हैं कि आज उन्हें अलग कर पाना भी कठिन है।

जैनधर्म में साहित्यिक साक्ष्य के रूप में जो प्राचीनतम सन्दर्भ उपलब्ध है, वे आचारांग, सूत्रकृतांग, ऋषिभाषित और उत्तराध्ययन पर आधारित हैं। इनमें आचारांग एवं सूत्रकृतांग में भक्ति तत्त्व अनुपस्थित है आचारांग मात्र यह बताता है कि मेरी आज्ञा का पालन धर्म है

(१/६/२/४८)। ऋषिभाषित और उत्तराध्ययन में यद्यपि श्रद्धा को स्थान मिला है, किन्तु वह श्रद्धा मात्र तत्त्वश्रद्धा है। जैनधर्म में सम्यग्दर्शन, जो भक्ति का आधार है, प्रारम्भ में मात्र तत्त्वश्रद्धा ही रहा है। देव, गुरु एवं धर्म के प्रति श्रद्धा यह उसका परवर्ती अर्थ विकास है। पुरातात्विक साक्ष्यों में तो हमें मौर्यकाल से ही जैन परम्परा में मूर्ति-पूजा के प्रमाण मिलने लगते हैं। मथुरा में तो मूर्ति-पूजा के परिदृश्य भी अंकित है। अतः यह मानने में हमें कोई आपत्ति नहीं है कि ऐतिहासिक दृष्टि से जैन परम्परा में भक्ति की अवधारणा मौर्य काल में पल्लवित एवं विकसित हुई है। पुनः इस दिशा में जो भी साक्ष्य उपलब्ध हैं वे सब इसी तथ्य को संपोषित करते हैं कि जैन धर्म में भक्ति का विकास अपनी सहवर्ती हिन्दू परम्परा से प्रभावित होता रहा है। हिन्दू परम्परा में भक्ति के विविध रूपों का जिस प्रकार क्रमिक विकास हुआ है उसी प्रकार जैन परम्परा में भी भक्ति का क्रमिक विकास हुआ है। फिर भी जैन और हिन्दू धर्म की मूलभूत दार्शनिक अवधारणाओं में जो अन्तर है उसके आधार पर दोनों की भक्तियों की अवधारणा में और उसके लक्ष्य में भी अन्तर है। यह स्पष्ट है कि जहाँ हिन्दू धर्म ईश्वरवादी है वहीं जैनधर्म निरीश्वरवादी है। उसमें सृष्टि के निर्माता और पालन कर्ता तथा संहारक ईश्वर की अवधारणा पूर्णतः अनुपस्थित है। दूसरा अन्तर यह है कि जहाँ हिन्दू धर्म का ईश्वर कृपा के माध्यम से अपने भक्तों के कल्याण की सामर्थ्य रखता है वहाँ जैन धर्म के सिद्ध परमात्मा निष्क्रिय है। वे न तो अपने भक्तों का कल्याण कर सकते हैं और न दुष्टों का दमन। जैनधर्म में भक्ति का तत्त्व उपस्थित तो है, किन्तु वह हिन्दू परम्परा में उपलब्ध भक्ति की अवधारणा से किंचित भिन्न है, आगे हम इस संदर्भ में विस्तार से विचार करेंगे। सामान्यतया जैन भक्ति परम्परा में श्रद्धा, सर्म्पण, गुण-संकीर्तिन या भजन, पूजा और अर्चा या सेवा के तत्त्व उपस्थित रहे हैं। श्रद्धा उसका प्रस्थान-बिन्दु है और सेवा अन्तिम चरण है। श्रद्धा एवं सर्म्पण-भाव उसके मानसिक रूप हैं और सेवा उसकी कायिक अभिव्यक्ति। अब हम यह देखने का प्रयत्न करेंगे कि जैन धर्म में इन तत्त्वों का विकास कैसे हुआ ?

जैनधर्म में भक्ति की अवधारणा कैसे व. किस रूप में आयी यह विचार करना भी आवश्यक है। जहाँ तक मेरी जानकारी है आगमों में सत्यारभक्ति (सूत्रकृतांग 1/14/20) 'भक्तिचित्ताओं' (ज्ञाताधर्म) शब्द मिलते हैं। सर्वप्रथम ज्ञाताधर्म में तीर्थंकर पद की प्राप्ति में सहायक जिन 20 कारणों की चर्चा है उनमें श्रुत भक्ति (सुयभक्ति) का स्पष्ट उल्लेख है। इसके साथ ही उसमें अरहंत, सिद्ध, प्रवचन, गुरु, स्थाविर, तपस्वी आदि के प्रति वत्सलता या वल्लभता का उल्लेख हुआ है, जो भक्ति का ही एक रूप है (ज्ञाताधर्मकथा १६/१४)। तत्त्वार्थसूत्र में अर्हत्, आचार्य, बहुश्रुत एवं प्रवचन (शास्त्र) की भक्ति को तीर्थंकरत्व प्राप्त करने के 16 कारणों में परिगणित किया गया है (तत्त्वार्थसूत्र ६/२३)।

इस प्रकार हम देखते हैं कि ज्ञाताधर्मकथा और आवश्यकनिर्युक्ति (४५१-४५३) जहाँ अर्हत्, सिद्ध, आचार्य आदि के प्रति वत्सलता अर्थात् अनुराग की बात करते हैं, वहाँ तत्त्वार्थसूत्र स्पष्ट रूप से इनकी भक्ति की बात कहता है, किन्तु भक्ति और वात्सल्य में अर्थ की दृष्टि से अन्तर नहीं माना जा सकता है। आगे चलकर तो वात्सल्य को भक्ति का एक अंग मान ही

गया है। ज्ञातव्य है कि भक्ति या वात्सल्य दोनों का अर्थ श्रद्धायुक्त सेवा भाव ही है।
आवश्यकनिर्युक्ति में सर्व प्रथम भक्ति के फल की चर्चा हुई। उसमें कहा गया है कि --

भत्तीइ जिणवराणं खिज्जंती पुव्वसंचियाकम्मा
आयरिअ नमुक्कारेण विज्जा मंता य सिज्झांति
भत्तीइ जिणवराणं परमाए खीणपिज्जदोसाणं
आरूग्ग बोहिलाभं समाहिमरणं च पावांति । - आवश्यक निर्युक्ति ११६०-११११।

अर्थात् जिन की भक्ति से पूर्व संचित कर्म क्षीण होते हैं और आचार्य के नमस्कार से विद्या और मंत्र सिद्ध होते हैं। पुनः जिनेन्द्र की भक्ति से राग-द्वेष समाप्त होकर आरोग्य, बोधि और समाधि लाभ होता है।

भारतीय परम्परा में नवधा भक्ति का उल्लेख मिलता है --

श्रवणं कीर्तनं विष्णो स्मरणं पादसेवनम् ।

अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम् ॥ श्रीमद्भागवत (7/5/23)

1. श्रवण, 2. कीर्तन, 3. स्मरण, 4. पादसेवन, 5. अर्चन, 6. वंदन, 7. दास्य, 8. सख्य और 9. आत्मनिवेदन।

भक्ति के इन नव तत्त्वों में कौन किस रूप में जैनपरम्परा में मान्य रहा है, इसका संक्षिप्त विवरण अपेक्षित है। इनमें से श्रवण शास्त्र-श्रवण या जिनवाणी-श्रवण के रूप में जैन परम्परा में सदैव ही मान्य रहा है। उसमें कहा गया है कि व्यक्ति को कल्याण मार्ग और पाप मार्ग का बोध श्रवण से ही होता है, दोनों को सुनकर ही जाना जाता है (दशवैकालिक ४/३४)। जहाँ तक कीर्तन एवं स्मरण का प्रश्न है इन दोनों का अन्तर्भाव जैन परम्परा के 'स्तवन' में होता है। इसे षडावश्यको अर्थात् श्रमण एवं श्रावक के कर्तव्यों में दूसरा स्थान प्राप्त है। पादसेवन और वंदन को भी जैन परम्परा के तृतीय आवश्यक कर्तव्य के रूप में वंदन में अन्तर्निहित माना जा सकता है। अर्चन को जैन परम्परा में जिन-पूजा के रूप में स्वीकृत किया गया है। जैन परम्परा में मुनि के लिये भाव-पूजा और गृहस्थ के लिये द्रव्य-पूजा का विधान है। जिस प्रकार वैष्णव परम्परा में पंचोपचार पूजा और षोडशोपचार पूजा का विधान है उसी प्रकार जैन परम्परा में अष्ट-प्रकारी पूजा और सतरह-भेदी पूजा का विधान है।

यद्यपि दास्य, सख्य एवं आत्मनिवेदन रूप भक्ति की विधाओं का स्पष्ट प्रतिपादन तो प्राचीन जैन आगमों में नहीं मिलता है किन्तु जिनाज्ञा के परिपालन, आत्मालोचन तथा वात्सल्य के रूप में इनके मूल तत्त्व जैन परम्परा में उपलब्ध हैं। भक्ति के इन अंगों की विस्तृत चर्चा अग्रिम पक्तियों में की गई है।

जैनधर्म में श्रद्धा

जैन परम्परा में श्रद्धा के लिए सामान्यतया सम्यक्-दर्शन शब्द प्रचलित है। इस का मूल अर्थ तो देखना या अनुभूति ही है, किन्तु आगे चलकर जैन परम्परा में दर्शन शब्द श्रद्धा के अर्थ में रूढ़ हो गया। जैन ग्रन्थों के अध्ययन से यह ज्ञात होता है कि दर्शन शब्द का श्रद्धापरक अर्थ

एक परवर्ती विकास है और उसके प्रकारों के वर्गीकरण के परिणाम स्वरूप अस्तित्व में आया है। जैन धर्म में सम्यक् दर्शन के मुख्यतः दो प्रकार माने गये हैं -- निसर्गतः और अधिगमज। सम्यक् दर्शन का एक रूप वह होता है, जहां साधक अपनी अनुभूति से सत्य का साक्षात्कार करता है। 'सत्य का साक्षात्कार' यही सम्यक् दर्शन का मूल अर्थ है किन्तु यह तब तक सम्भव नहीं है जब तक व्यक्ति अपने को राग द्वेष के पंजों से मुक्त नहीं कर लेता। जब तक व्यक्ति साधक अवस्था में है राग-द्वेष का अतिक्रमण कर लेना सम्भव नहीं है। ऐसी स्थिति में यह माना गया है कि जब तक व्यक्ति स्वयं सत्य का साक्षात्कार न कर लें, उसे वीतराग परमात्मा, जिन्होंने स्वयं सत्य का साक्षात्कार किया है, उनके कथनों पर विश्वास करना चाहिए। जैन साहित्य में सम्यक्-दर्शन के जिन पांच अंगों की चर्चा मिलती है, उनमें श्रद्धा भी एक है। लगभग उत्तराध्ययन (ई.पू. 3-2री शती) के काल तक जैन परम्परा में सम्यक्-दर्शन का श्रद्धा परक अर्थ स्वीकार हो चुका था। किन्तु हमें यह भी स्मरण रखना चाहिए कि उत्तराध्ययन एवं तत्त्वार्थसूत्र (ई.सन् 3री शती) के काल तक जैनधर्म में श्रद्धा तत्त्वश्रद्धा थी। वह जिन या परमात्मा के प्रति श्रद्धा के रूप में सुस्थापित नहीं हुई थी। प्राचीन स्तर के ग्रन्थों में श्रद्धा को तत्त्व श्रद्धा या सिद्धान्त के प्रति निष्ठा के रूप में ही देखा गया। किन्तु जब श्रद्धा के क्षेत्र में तत्त्व या सिद्धान्त के स्थान पर व्यक्ति को प्रमुखता दी गयी, तो जिन और जिन-वचन के प्रति श्रद्धा ही सम्यक् दर्शन का प्रतीक मानी गयी। आगे चलकर जिन वचन के प्रस्तोता गुरु के प्रति भी श्रद्धा को स्थान मिला। इस प्रकार श्रद्धा का अर्थ हुआ -- देव, गुरु एवं धर्म के प्रति श्रद्धा।

जैनसाधना के क्षेत्र में सामान्यतया दर्शन (श्रद्धा) को प्राथमिकता दी गई है। कहा गया है धर्म दर्शन (श्रद्धा) मूलक है। जब तक दर्शन शब्द अनुभूति या दृष्टिकोण का सूचक रहा तब तक दर्शन को ज्ञान की अपेक्षा प्रधानता मिली किन्तु जब दर्शन का अर्थ तत्त्व-श्रद्धा मान लिया गया तो उसका स्थान ज्ञान के बाद निर्धारित हुआ। उत्तराध्ययन सूत्र में जहाँ दर्शन का श्रद्धा परक अर्थ किया गया है वहाँ स्पष्ट रूप से कहा है कि ज्ञान से तत्त्व के स्वरूप को जाने और दर्शन के द्वारा उस पर श्रद्धा करे (२८/३५)। यह सत्य है कि ज्ञान के अभाव में जो श्रद्धा होगी उसमें संशय की सम्भावना होगी ऐसी श्रद्धा अंध-श्रद्धा होगी। यह सत्य है कि जैनों ने श्रद्धा को अपने साधना में स्थान दिया किन्तु वे इस सन्दर्भ में सतर्क रहे कि श्रद्धा को ज्ञानाधिष्ठित होना चाहिए। श्रद्धा प्रज्ञा और तर्क से समीक्षित होकर ही सम्यक् श्रद्धा बन सकती है (उत्तराध्ययन २३/२५,३१)। इस प्रकार जैन चिन्तन में भक्ति के मूल आधार श्रद्धा के तत्त्व को स्थान तो मिला, किन्तु उसे अनुभूति या ज्ञान से समन्वित किया गया, ताकि श्रद्धा अन्ध-श्रद्धा न बन सके। जैनधर्म में श्रद्धा मूलतः तत्त्व-श्रद्धा या सिद्धान्त के प्रति आस्था रही। उसमें जो वैयक्तिकता का तत्त्व प्रविष्ट हुआ और वह देव तथा गुरु के प्रति श्रद्धा बनी है, उसके मूल में रहे हुए हिन्दू परम्परा के प्रभाव को विस्मृत नहीं किया जा सकता है। हिन्दू परम्परा में जो ईश्वर के प्रति अथवा उसके वचन के रूप में वेदादि के प्रति जो आस्था की बात कही गई थी, उसे जैन आचार्यों ने जिन व जिन-वाणी के प्रति श्रद्धा के रूप में ग्रहीत करके अपनी परम्परा में स्थान दिया। फिर भी यह स्मरण रखना होगा भक्ति की अवधारणा का विकास जिस रूप में हिन्दूधर्म में हुआ, उस रूप में जैनधर्म में नहीं हुआ है। जैनाचार्यों ने अपनी तात्त्विक

मान्यताओं के आधार पर ही अपनी परम्परा में भक्ति के स्वरूप को निर्धारित किया है। उन्होंने अपनी सहवर्ती हिन्दू परम्परा से बहुत कुछ ग्रहण किया, किन्तु उसे अपनी तत्त्व योजना के चौखटे में प्रस्तुत करने का प्रयास किया है, यद्यपि कहीं-कहीं इसमें स्खलना भी हुई है।

जैनधर्म में स्तुति, गुणसंकीर्तन एवं प्रार्थना का प्रयोजन :

जैनधर्म में भक्ति के जो दूसरे रूप स्तुति, गुण-संकीर्तन, प्रार्थना आदि हैं, उनका स्वरूप वर्तमान में तो बहुत कुछ हिन्दू परम्परा के समान ही हो गया और जैन भक्त भी अपने प्रभु से सब कुछ मांगने लगा है। किन्तु अपने प्राथमिक रूप में जैन स्तुतियों का हिन्दू परम्परा की स्तुतियों से एक अन्तर रहा है। हिन्दू परम्परा अपने प्राचीन काल से ही इस तथ्य में विश्वास करती रही है कि स्तुति या भक्ति के माध्यम से हम जिस प्रभु की आराधना करते हैं, वह प्रसन्न होकर हमारे कष्टों को मिटा देता है। उसमें ईश्वरीय या दैवीकृपा का तत्त्व सदैव ही स्वीकृत रहा है। गीता में भक्त और भक्ति के चार रूपों की चर्चा है -- १. अर्थार्थी, २. आर्त, ३. जिज्ञासु एवं ४. ज्ञानी। यद्यपि गीता ने जिज्ञासु या ज्ञानी को ही सच्चा भक्त निरूपित किया है, किन्तु भक्ति का जो रूप हिन्दू धर्म में प्रचलित रहा है, उसमें ईश्वरीय या दैवीय कृपा की प्राप्ति का प्रयोजन तो सदैव ही प्रमुख रहता है, किन्तु जैनधर्म में उसको कोई खास स्थान नहीं है। क्योंकि जैनों का परमात्मा किसी का कल्याण या अकल्याण करने में समर्थ नहीं है। सामान्यतया व्यक्ति दुःख या पीड़ा की स्थिति में उससे त्राण-पाने के लिए प्रभु की भक्ति करता है। वह भक्ति के नाम पर भगवान से भी कोई सौदा ही करता है। वह कहता है कि यदि मेरी अमुक मनोकामना पूर्ण होगी तो मैं आपकी विशिष्ट रूप से पूजा करूँगा या विशिष्ट प्रसाद समर्पित करूँगा। जैनधर्म में चूँकि प्रारम्भ से ही तीर्थंकर को वीतराग माना गया है। अतः वह न तो भक्तों का कल्याण कर सकता है और न दुष्टों का संहार। जहाँ गीता तथा अन्य ग्रन्थों में प्रभु के अवतरण का मुख्य प्रयोजन दुष्टों का संहार एवं धर्म-मार्ग की स्थापना माना गया है, वहाँ जैन परम्परा में तीर्थंकर का उद्देश्य मात्र धर्म-मार्ग की संस्थापना करना है। जैनों का परमात्मा गीता के परमात्मा के समान इस प्रकार का कोई आश्वासन नहीं दे पाता है कि तुम मेरे प्रति पूर्णतः समर्पित हो जाओ, मैं तुम्हें सब पापों से मुक्ति दूँगा। जैनधर्म में प्राचीन काल में स्तुति का प्रयोजन प्रभु से कुछ पाना नहीं रहा है। स्तुति के प्रयोजन को स्पष्ट करते हुए आचार्य समन्तभद्र अपने ग्रन्थ देवागम स्तोत्र में कहते हैं कि --

हे प्रभु ! न तो मैं आपको प्रसन्न करने के लिए आपकी भक्ति या पूजा करता हूँ क्योंकि मैं जानता हूँ कि आप वीतराग हैं अतः मेरी पूजा से प्रसन्न होने वाले नहीं हैं।

इसी प्रकार आप निन्दा करने पर कुपित भी नहीं होंगे चूँकि आप विवान्त-वैर हैं, मैं तो आप की भक्ति केवल इसलिए करता हूँ कि आपके पुण्य गुणों की स्मृति से मेरा चित्त पाप स्पी मल से रहित होगा।

स्मरण रखना चाहिए कि जैन-विचारधारा के अनुसार साधना के आदर्श के रूप में जिसकी स्तुति की जाती है, उन आदर्श पुरुषों से किसी प्रकार की उपलब्धि की अपेक्षा नहीं

होती। तीर्थंकर एवं सिद्ध परमात्मा मात्र साधना के आदर्श हैं। वे न तो किसी को संसार से पार करा सकते हैं और न उनकी किसी प्रकार की उपलब्धि में सहायक होते हैं। फिर भी स्तुति के माध्यम से साधक उनके गुणों के प्रति अपनी श्रद्धा को सजीव बना लेता है। साधक के सामने उनका महान् आदर्श जीवन्त रूप में उपस्थित हो जाता है। वह अपने हृदय में तीर्थंकरों के आदर्श का स्मरण करता हुआ आत्मा में एक आध्यात्मिक पूर्णता की भावना प्रकट करता है। वह विचार करता है कि आत्मतत्त्व के रूप में मेरी आत्मा और तीर्थंकरों की आत्मा समान ही है, यदि मैं स्वयं प्रयत्न करूँ, तो उनके समान ही बन सकता हूँ। मुझे अपने पुरुषार्थ से उनके समान बनने का प्रयत्न करना चाहिए। जैन मान्यता तो यह है कि व्यक्ति अपने ही प्रयत्नों से अपना आध्यात्मिक उत्थान या पतन कर सकता है। स्वयं पाप से मुक्त होने का प्रयत्न न करके केवल भगवान् से मुक्ति की प्रार्थना करना जैन-विचारणा की दृष्टि से सर्वथा निरर्थक है। ऐसी विवेक शून्य प्रार्थनाओं में मानव जाति को सब प्रकार से हीन, दीन एवं परापेक्षी बनाया है। जब मनुष्य किसी ऐसे उद्धारक में विश्वास करने लगता है, जो उसकी स्तुति से प्रसन्न होकर उसे पाप से उबार लेगा, तो ऐसी निष्ठा से सदाचार की मान्यताओं को भी गहरा धक्का लगता है। जैन विचारकों की यह स्पष्ट मान्यता है कि केवल तीर्थंकरों की स्तुति करने से मोक्ष एवं समाधि की प्राप्ति नहीं होती, जब तक कि मनुष्य स्वयं उसके लिए प्रयास न करे।

जैन विचारकों के अनुसार तीर्थंकर तो साधना मार्ग के प्रकाशस्तम्भ हैं। जिस प्रकार गति करना जहाज का कार्य है, उसी प्रकार साधना की दिशा में आगे बढ़ना साधक का कार्य है। जैसे प्रकाश-स्तम्भ की उपस्थिति में भी जहाज समुद्र में बिना गति के उस पार नहीं पहुँचता, वैसे ही केवल नाम-स्मरण या भक्ति साधक को निर्वाण-लाभ नहीं करा सकती, जब तक कि उसके लिए सम्यक् प्रयत्न न हो। हमें स्मरण रखना चाहिए कि जैन परम्परा में भक्ति का लक्ष्य आत्मा के शुद्ध-स्वरूप का बोध या साक्षात्कार है। अपने में निहित परमात्म शक्ति को अभिव्यक्त करना है। आचार्य कुन्दकुन्द (नियमसार १३४-१४०) कहते हैं -- "सम्यग्ज्ञान और आचरण से युक्त हो निर्वाणाभिमुख होना ही गृहस्थ और श्रमण की वास्तविक भक्ति है। मुक्ति को प्राप्त पुरुषों के गुणों का कीर्तन करना व्यावहारिक भक्ति है। वास्तविक भक्ति तो आत्मा को मोक्षपथ में योजित करना है। राग-द्वेष एवं सर्व विकल्पों का परिहार करके विशुद्ध आत्मतत्त्व से योजित होना ही वास्तविक भक्ति-योग है। ऋषभ आदि सभी तीर्थंकर इसी भक्ति के द्वारा परमपद को प्राप्त हुए हैं।" इस प्रकार भक्ति या स्तवन मूलतः आत्मबोध है, वह अपना ही कीर्तन और स्तवन है। जैन दर्शन में भक्ति के सच्चे स्वरूप को स्पष्ट करते हुए उपाध्याय देवचन्द्रजी लिखते हैं--

*अज-कुल-गत केशरी लहरे, निज पद सिंह निहाल।
तिम प्रभु भक्ति भवी लहरे, आत्म शक्ति संभाल।।*

जिस प्रकार अज कुल में पालित सिंहशावक वास्तविक सिंह के दर्शन से अपने प्रसुप्त सिंहत्व को प्रकट कर लेता है, उसी प्रकार साधक तीर्थंकरों के गुणकीर्तन या स्तवन के द्वारा निज में जिनत्व की शोध कर लेता है, स्वयं में निहित परमात्मशक्ति को प्रकट कर लेता है।

लेकिन इसका यह अर्थ नहीं है कि जैन-साधना में भगवान् की स्तुति निरर्थक है। जैन साधना यह स्वीकार करती है कि भगवान् की स्तुति प्रसुप्त अन्तश्चेतना को जाग्रत करती है और हमारे सामने साधना के आदर्श का एक जीवन्त चित्र उपस्थित करती है। इतना ही नहीं, वह उस आदर्श की प्राप्ति के लिए प्रेरणा भी बनती है। जैन विचारकों ने यह भी स्वीकार किया है कि भगवान् की स्तुति के माध्यम से मनुष्य अपना आध्यात्मिक विकास कर सकता है। यद्यपि प्रयत्न व्यक्ति का ही होता है, तथापि साधना के आदर्श उन महापुरुषों का जीवन उसकी प्रेरणा का निमित्त होता है। उत्तराध्ययनसूत्र (२६/६०) में कहा है कि स्तवन से व्यक्ति की दर्शन-विशुद्धि होती है। यह भी कहा है कि भगवद्भक्ति के फलस्वरूप पूर्वसंचित कर्मों का क्षय होता है। यद्यपि इसका कारण परमात्मा की कृपा नहीं, वरन् व्यक्ति के दृष्टिकोण की विशुद्धि ही है। आचार्य भद्रबाहु ने इस बात को बड़े ही स्पष्ट रूप में स्वीकार किया है कि भगवान् के नाम-स्मरण से पापों का पुंज नष्ट होता है (आवश्यकनिर्युक्ति १११०)। आचार्य विनयचन्द्र भगवान् की स्तुति करते हुए कहते हैं--

*पाप-पराल को पुंज वण्यो अति, मानो मेरू आकारो ।
ते तुम नाम हुताशन सेती, सहज ही प्रजलत सारो ।।*

इस प्रकार जैन धर्म में स्तुति या गुण-संकीर्तन को पाप का प्रणाशक तो माना गया किन्तु इसे ईश्वरी कृपा का फल मान लेना उचित नहीं है। जैनधर्म के अनुसार व्यक्ति के पापों के क्षय का कारण परमात्मा की कृपा नहीं, किन्तु प्रभु स्तुति की माध्यम से हुए उसके शुद्ध आत्म-स्वरूप का बोध है। प्रभु की स्तुति के माध्यम से जब साधक अपने शुद्ध आत्मस्वरूप को जान लेता है, अपनी शक्ति की पहचान लेता है तो वह ज्ञाता-द्रष्टा भाव में अर्थात् आत्म-स्वभाव में स्थित हो जाता है। फलतः वासनायें स्वतः ही क्षीण होने लगती हैं। इस प्रकार जैनधर्म में स्तुति से पापों का क्षय और आत्म-विशुद्धि तो मानी गई किन्तु इसका कारण ईश्वरीय कृपा नहीं, अपितु अपने शुद्ध स्वरूप का बोध माना गया।

इस प्रकार हम देखते हैं कि जैन परम्परा में स्तवन या गुण-संकीर्तन के रूप में जिस भक्ति तत्त्व का विकास हुआ, वह निष्काम भक्ति का ही एक रूप था।

जैनधर्म और सकाम भक्ति

निष्काम भक्ति की यह अवधारणा आदर्श होते हुए भी सामान्यजन के लिए दुःसाध्य ही है। सामान्यजन एक ऐसे भगवान् की कल्पना करता है जो प्रसन्न होकर उसके दुःखों को दूर कर उसे इहलौकिक सुख प्रदान कर सके। यही कारण रहा कि जैनधर्म में स्तुति की निष्कामता धीरे-धीरे कम होती गयी और स्तुतियाँ तथा प्रार्थनायें ऐहिक लाभ के साथ जुड़ती गयीं। जैन परम्परा में स्तुति का सबसे प्राचीन रूप सूत्रकृतांग (ई. पू. 4-3शती) के छठे अध्याय में 'वीर-स्तुति' के नाम से उपलब्ध है। इसमें महावीर के गुणों का संकीर्तन तो है किन्तु उसमें कहीं भी कुछ प्राप्त करने की कामना नहीं की गई है। इसी प्रकार शक्रस्तव अर्थात् इन्द्र के

द्वारा की गई तीर्थंकर की स्तुति के नाम से जाने वाले 'नमोत्पुण' नामक स्तोत्र (ई.पू. 3री शती) में भी अरहंत एवं तीर्थंकर के गुणों का चित्रण होते हुए भी उनसे कहीं कोई उपलब्धि की आकांक्षा प्रदर्शित नहीं की गई है। जहाँ तक मुझे स्मरण है, जैन परम्परा में सर्व प्रथम परमात्मा या प्रभु से कोई याचना की गयी तो वह चतुर्विंशति स्तवन (ई. सन् १ली शती) में है। इस स्तवन में सर्वप्रथम प्रभु से आरोग्य, बोधि और समाधि की याचना की गयी है। इसमें भी बोधि एवं समाधि तो आध्यात्मिक प्रत्यय हैं, किन्तु आरोग्य को चाहे आध्यात्मिक साधना में आवश्यक माना जाय फिर भी वह एक लौकिक प्रत्यय ही है। प्रभु से आरोग्य की कामना करना यह सूचित करता है कि जैन परम्परा की भक्ति की अवधारणा में अपनी सहवर्ती हिन्दू परम्परा का प्रभाव आया है, क्योंकि जैन दार्शनिक मान्यताके अनुसार तो प्रभु किसी को आरोग्य भी प्रदान नहीं करता है। अरहंत के रूप में वह हमें मोक्ष-मार्ग या मुक्ति-पथ का मात्र बोध कराता है, उसे भी चल कर पाना तो हमें ही होता है। अतः इस चतुर्विंशति स्तवन में जो आरोग्य की कामना है वह निश्चित रूप से जैन परम्परा पर अन्य परम्परा के प्रभाव का सूचक है। भविष्य में तो इस प्रकार अन्य प्रयत्न भी हुए। जैन परम्परा में उवसगहर् स्तोत्र भी पर्याप्त रूप से प्रसिद्ध है। इसे सामान्यतया भद्रबाहु द्वितीय की कृति माना जाता है। इसमें प्रभु से भक्त को उपसर्ग से छुटकारा दिलाने की प्रार्थना की गई है। जिन विपत्तियों की चर्चा है उनमें ज्वर, सर्पदंश आदि भी सम्मिलित है। यह स्तोत्र इस बात का प्रमाण है कि जैन परम्परा में भक्ति का सकाम स्वरूप भी अन्ततोगत्वा विकसित हो ही गया। यद्यपि जैन आचार्यों ने यहाँ जिन की स्तुति के साथ पार्श्व-यक्ष की स्तुति को भी जोड़ दिया है।

वस्तुतः जब आचार्यों ने देखा होगा कि उपासकों को जैन धर्म में तभी स्थित रखा जा सकता है, जब उन्हें उनके भौतिक मंगल का आश्वासन दिया जा सके। चूँकि तीर्थंकर द्वारा किसी भी स्थिति में भक्तों के भौतिक मंगल की कोई सम्भावना नहीं थी, इसलिए तीर्थंकर के शासन-संरक्षक देवों के रूप में शासन देवता (यक्ष-यक्षी) की कल्पना आयी और इस रूप में हिन्दू परम्परा के ही अनेक देवियों को न केवल समाहित किया गया, अपितु यह भी माना गया कि उनकी उपासना या भक्ति करने पर वे प्रसन्न होकर भौतिक दुःखों को दूर करते हैं। यक्ष-यक्षिणियों के जैन धर्म में प्रवेश के साथ ही उसमें हिन्दू धर्म की कर्म-काण्ड परक तांत्रिक उपासना पद्धति कुछ संशोधनों एवं परिवर्तनों के साथ समाहित कर ली गई।

जैन स्तोत्र साहित्य में संस्कृत में जो सुन्दर स्तुतियाँ लिखी गईं उनमें सिद्धसेन दिवाकर की द्वात्रिंशिकाएँ तथा समन्तभद्र के देवागम आदि स्तोत्र प्रसिद्ध हैं। संस्कृत में रचित ये स्तुतियाँ न केवल जिनस्तुति हैं, अपितु जिन स्तुति के ब्याज से प्रचलित दार्शनिक मान्यताओं की सुन्दर समीक्षा भी हैं। इन स्तुतियों में जैनधर्म का दार्शनिक स्वरूप अधिक उभरकर सामने आया है। इसलिए इन स्तुतियों को भक्तिपरक कम और दर्शनपरक अधिक माना जा सकता है।

आठवीं-नवीं शती के पश्चात् जिन भक्तिपरक स्तोत्रों की रचना जैन परम्परा में हुई, उनमें भक्तामर स्तोत्र, कल्याणमंदिर स्तोत्र आदि सुप्रसिद्ध हैं। यद्यपि ये स्तोत्र जैन परम्परा में सकाम भक्ति की अवधारणा की विकास के बाद ही रचित हैं। इनमें पद-पद पर लौकिक कल्याण की

प्रार्थनाएँ भी हैं। परवर्ती काल में तो मरू-गुर्जर, पुरानी हिन्दी आदि में बहुत सी स्तुतियाँ लिखी गईं, जिनमें आध्यात्मिक कल्याण के साथ-साथ लौकिक कल्याण की प्रार्थना की गई। यद्यपि आनन्दघन और देवचन्द्र जैसे कवियों की चौबीसियाँ भक्तिरस से ओत-प्रोत हैं। मध्यकाल में विष्णुसहस्रनाम के समान जैन परम्परा में भी जिनसहस्रनाम जैसे ग्रन्थ लिखे गए। इस प्रकार हम देखते हैं कि जैन परम्परा में स्तुतियों एवं स्तुतिपरक साहित्य की रचना अति प्राचीनकाल से लेकर वर्तमान युग तक जीवित रही है और हजारों की संख्या में भक्ति गीत लिखे गये जिनका सम्पूर्ण विवरण प्रस्तुत करना इस लेख में सम्भव नहीं है।

यद्यपि जैनधर्म में सकाम स्तुतियों या प्रार्थनाओं के रूप यत्र-तत्र परिलक्षित होते हैं, किन्तु वीतरागता और मुक्ति की आकांक्षी जैन परम्परा में फलाकांक्षा से युक्त सकाम भक्ति का कोई स्थान नहीं हो सकता है, यह हमें स्मरण रहना चाहिए। क्योंकि जैन परम्परा में फलाकांक्षा को शल्य (कांटा) कहा गया है। फलाकांक्षा सहित भक्ति को निदान-शल्य कहा गया है। जैन परम्परा में भक्ति का यथार्थ आदर्श क्या रहा है ? इसे जैन कवि धनन्जय ने निम्न शब्दों में अभिव्यक्त किया है --

इति स्तुतिं देव विधाय दैन्याद्, वरं न याचे त्वमुपेक्षकोऽसि ।

छाया तरुं संश्रयतः स्वतः स्यात् कश्चायया याचितयाऽऽत्मलाभः ।

अथास्ति दित्सा यदिवोपरोधः त्वय्येव सक्तां दिश भक्ति बुद्धि ।

करिष्यते देव तथा कुपां मे, को वात्मपोष्ये सुमुखो न सूरिः ।

हे प्रभु ! इस प्रकार आपकी स्तुति करके मैं आपसे कोई वरदान नहीं मांगना चाहता हूँ, क्योंकि कुछ मांगना तो एक प्रकार की दीनता है, पुनः आप राग-द्वेष से रहित हैं, बिना राग के कौन किस की आकांक्षा पूरी करता है, पुनः छायावाले वृक्ष के नीचे बैठकर छाया की याचना करना तो व्यर्थ ही है। वह तो स्वतः ही प्राप्त हो जाती है। इस प्रकार जैन धर्म में भक्ति का उत्स तो निष्कामता ही है। उसमें सकामता जो तत्त्व प्रविष्ट हुआ है, वह हिन्दू परम्परा और सम-सामयिक परिस्थितियों का प्रभाव है।

जैन परम्परा में स्तुति या स्तवन का महत्त्व तो इसी तथ्य से स्पष्ट हो जाता है, उसमें मुनि अथवा गृहस्थ के जो दैनिक षट् आवश्यक कर्तव्य बताये गए हैं, उसमें दूसरे क्रम पर स्तुति का निरूपण है। अतः हम कह सकते हैं कि श्रद्धा के साथ-साथ जैन धर्म में भक्ति का दूसरा महत्त्वपूर्ण पक्ष स्तुति भी स्वीकृत रहा है।

स्तुति वस्तुतः उपास्य के गुणों का ही संकीर्तन है। जैन परम्परा में जो स्तुतियाँ उपलब्ध हैं, उनमें अरहंत, सिद्ध या तीर्थंकर के गुणों का संकीर्तन किया जाता है, किन्तु इसका मुख्य उद्देश्य तो आत्मा की शुद्ध-स्वभाव दशा की उपलब्धि ही है। संत आनन्दघन जी लिखते हैं--

आपनो आतम भावजे, एक वेतननो धार रे।
 अवर सवि साथ संजोगथी, ए निज परिकर सार रे।।
 प्रभु मुख थी इम सांभली, कहै आतमराम रे।
 थाहरै दरिसणे निस्तरयो, मुझ सीधा सवि काम रे।। -- शांति जिन स्तवन

वंदन

वंदन को जैन परम्परा में मुनि व गृहस्थ दोनों के षट्-आवश्यक कर्तव्यों में तीसरा स्थान है। पुण्य कर्म के विवेचन में भी नमस्कार को पुण्य कहा गया है। नमस्कार या वंदन तभी संभव होता है जब उसमें वंदनीय के प्रति पूज्य-बुद्धि या समादर भाव हो। इस प्रकार वंदन भी भक्ति का ही एक रूप है। जैनों के पवित्र नमस्कार मंत्र में पाँच पदों को वंदन किया गया है। वे पाँच पद हैं -- १. अरहंत २. सिद्ध ३. आचार्य ४. उपाध्याय और ५. साधु। यहां विशेष रूप से ज्ञातव्य यह है कि इस नमस्कार मंत्र में विशिष्ट गुणों के धारण करने वाले पदों को नमस्कार किया गया है, व्यक्ति को नहीं। इस प्रकार जैन परम्परा में व्यक्ति की उपासना के स्थान पर गुणों की उपासना को प्रधानता दी गयी। व्यक्ति को तो गुणों के आधार पर ही वंदनीय माना गया है। वंदन में मुख्य रूप से अरहंत, सिद्ध, आचार्य, गुरु एवं अपने से पद, योग्यता, दीक्षा आदि में ज्येष्ठ व्यक्ति को वंदनीय माना जाता है। वंदन का यह तत्त्व एक ओर व्यक्ति के अहंकार को विगलित करने का साधन है तो दूसरी ओर विनय-गुण का भी विकास करता है। यह सुस्पष्ट है कि अहंकार को सभी धर्म परम्पराओं में दुर्गुण माना गया है। जैन धर्म में विनय को धर्म का मूल या आधार कहा गया है।

जैन परम्परा में इस प्रश्न पर भी गंभीरता से विचार किया गया है कि वंदनीय कौन है ? जैसा कि हम पूर्व में सूचित कर चुके हैं जैन परम्परा में उपर्युक्त पाँच पद को धारण करने वाले व्यक्ति ही वंदनीय माने गये हैं। किन्तु साथ ही यह भी कहा गया है कि जिन व्यक्तियों में इन पदों के लिए वर्णित योग्यता का अभाव है वे वेश या पद स्थापित हो जाने मात्र से वंदनीय नहीं बन जाते। जैन परम्परा स्पष्ट रूप से शिथिलाचारियों के वंदन और संसर्ग का निषेध करती है क्योंकि इनके माध्यम से समाज में दुष्प्रवृत्तियों को न केवल बढ़ावा मिलता है अपितु सामाजिक जीवन में भी शिथिलाचार आने की सम्भावना रहती है। अतः वंदन किसको किया जाय और कैसे न किया जाय, इस सम्बन्ध में विवेक को आवश्यक माना गया है। वंदन कैसे किया जाय, इस सम्बन्ध में भी जैन परम्परा में विस्तार से चर्चा उपलब्ध होती है, साथ ही उसमें सदोष वंदन के दोषों का चित्रण भी हुआ है। विस्तारभय से उसकी चर्चा यहाँ अपेक्षित नहीं है।

जैनों के नमस्कार मंत्र में जो पाँच पद वंदनीय हैं उनमें तीर्थंकर या अर्हत् के लिए केवल सिद्ध पद वंदनीय होता है। आचार्य के लिए अरहंत और सिद्ध ये दो पद वंदनीय हैं। इसी लिए प्राचीन अभिलेखों में सामान्यतया अरहंत व सिद्ध ऐसे दो पदों के नमस्कार का उल्लेख है। उपाध्याय के लिए अरहंत, सिद्ध एवं आचार्य -- ये तीन पद वंदनीय है। जबकि सामान्य मुनियों के लिए अरहंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और अपने से दीक्षा में ज्येष्ठ मुनि इस प्रकार पाँचों

ही पद वंदनीय होते हैं। इसी प्रकार गृहस्थ के लिए भी उपर्युक्त पाँचों ही पद वंदनीय माने गये हैं। जैन परम्परा में जो वंदन के पाठ उपलब्ध हैं उनके अनुसार वंदन में पूज्य-बुद्धि या सम्मान का भाव आवश्यक माना गया है। पूज्य-बुद्धि के अभाव में वंदन का कोई अर्थ नहीं रह जाता। स्तुति एवं वंदन दोनों में ही गुण संकीर्तन की भावना स्पष्ट रूप से जुड़ी है।

पूजा, अर्चा और भक्ति

जैन परम्परा में मूर्ति पूजा की अवधारणा अति प्राचीन काल से पायी जाती है। तीर्थंकरों की प्रतिमाओं की पूजा का विधान आगमों में उपलब्ध है। परवर्ती काल में शासन-देवता के रूप में यक्ष-यक्षी एवं क्षेत्रपालों (भैरव) की पूजा भी होने लगी। जैन परम्परा में तीर्थंकर प्रतिमाओं का निर्माण ई.पू. तीसरी शती से तो स्पष्ट रूप से होने लग गया था, क्योंकि मौर्यकाल की जिन-प्रतिमा उपलब्ध होती है। इससे पूर्व भी नन्द राजा के द्वारा कर्लिंग-जिन की प्रतिमा को उठाकर ले जाने का जो खारवेल का अभिलेखीय साक्ष्य उपलब्ध है। उसके आधार पर यह माना जा सकता है कि मौर्य काल से पूर्व भी तीर्थंकर प्रतिमाओं का निर्माण प्रारम्भ हो गया था। किन्तु उस युग की जिन प्रतिमा की पूजा-अर्चा की विधि को बताने वाला कोई ग्रन्थ आज उपलब्ध नहीं है। जैन परम्परा में पूजा-अर्चा के विधि-विधान एवं मन्दिर-निर्माण कला आदि के सूचित करने वाले जो ग्रन्थ उपलब्ध हैं, वे लगभग ई.सन् की प्रारम्भिक सदियों के हैं। जैन आगमों में स्थानांग, ज्ञाताधर्म एवं राजप्रश्नीय सूत्र में मंदिर संरचना एवं जिन प्रतिमाओं की पूजन विधि के उल्लेख हैं। मथुरा के प्रथम शती के अंकनों से भी इस तथ्य की पुष्टि होती है। क्योंकि उनमें कमल-पुष्प ले जाते हुए श्रावक-श्राविकाओं को अंकित किया गया है। जो पूजा विधि राजप्रश्नीय सूत्र और परवर्ती ग्रन्थों में उपलब्ध है उसके अनुसार मुनि और साधवियाँ तो जिन प्रतिमाओं की वंदन एवं स्तुति के रूप में भाव-पूजा ही करते हैं। गृहस्थ ही उनकी पूजा-सामग्री से द्रव्य पूजा करता है। गृहस्थ की पूजा विधि के अनुसार कूप अथवा पुष्करणी में स्नान करके वहाँ से कमल पुष्प और जल लेकर जिन प्रतिमा का पूजन किया जाता था। ज्ञाताधर्म व राजप्रश्नीय में जिन प्रतिमा की पूजा विधि निम्न प्रकार से वर्णित है --

"तत्पश्चात् सूर्याभदेव चार हजार सामानिक देवों यावत् और दूसरे बहुत से देवों और देवियों से परिवेष्टित होकर अपनी समस्त ऋद्धि, वैभव यावत् वाद्यों की तुमुल ध्वनिपूर्वक जहाँ सिद्धायतन था, वहाँ आया। पूर्व द्वार से प्रवेश करके जहाँ देवहृदक और जिन प्रतिमाएँ थीं, वहाँ आया। वहाँ आकर उसने जिन प्रतिमाओं को देखते ही प्रणाम करके लोममयी प्रमार्जनी (मयूर-पिच्छ की पूंजनी) हाथ में ली और प्रमार्जनी को लेकर जिन प्रतिमाओं को प्रमार्जित किया। प्रमार्जित करके सुरभि गन्धोदक से उन जिन प्रतिमाओं का प्रक्षालन किया। प्रक्षालन करके सरस गोशीर्ष चन्दन का लेप किया। लेप करके काषायिक सुरभि गन्ध से सुवासित वस्त्र से उनको पोछा। उन जिन-प्रतिमाओं को अखण्ड देवदूष्य-युगल पहनाया। देवदूष्य पहना कर पुष्प, माला, गन्ध, चूर्ण, वर्ण, वस्त्र और आभूषण चढ़ाये। इन सबको चढ़ाने के अनन्तर फिर ऊपर से नीचे तक लटकती हुई लम्बी-लम्बी गोला मालाएँ पहनाईं। मालाएँ पहनाकर पंचरंगों पुष्पगणों को हाथ में लेकर उनकी वर्षा की और मांडने मांडकर उस स्थान को सुशोभित

किया। फिर उन जिन प्रतिमाओं के सन्मुख शुभ्र, सलौने, रजतमय अक्षत तन्दुलों (चावलों) से आठ-आठ मंगलों का आलेखन किया, यक्ष, स्वास्तिक यावत् दर्पण।

तदन्तर उन जिन प्रतिमाओं के सम्मुख श्रेष्ठ काले अगार, कुन्दरु, तुरूष्क, और धूप की महकती सुगन्ध से व्याप्त और धूपबत्ती के समान सुरभिगन्ध को फैलाने वाले स्वर्ण एवं मणिरत्नों से रचित चित्र-विचित्र रचनाओं से युक्त वैदूर्यमय धूपदान को लेकर धूपक्षेप किया तथा विशुद्ध अपूर्व अर्थ सम्पन्न अपुनरुक्त महिमाशाली एक सौ आठ छन्दों में स्तुति की। स्तुति करके सात आठ पग पीछे हटा और फिर पीछे हटकर बांया घुटना ऊंचा किया और दायां घुटना जमीन पर टिकाकर तीन बार मस्तक को भूमि तल पर नमाया। नमाकर कुछ ऊंचा उठा तथा मस्तक ऊंचा करके दोनों हाथ जोडकर आवर्त पूर्वक मस्तक पर अंजलि करके प्रभु की स्तुति की।

इससे यह फलित होता है कि मुनिजन् जो सचित्त द्रव्य का स्पर्श भी नहीं करते थे वे केवल वंदन या गुण-स्तवन ही करते थे किन्तु गृहस्थ पूजन सामग्री में सचित्त द्रव्यों का उपयोग करते थे। यद्यपि उस सम्बन्ध में अनेक सतर्कताएं बरती जाती हैं जिनका उल्लेख 7-8 वीं शती के जैन आचार्यों ने किया है। जैनों की पूजा विधि की जब हम वैष्णव विधि से तुलना करते हैं तब हम पाते हैं कि दोनों में काफी समानता थी। मात्र यही नहीं जैनों ने अपनी पूजा विधि को वैष्णव परम्परा से गृहीत किया था। उनके आह्वान, विसर्जन आदि के मन्त्र न केवल हिन्दू परम्परा की नकल हैं, अपितु उनकी दार्शनिक मान्यताओं के विरोध में इसकी स्वतन्त्रचर्चा हमने अन्य लेख में की है (श्रमण १६६०) वीतराग परमात्मा की जिसने त्याग, वैराग्य व तप का उपदेश दिया उसकी पूजा, पुष्प, फल, नैवेद्य, धूप, दीप आदि से की जाय यह स्पष्ट रूप से अन्य परम्परा का प्रभाव है। चूंकि वैष्णव परम्परा में यह विधि प्रचलित थी जैनों ने उन्हीं से गृहीत कर लिया और वे जिन पूजा के अंग मान लिये गए। वैष्णव परम्परा में पंचोपचार पूजा व षोडशोपचार पूजा के उल्लेख मिलते हैं। जैनों में उसके स्थान पर अष्ट प्रकारी पूजा एवं सतरह भेदी पूजा के उल्लेख हैं। दोनों में नाम क्रम आदि देखने पर यह सिद्ध होता है कि जैन परम्परा में पूजा विधि का विकास वैष्णव परम्परा से प्रभावित है। सामान्यतया भक्ति के क्षेत्र में विग्रह-पूजा की प्राथमिकता रही है और जैन परम्परा में भी चाहे किंचित परवर्ती क्यों न हों, किन्तु जिन मूर्तियों की पूजा के रूप में इसका प्रचलन हुआ। जैन पूजा पद्धति वैष्णव भक्ति परम्परा से न केवल प्रभावित रही, अपितु उसका अनुकरण मात्र है तथा जैन दर्शन की मान्यताओं के विरुद्ध है इस तथ्य की पं. फूलचन्द जी सिद्धान्त शास्त्री ने भी ज्ञान-पीठ पूजाञ्जली में विस्तार से चर्चा की है। मैने भी अपने लेख जैन धर्म के धार्मिक अनुष्ठान एवं कला तत्त्व में विस्तार से चर्चा की है। यहां इसका उल्लेख मात्र यह बताना है कि जैन परम्परा में भक्ति मार्ग का जो विकास है, वह हिन्दू परम्परा से प्रभावित होकर ही हुआ है।

जहां तक दास, सख्य, एवं आत्म-निवेदन रूप भक्तियों के उल्लेख का प्रश्न है, अनीश्वरवादी जैन परम्परा में स्वामी-सेवक भाव से प्रभु की उपासना स्वीकृत नहीं रही है, क्योंकि उसमें भक्ति का लक्ष्य उस परमात्म दशा की प्राप्ति है जिसमें स्वामी-सेवक का भाव

समाप्त हो जाता है। फिर भी साधक दशा में परमात्मा के प्रति पूज्य बुद्धि जैन परम्परा में भी मान्य रही और उस रूप में जैन साधक अपने को परमात्मा का सेवक भी सूचित करता है। जैन भक्ति गीतों में अनेक स्थानों पर भक्त अपने को परमात्मा के सेवक के रूप में प्रस्तुत भी करता है। जैन संत आनन्दघन जी लिखते हैं --

एक अरज सेवक तणीरे, अवधारो जिनदेव ।

कृपा करी मुझ दीजिए रे, आनन्दघन पद सेव ॥ - विमल जिन स्तवन

फिर भी वैष्णव भक्ति परम्परा में जो सदैव ही परमात्मा का सेवक बने रहने की उत्कट भावना है, वह जैन परम्परा में नहीं पायी जाती। उसका आदर्श तो स्वयं परमात्म पद को प्राप्त कर लेना है। उस सर्वोच्च स्थिति में स्वामी और सेवक का भेद नहीं रह जाता। भक्त सदैव ही यह प्रार्थना करता है कि -- भक्त और भगवान के बीच का यह अन्तर कैसे समाप्त हो ? सन्त आनन्दघन जी लिखते हैं कि --

पद्यप्रभ जिन तुझ मुज आंतरूं रे, किम भांजे भगवंत ।

कर्म विपाक कारण जोइनेरे कोई कहे मतिमंत ॥

अन्त में उस अन्तर को समाप्त होने की पूर्ण आस्था रखते हुए भक्त कहता है कि --

तुझ मुझ अन्तर अन्त भांजसे बाजस्ये मंगलतूर-आनन्दघन ग्रन्थावली, पद्मप्रभ जिनस्तवन ।

इसी प्रकार सहजानन्द जी प्रभु की स्तुति करते हुए कहते हैं कि --

सुपारस प्रभु सेवथी, सेवक सेव्य समान;

अनुभव गम्य करी लहो, सहजानन्दघन यान...

जैन भक्ति का आदर्श वाक्य है -- वन्दे तद् गुणलब्धये-तत्त्वार्थसूत्र-मंगलाधरण ।

इस प्रकार जैन धर्म में भक्ति का प्रयोजन परमात्म दशा को प्राप्त कर स्वामी-सेवक भाव समाप्त करना ही रहा है ।

इसी प्रकार सख्य भाव से भक्ति के उल्लेख भी जैन परम्परा में मिल जाते हैं। फिर भी दोनों परम्परा में जो मौलिक अन्तर है उसे लक्ष्य में रखना ही होगा। जैन परम्परा में परमात्मा कोई एक व्यक्ति विशेष नहीं है जिससे सख्य भाव से जुड़ा जा सके। अपितु प्रत्येक आत्मा का अपना शुद्ध स्वरूप ही उसका सखा या मित्र है।

इसी प्रकार वैष्णव परम्परा में परमात्मा को पति मानकर भक्ति की परम्परा भी पायी जाती है। प्रेम और विरह के रूप में भक्ति गीतों का परम्परा अति प्राचीन है। यद्यपि जैन परम्परा की साधना का मुख्य उद्देश्य तो राग-भाव से ऊपर उठना ही रहा है फिर भी परमात्मा के प्रति अनन्य प्रेम का प्रकटन उसमें भी हुआ है। यद्यपि मेरी दृष्टि में यह सब वैष्णव भक्तिमार्गी परम्परा का ही प्रभाव रहा है। समयसुन्दर, आनन्दघन, यशोविजय, देवचन्द्र आदि जैन कवियों ने परमात्मा को पति मानकर अनेक भक्ति गीतों की रचना की। आनन्दघन ने

विरह-भक्ति के अनेक गीत लिखे हैं। उनके कुछ उदाहरण प्रस्तुत हैं --

ऋषभ जिणेसर प्रीतम माहरो, और न चाहूँ कंत ।
 रींझ्योँ साहब सेज न परिहरे, भागे सादि अनन्त ।।
 प्रीत सगाई जग मां सहु करै, प्रीत सगाई न कोय ।
 प्रीत सगाई निरूपाधिक कही रे, सोपाधिक धन खोय ।।
 प्रीतम प्रानपति बिना, प्रिया कैसे जीवै हो ।
 प्रान-पवन विरहा-दशा, भुअंगनि पीवै हो ।।
 सीतल पंखा कुमकुमा, चन्दन कहा लावै हो ।
 अनल न विरहालन यह है, तन ताप बढ़ावै हो ।।
 वेदन विरह अथाह है, पानी नव नेजा हो ।
 कौन हबीब तबीब है, टारै करक करेजा हो ।।
 गाल हथेली लगाइ कै, सुरसिंधु हमेली हो ।
 अंसुवन नीर बहाय कै, सींचू कर बेली हो ।।
 मिलापी आन मिलावो रे, मेरे अनुभव मीठडे मीत ।
 घातिक पिउ पिउ करै रे, पीउ मिलावे न आन ।
 जीव पीवन पीउं पीउं करै प्यारे, जीउ निउ आन अयान ।।

इस प्रकार जैन परम्परा में विरह व प्रेम को लेकर अनेक भक्ति गीतों की रचनाएं हुई हैं। उसमें शूद्र चैतन्य आत्मा को पति तथा आत्मा के समता रूप स्वाभाविक दशा को पत्नी तथा आत्मा की ही वैभाविक दशा को सौत के रूप में चित्रित कर आध्यात्मिक प्रेम का अनूठा वर्णन किया गया है।

नारद भक्तिसूत्र में प्रेम स्वरूपा भक्ति के निम्न ग्यारह प्रकारों का उल्लेख हुआ है --

1. गुणमहात्म्यासक्ति 2. रूपासक्ति 3. पूजासक्ति 4. स्मरणासक्ति 5. दास्यासक्ति
6. सख्यासक्ति 7. कान्तासक्ति 8. वात्सल्यासक्ति 9. आत्मनिवेदनासक्ति
10. तन्मयतासक्ति 11. परमविरहासक्ति

इनमें भी रूपासक्ति, स्मरणासक्ति, गुणमहात्म्यासक्ति और पूजासक्ति तो स्तवन, वंदन एवं पूजन के रूप में जैन परम्परा में भी पाई जाती है। शेष दास सख्य, कान्ता, वात्सल्य आदि को भी परवर्ती जैनाचार्यों ने अपनी परम्परागत दार्शनिक मान्यताओं के अनुरूप बनाकर प्रस्तुत किया है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि जैन परम्परा में भक्ति की अवधारणा स्तवन, वंदन, विनय, पूजा और सेवा इन सभी-पक्षों को समाहित किये हुए है। सेवा के क्षेत्र में भक्ति के दो रूप रहे हैं -- एक तो स्वयं आराध्य आदि की प्रतिमा की सेवा करना, गीता के युग से ही संसार के सभी प्राणियों को प्रभु का प्रतिनिधि मानकर उनकी सेवा को भी भक्ति में स्थान दिया गया। जैन परम्परा में भी निशीथ चूर्णि (सातवीं शती) में यह प्रश्न उठा कि एक व्यक्ति जो प्रभु का नाम

स्मरण करता है, दूसरा जो ग्लान वृद्ध व रोगियों की सुश्रुषा करता है, उनमें कौन श्रेष्ठ है ? इस सम्बन्ध में स्पष्ट रूप से यह कहा गया है कि जो वृद्ध, रोगी आदि की सेवा करता है, वह भगवान की ही सेवा करता है। इस प्रकार भक्ति में सेवा की जो अवधारणा थी, उसने एक लोक-कल्याणकारी रूप ग्रहण किया, यही जैन भक्ति की विशेषता है।

जैनधर्म में स्वाध्याय का अर्थ एवं स्थान

- प्रो. सागरमल जैन

जैन साधना का लक्ष्य समभाव (सामायिक) की उपलब्धि है और समभाव की उपलब्धि हेतु स्वाध्याय और सत्साहित्य का अध्ययन आवश्यक है। सत् साहित्य का स्वाध्याय मनुष्य का एक ऐसा मित्र है, जो अनुकूल एवं प्रतिकूल दोनों स्थितियों में उसका साथ निभाता है और उसका मार्ग-दर्शन कर उसके मानसिक विकारों एवं तनावों को समाप्त करता है। ऐसे साहित्य के स्वाध्याय से व्यक्ति को सदैव ही आत्मतोष और आध्यात्मिक आनन्द की अनुभूति होती है, मानसिक तनावों से मुक्ति मिलती है। यह मानसिक शांति का अमोघ उपाय है।

स्वाध्याय का महत्त्व

सत्-साहित्य स्वाध्याय का महत्त्व अति प्राचीन काल से ही स्वीकृत रहा है। औपनिषदिक चिन्तन में जब शिष्य अपनी शिक्षा पूर्ण करके गुरु के आश्रम से बिदाई लेता, तो उसे दी जाने वाली अन्तिम शिक्षाओं में एक शिक्षा होती थी -- स्वाध्यायान् मा प्रमदः अर्थात् स्वाध्याय में प्रमाद मत करना। स्वाध्याय एक ऐसी वस्तु है जो गुरु की अनुपस्थिति में भी गुरु का कार्य करती थी। स्वाध्याय से हम कोई-न-कोई मार्ग दर्शन प्राप्त कर ही लेते हैं। महात्मा गांधी कहा करते थे कि -- "जब भी मैं किसी कठिनाई में होता हूँ, मेरे सामने कोई जटिल समस्या होती है, जिसका निदान मुझे स्पष्ट रूप से प्रतीत नहीं होता है। मैं गीता-भाता की गोद में चला जाता हूँ, वहाँ मुझे कोई-न-कोई समाधान अवश्य मिल जाता है।" यह सत्य है कि व्यक्ति कितने ही तनाव में क्यों न हो, अगर वह ईमानदारी से सदग्रन्थों का स्वाध्याय करता है तो उसे उनमें अपनी पीड़ा से मुक्ति का मार्ग अवश्य ही दिखायी देता है।

जैन परम्परा में जिसे मुक्ति कहा गया है, वह वस्तुतः राग-द्वेष से मुक्ति है, मानसिक तनावों से मुक्ति है और ऐसी मुक्ति के लिए पूर्व कर्म संस्कारों का निर्जरण या क्षय आवश्यक माना गया है। निर्जरा का अर्थ है -- मानसिक ग्रन्थियों को जर्जरित करना अर्थात् मन की राग-द्वेष, अहंकार आदि की गांठों को खोलना। इसे ग्रन्थि-भेद करना भी कहते हैं। निर्जरा एक साधना है। वस्तुतः वह तप की ही साधना है। जैन परम्परा में तप साधना के जो 12 भेद माने गए हैं, उनमें स्वाध्याय की गणना आन्तरिक तप के अन्तर्गत होती है। इस प्रकार स्वाध्याय मुक्ति का मार्ग है। जैन साधना का एक आवश्यक अंग है।

उत्तराध्ययनसूत्र में स्वाध्याय को आन्तरिक तप का एक प्रकार बताते हुए उसके पाँचों अंगों एवं उनकी उपलब्धियों की विस्तार से चर्चा की गई है। बृहत्कल्पभाष्य में स्पष्ट रूप से

यह कहा गया है कि -- "नवि अत्थि न वि अ होही, सज्झाय समं तपो कम्मं" अर्थात् स्वाध्याय के समान दूसरा तप न अतीत में कोई था, न वर्तमान में कोई है और न भविष्य में कोई होगा। इस प्रकार जैन परम्परा में स्वाध्याय को आध्यात्मिक साधना के क्षेत्र में विशेष महत्त्व दिया गया है। उत्तराध्ययनसूत्र में कहा गया है कि स्वाध्याय से ज्ञान का प्रकाश प्राप्त होता है, जिससे समस्त दुःखों का क्षय हो जाता है। वस्तुतः स्वाध्याय ज्ञान प्राप्ति का एक महत्त्वपूर्ण उपाय है। कहा भी है --

नाणस्स सव्वस्स पयासणाए, अन्नाण-मोहस्स विवज्जणाए ।

रागस्स दोसस्स य संखएणं, एगन्तसोक्खं समुवेई मोक्खं ।।

तस्सेस मग्गो गुरु-विद्धसेवा, वज्जणा बालज्जणस्स दूरा ।

सज्झाय-एगन्तनिसेवणा य, सुत्तत्थसंचिन्तणया धिई य ।।

- उत्तराध्ययनसूत्र, 32/2-3

अर्थात् सम्पूर्ण ज्ञान के प्रकाशन से, अज्ञान और मोह के परिहार से, राग-द्वेष के पूर्ण क्षय से जीव एकान्त सुख-रूप मोक्ष को प्राप्त करता है। गुरुजनों की और वृद्धों की सेवा करना, अज्ञानी लोगों के सम्पर्क से दूर रहना, सूत्र और अर्थ का चिन्तन करना, स्वाध्याय करना और धैर्य रखना -- यही दुःखों से मुक्ति का उपाय है।

स्वाध्याय का अर्थ

स्वाध्याय शब्द का सामान्य अर्थ है -- स्व का अध्ययन। वाचस्पत्यम् में स्वाध्याय शब्द की व्याख्या दो प्रकार से की गयी है -- 1. स्व + अधि + ईण जिसका तात्पर्य है कि स्व का अध्ययन करना, दूसरे शब्दों में स्वाध्याय आत्मानुभूति है, अपने अन्दर झाँक कर अपने आप को देखना है। वह स्वयं अपना अध्ययन है। मेरी दृष्टि में अपने विचारों, वासनाओं व अनुभूतियों को जानने व समझने का प्रयत्न ही स्वाध्याय है। वस्तुतः वह अपनी आत्मा का अध्ययन ही है। आत्मा के दर्पण में अपने को देखना है। जब तक स्व का अध्ययन नहीं होगा, व्यक्ति अपनी वासनाओं एवं विकारों का द्रष्टा नहीं बनेगा तब तक वह उन्हें दूर करने का प्रयत्न नहीं करेगा और जब तक वे दूर नहीं होंगे, तब तक आध्यात्मिक पवित्रता या आत्म-विशुद्धि संभव नहीं होगी और आत्म-विशुद्धि के बिना मुक्ति असम्भव है। यह एक सुस्पष्ट तथ्य है कि जो गृहिणी अपने घर की गंदगी को देख पाती है, वह उसे दूर कर घर को स्वच्छ भी रख सकती है। इसी प्रकार जो व्यक्ति अपनी मनोदैहिक विकृतियों को जान लेता है और उनके कारणों का निदान कर लेता है, वही सुयोग्य वैद्य के परामर्श से उनकी योग्य चिकित्सा करके अन्त में स्वास्थ्य लाभ करता है। यही बात हमारी आध्यात्मिक विकृतियों को दूर करने की प्रक्रिया में भी लागू होती है। जो व्यक्ति स्वयं अपने अन्दर झाँककर अपनी चैतसिक विकृतियों अर्थात् कषायों को जान लेता है, वही योग्य गुरु के सानिध्य में उनका निराकरण करके आध्यात्मिक विशुद्धता को प्राप्त कर लेता है। इस प्रकार स्वाध्याय अर्थात् स्व का अध्ययन आत्म-विशुद्धि की एक अनुपम साधना सिद्ध होती है। हमें स्मरण रखना होगा

स्वाध्याय का मूल अर्थ तो अपना अध्ययन ही है, स्वयं में झांकना है। स्वयं को जानने और पहचानने की वृत्ति के अभाव से सूत्रों या ग्रन्थों के अध्ययन का कोई भी लाभ नहीं होता है। अन्तर्दृष्टि के उन्मीलन के बिना ज्ञान का प्रकाश सार्थक नहीं बन पाता है। कहा भी है --

सुबहुंपि सुयमहीयं, किं काही ? चरणविष्णुहीणस्स ।
अंधस्स जह पलित्ता, दीवसयसहस्स कोडिवि ।।
अप्पंपि सुयमहीयं, पयासयं होई चरणजुत्तस्स ।
इक्को वि जह पईवो, सचक्खुअस्स पयासेई ।।

- आवश्यकनिर्युक्ति, 88-89

अर्थात् जैसे अंधे व्यक्ति के लिए करोड़ों दीपकों का प्रकाश भी व्यर्थ है -- किन्तु आँसू वाले व्यक्ति के लिए एक भी दीपक का प्रकाश सार्थक होता है। उसी प्रकार जिसके अन्तर-चक्षु खुल गये हैं, जिसकी अन्तर्यात्रा प्रारम्भ हो चुकी है, ऐसे आध्यात्मिक साधक के लिए स्वल्प अध्ययन भी लाभप्रद होता है, अन्यथा आत्म विस्मृत व्यक्ति के लिए करोड़ों पदों का ज्ञान भी निरर्थक है। स्वाध्याय में अन्तर्दृष्टि का खुलना -- आत्म-द्रष्टा बनना, स्वयं में झांकना, पहली शर्त है, शास्त्र का पढ़ना या अध्ययन करना उसका दूसरा चरण है।

स्वाध्याय शब्द की दूसरी व्याख्या सु+आ+अधि+ईड् - इस रूप में भी की गई है। इस दृष्टि से स्वाध्याय की परिभाषा होती है -- शोभनोऽध्यायः स्वाध्यायः अर्थात् सत्-साहित्य का अध्ययन करना ही स्वाध्याय है। स्वाध्याय की इन दोनों परिभाषाओं के आधार पर एक बात जो उभर कर सामने आती है वह यह कि सभी प्रकार का पठन-पाठन स्वाध्याय नहीं है। आत्म-विशुद्धि के लिए किया गया अपनी स्वकीय वृत्तियों, भावनाओं व वासनाओं अथवा विचारों का अध्ययन या निरीक्षण तथा ऐसे सदग्रन्थों का पठन-पाठन, जो हमारी चैतसिक विकृतियों के समझने और उन्हें दूर करने में सहायक हों, ही स्वाध्याय के अन्तर्गत आता है। विषय-वासना वर्द्धक, भोगाकांक्षाओं को उदीप्त करने वाले, चित्त को विचलित करने वाले और आध्यात्मिक शांति और समता को भंग करने वाले साहित्य का अध्ययन स्वाध्याय की कोटि में नहीं आता है। उन्हीं ग्रन्थों का अध्ययन ही स्वाध्याय की कोटि में आता है जिससे चित्त वृत्तियों की चंचलता कम होती हो, मन प्रशान्त होता हो और जीवन में संतोष की वृत्ति विकसित होती हो।

स्वाध्याय का स्वरूप

स्वाध्याय के अन्तर्गत कौन सी प्रवृत्तियाँ आती हैं, इसका विश्लेषण जैन परम्परा में विस्तार से किया गया है। स्वाध्याय के पाँच अंग माने गए हैं -- 1. वाचना 2. प्रतिपृच्छना 3. परावर्तना 4. अनुप्रेक्षा और 5. धर्मकथा।

1. गुरु के सान्निध्य में सदग्रन्थों का अध्ययन करना वाचना है। वर्तमान सन्दर्भ में हम किसी सदग्रन्थ के पठन-पाठन एवं अध्ययन को वाचना के अर्थ में ग्रहीत कर सकते हैं।

2. प्रतिपृच्छना का अर्थ है पठित या पढ़े जाने वाले ग्रन्थ के अर्थबोध में सन्देह आदि की निवृत्ति हेतु जिज्ञासा वृत्ति से, या विषय के स्पष्टीकरण के निमित्त प्रश्न-उत्तर करना।

3. पूर्व पठित ग्रन्थ की पुनरावृत्ति या पारायण करना, यह परावर्तना है।

4. पूर्व पठित विषय के सन्दर्भ में चिन्तन-मनन करना अनुप्रेक्षा है।

5. इसी प्रकार अध्ययन के माध्यम से जो ज्ञान प्राप्त हुआ है, उसे दूसरों को प्रदान करना या धर्मोपदेश देना धर्मकथा है।

यहाँ यह भी स्मरण रखना है कि स्वाध्याय के क्षेत्र में इन पाँचों अवस्थाओं का एक क्रम है। इनमें प्रथम स्थान वाचना का है। अध्ययन किए गए विषय के स्पष्ट बोध के लिए प्रश्नोत्तर के माध्यम से शंका का निवारण करना -- इसका क्रम दूसरा है, क्योंकि जब तक अध्ययन नहीं होगा तब तक शंका आदि भी नहीं होंगी। अध्ययन किए गए विषय के स्थिरीकरण के लिए उसका पारायण आवश्यक है। इससे एक ओर स्मृति सुदृढ़ होती है तो दूसरी ओर क्रमशः अर्थ-बोध में स्पष्टता का विकास होता है -- इसके पश्चात् अनुप्रेक्षा या चिन्तन का क्रम आता है। चिन्तन के माध्यम से व्यक्ति पठित विषय को न केवल स्थिर करता है, अपितु वह उसके अर्थबोध की गहराई में जाकर स्वतः की अनुभूति के स्तर पर उसे समझने का प्रयत्न करता है। इस प्रकार चिन्तन एवं मनन के द्वारा जब विषय स्पष्ट हो जाय, तो व्यक्ति को धर्मोपदेश देने या अध्ययन कराने का अधिकार मिलता है।

स्वाध्याय के लाभ

उत्तराध्ययनसूत्र में यह प्रश्न उपस्थित किया गया है कि स्वाध्याय से जीव को क्या लाभ होता है ? इसके उत्तर में कहा गया है कि स्वाध्याय से ज्ञानावरणकर्म का क्षय होता है। दूसरे शब्दों में आत्मा मिथ्याज्ञान का आवरण दूर करके सम्यक्ज्ञान का अर्जन करता है। स्वाध्याय के इस सामान्य लाभ की चर्चा के साथ उत्तराध्ययनसूत्र में स्वाध्याय के पाँचों अंगों -- वाचना, प्रतिपृच्छना, धर्मकथा आदि के अपने अपने क्या लाभ होते हैं इसकी भी चर्चा की गयी है, जो निम्न रूप में पायी जाती है --

भन्ते ! वाचना (अध्ययन) से जीव को क्या प्राप्त होता है ?

वाचना से जीव कर्मों की निर्जरा करता है, श्रुतज्ञान की आशातना के दोष से दूर रहने वाला वह तीर्थ-धर्म का अवलम्बन करता है -- गणधरों के समान जिज्ञासु शिष्यों को श्रुत प्रदान करता है। तीर्थ-धर्म का अवलम्बन लेकर कर्मों की महानिर्जरा करता है और महापर्यवसान (संसार का अन्त) करता है।

भन्ते ! प्रतिपृच्छना से जीव को क्या प्राप्त होता है ?

प्रतिपृच्छना (पूर्वपठित शास्त्र के सम्बन्ध में शंकानिवृत्ति के लिए प्रश्न करना) से जीव सूत्र, अर्थ और तदुभय अर्थात् दोनों से सम्बन्धित कांक्षामोहनीय (संशय) का निराकरण करता है।

भन्ते ! परावर्तना से जीव को क्या प्राप्त होता है ?

परावर्तना से अर्थात् पठित पाठ के पुनरावर्तन से व्यंजन (शब्द-पाठ) स्थिर होता है और जीव पदानुसारिता आदि व्यंजना-लब्धि को प्राप्त होता है।

मन्ते ! अनुप्रेक्षा से जीव को क्या प्राप्त होता है ?

अनुप्रेक्षा अर्थात् सूत्रार्थ के चिन्तन-मनन से जीव आयुष्यकर्म को छोड़कर शेष ज्ञानावरणादि सात कर्मों की प्रकृतियों के प्रगाढ़ बन्धन को शिथिल करता है। उनकी दीर्घकालीन स्थिति को अल्पकालीन करता है। उनके तीव्र रसानुभाव को मन्द करता है। बहुकर्म प्रदेशों को अल्प-प्रदेशों में परिवर्तित करता है। आयुष्यकर्म का बन्ध कदाचित् करता है, कदाचित् नहीं भी करता है। असातावेदनीयकर्म का पुनः-पुनः उपचय नहीं करता है। जो संसार अटवी अनादि एवं अनन्त है, दीर्घमार्ग से युक्त है, जिसके नरकादि गतिरूप चार अन्त (अवयव) है, उसे शीघ्र ही पार करता है।

मन्ते ! धर्मकथा (धर्मोपदेश) से जीव को क्या प्राप्त होता है ?

धर्म कथा से जीव कर्मों की निर्जरा करता है और प्रवचन (शासन एवं सिद्धान्त) की प्रभावना करता है। प्रवचन की प्रभावना करने वाला जीव भविष्य में शुभ फल देने वाले पुण्य कर्मों का बन्ध करता है¹।

इसी प्रकार स्थानांग सूत्र में भी शास्त्राध्ययन के क्या लाभ हैं ? इसकी चर्चा उपलब्ध होती है। इसमें कहा गया है कि सूत्र की वाचना के 5 लाभ हैं -- 1. वाचना से श्रुत का संग्रह होता है अर्थात् यदि अध्ययन का क्रम बना रहे तो ज्ञान की वह परम्परा अविच्छिन्न रूप से चलती रहती है। 2. शास्त्राध्ययन-अध्यापन की प्रवृत्ति से शिष्य का हित होता है, क्योंकि वह उसके ज्ञान की प्राप्ति का महत्वपूर्ण साधन है। 3. शास्त्राध्ययन अर्थात् अध्यापन की प्रवृत्ति बनी रहने से ज्ञानावरण कर्म की निर्जरा होती है अर्थात् अज्ञान का नाश होता है। 4. अध्ययन-अध्यापन की प्रवृत्ति के जीवित रहने से उसके विस्मृत होने की सम्भावना नहीं रहती है। 5. जब श्रुत स्थिर रहता है तो उसकी अविच्छिन्न परम्परा चलती रहती है।

स्वाध्याय का प्रयोजन

स्थानांगसूत्र (5) में स्वाध्याय क्यों करना चाहिए इसकी चर्चा उपलब्ध होती है। इसमें यह बताया गया है कि स्वाध्याय के निम्न पाँच प्रयोजन होने चाहिए --

1. ज्ञान की प्राप्ति के लिये 2. सम्यक् ज्ञान की प्राप्ति के लिये 3. सदाचरण में प्रवृत्ति के हेतु 4. दुराग्रहों और अज्ञान का विमोचन करने के लिये 5. यथार्थ का बोध करने के लिए या यथा अवस्थित भावों का ज्ञान प्राप्त करने के लिए।

आचार्य अकलंक ने तत्त्वार्थराजवार्तिक, 9/25 में स्वाध्याय के निम्न पाँच प्रयोजनों की भी चर्चा की है --

1. उत्तराध्ययनसूत्र, 29/20-24.

1. बुद्धि की निर्मलता, 2. प्रशस्त मनोभावों का प्राप्ति, 3. जिन शासन की रक्षा, 4. संशय की निवृत्ति, 5. परिवादियों की शंका का निरसन, 6. तप-त्याग की वृद्धि और अतिचारों (दोषों) की शुद्धि।

स्वाध्याय का साधक जीवन में स्थान

स्वाध्याय का जैन परम्परा में कितना महत्त्व रहा है, इस सम्बन्ध में मैं अपनी ओर से कुछ न कहकर उत्तराध्ययनसूत्र के माध्यम से ही अपनी बात को स्पष्ट करूँगा। उसमें मुनि की जीवन-चर्या की चर्चा करते हुए कहा गया है--

दिवसस्स चउरो भागे कुज्जा भिक्खू वियक्खणो ।
 तओ उत्तरगुणे कुज्जा दिणभागेसु चउसु वि ।।
 पढमं पोरिसि सज्झायं बीयं झाणं झियायई ।
 तइयाए भिक्खाचरियं पुणो चउत्थीए सज्झायं ।।
 रत्ति पि चउरो भागे भिक्खू कुज्जा वियक्खणो ।
 तओ उत्तरगुणे कुज्जा राइभाएसु चउसु वि ।।
 पढमं पोरिसि सज्झायं बीयं झियायई ।
 तइयाए निदुदभोक्खं तु चउत्थी भुज्जो वि सज्झायं ।।

- उत्तराध्ययनसूत्र, 26/11,12,17,18

मुनि दिन के प्रथम प्रहर में स्वाध्याय करें, दूसरे प्रहर में ध्यान करें, तीसरे में भिक्षा-चर्या एवं दैहिक आवश्यकता की निवृत्ति का कार्य करें। पुनः चतुर्थ प्रहर में स्वाध्याय करें इसी प्रकार रात्रि के प्रथम प्रहर में स्वाध्याय, दूसरे में ध्यान, तीसरे में निद्रा व चौथे में पुनः स्वाध्याय का निर्देश है। इस प्रकार मुनि प्रतिदिन चार प्रहर अर्थात् 12 घंटे स्वाध्याय में रत रहे, दूसरे शब्दों में साधक जीवन का आधा भाग स्वाध्याय के लिये नियत था। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि जैनपरम्परा में स्वाध्याय की महत्त्व प्राचीन काल से ही सुस्थापित रहा है, क्योंकि यही एक ऐसा माध्यम था जिसके द्वारा व्यक्ति के अज्ञान का निवारण तथा आध्यात्मिक विशुद्धि सम्भव थी।

सत्साहित्य के अध्ययन की दिशाएँ

सत्-साहित्य के पठन के रूप में स्वाध्याय की क्या उपयोगिता है ? यह सुस्पष्ट है। वस्तुतः सत्- साहित्य का अध्ययन व्यक्ति की जीवन दृष्टि को ही बदल देता है। ऐसे अनेक लोग हैं जिनकी सत्-साहित्य के अध्ययन से जीवन की दिशा ही बदल गयी। स्वाध्याय एक ऐसा माध्यम है, जो एकांत के क्षणों में हमें अकेलापन महसूस नहीं होने देता और एक सच्चे मित्र की भाँति सदैव साथ देता है और मार्ग-दर्शन करता है।

वर्तमान युग में यद्यपि लोगों में पढ़ने-पढ़ाने की रूचि विकसित हुई है, किन्तु हमारे पठन की विषय वस्तु सम्यक् नहीं है। आज के व्यक्ति के पठन-पाठन का मुख्य विषय पत्र-पत्रिकाएँ हैं।

इनमें मुख्य रूप से वे ही पत्रिकाएँ अधिक पसंद की जा रही हैं जो वासनाओं को उभारने वाली तथा जीवन के विद्वृपित पक्ष को यथार्थ के नाम पर प्रकट करने वाली हैं। आज समाज में नैतिक मूल्यों का जो पतन है उसका कारण हमारे प्रसार माध्यम भी हैं। इन माध्यमों में पत्र-पत्रिकाएँ तथा आकाशवाणी एवं दूरदर्शन प्रमुख हैं। आज स्थिति ऐसी है कि ये सभी अपहरण, बलात्कार, गबन, डकैती, चोरी, हत्या -- इन सबकी सूचनाओं से भरे पड़े होते हैं और हम उनको पढ़ने और देखने में अधिक रस लेते हैं। इनके दर्शन और प्रदर्शन से हमारी जीवन दृष्टि ही विकृत हो चुकी है, आज सच्चरित्र व्यक्तियों एवं उनके जीवन वृत्तान्तों की सामान्य रूप से इन माध्यमों के द्वारा उपेक्षा की जाती है। अतः नैतिकमूल्यों और सदाचार से हमारी आस्था उठती जा रही है।

इन विकृत परिस्थितियों में यदि मनुष्य के चरित्र को उठाना है और उसे सन्नार्ग एवं नैतिकता की ओर प्रेरित करना है तो हमें अपने अध्ययन की दृष्टि बदलना होगा। आज साहित्य के नाम पर जो भी है वह पठनीय है, ऐसा नहीं है। आज यह आवश्यक है कि सत्-साहित्य का प्रसारण हो और लोगों में उसके अध्ययन की अभिरुचि जागृत हो। यही सच्चे अर्थ में स्वाध्याय है।

जैन साधना में ध्यान

सागरमल जैन

श्रमणधारा और ध्यान

भारतीय अध्यात्मवादी परम्परा में ध्यान साधना का अस्तित्व अति प्राचीनकाल से ही रहा है। यहां तक कि अति प्राचीन नगर मोहन-जोदरो और हरप्पा से खुदाई में, जो सीलें आदि उपलब्ध हुई हैं, उनमें भी ध्यानमुद्रा में योगियों के अंकन पाये जाते हैं।^१ इस प्रकार ऐतिहासिक अध्ययन के, जो भी प्राचीनतम स्रोत हमें उपलब्ध हैं, वे सभी भारत में ध्यान की परम्परा के अति प्राचीनकाल से प्रचलित होने की पुष्टि करते हैं। उनसे यह भी सिद्ध होता है कि भारत में यज्ञ-मार्ग की अपेक्षा ध्यान मार्ग की परम्परा प्राचीन है और उसे सदैव ही आदरपूर्ण स्थान प्राप्त रहा है।

औपनिषदिक परम्परा और उसकी सहवर्ती श्रमण परम्पराओं में साधना की दृष्टि से ध्यान का महत्वपूर्ण स्थान रहा था। औपनिषदिक ऋषि-गण और श्रमण-साधक अपनी दैनिक जीवनचर्या में ध्यान-साधना को स्थान देते रहे हैं - यह एक निर्विवाद तथ्य है। महावीर और बुद्ध के पूर्व भी अनेक ऐसे श्रमण साधक थे, जो ध्यान साधना की विशिष्ट विधियों के न केवल ज्ञाता थे, अपितु अपने सान्निध्य में अनेक साधकों को उन ध्यान-साधना की विधियों का अभ्यास भी करवाते थे। इन आचार्यों की ध्यान साधना की अपनी-अपनी विशिष्ट विधियाँ थीं, ऐसे संकेत भी मिलते हैं। बुद्ध अपने साधनाकाल में ऐसे ही एक ध्यान-साधक श्रमण आचार्य रामपुत्र के पास स्वयं ध्यान-साधना के अभ्यास के लिए गये थे। रामपुत्र के संबंध में त्रिपिटक साहित्य में यह भी उल्लेख मिलता है कि स्वयं भगवान् बुद्ध ज्ञान प्राप्ति के पश्चात् भी अपनी साधना की उपलब्धियों को बताने हेतु उनसे मिलने के लिए उत्सुक थे, किन्तु तब तक उनकी मृत्यु हो चुकी थी।^२ इन्हीं रामपुत्र का उल्लेख जैन आगम साहित्य में भी आता है। प्राकृत आगमों में सूत्रकृतांग^३ में उनके नाम के निर्देश के अतिरिक्त अन्तकृत्तदशा^४, ऋषिभाषित^५ आदि में तो उनसे संबंधित स्वतंत्र अध्याय भी रहे थे। दुर्भाग्य से अन्तकृत्तदशा का वह अध्याय तो आज लुप्त हो चुका है, किन्तु ऋषिभाषित^६ में उनके उपदेशों का संकलन आज भी उपलब्ध है।

१) Mohenjodaro and Indus Civilization, John Marshall Vol. I. Page 52

२) Dictionary of Pali Proper Names, By J. P. Malal Sckhar (1937) Vol. I. P. 382-83

३) सूत्रकृतांग १।३।४।२-३

४) स्थानांग १०।१३३ (इसमें अन्तकृत्तदशा की प्राचीन विषयवस्तु का उल्लेख है)

५) इसिभासियाई - अध्याय २३

६) वही, अध्याय २३

बुद्ध और महावीर को ज्ञान का जो प्रकाश उपलब्ध हुआ वह उनकी ध्यान साधना का परिणाम ही था, इसमें आज किसी प्रकार का वैमत्य नहीं है। किन्तु हमारा यह दुर्भाग्य है कि प्राचीन साहित्य में भी ध्यान साधना की इन पद्धतियों के विस्तृत विवरण आज उपलब्ध नहीं हैं, मात्र यत्र-तत्र विकीर्ण निर्देश ही हमें मिलते हैं। फिर भी जो सूचनायें उपलब्ध हैं, उनके आधार पर इतना तो कहा ही जा सकता है कि औपनिषदिक ऋषिगण और श्रमण साधक अपने आध्यात्मिक विकास के लिए ध्यान-साधना की विभिन्न पद्धतियों का अनुसरण करते थे। उनकी ध्यान-साधना पद्धतियों के कुछ अवशेष आज भी हमें योग परम्परा के साथ-साथ जैन और बौद्ध परम्पराओं में मिल जाते हैं।

जैन धर्म और ध्यान

श्रमण परम्परा की निर्ग्रन्थधारा - जो आज जैन परम्परा के नाम से जानी जाती है - अपने अस्तित्व काल से ध्यान साधना से जुड़ी हुई है। प्राकृत साहित्य के प्राचीनतम ग्रंथों आचारांग, उत्तराध्ययन, ऋषिभाषित आदि में ध्यान का महत्व स्पष्ट रूप से प्रतिपादित है। ऋषिभाषित (इसिभासियाई) में तो स्पष्ट रूप से कहा गया है कि शरीर में जो स्थान मस्तिष्क का है, साधना में वही स्थान ध्यान का है।^१ उत्तराध्ययन सूत्र में श्रमण जीवन की दिनचर्या का विवरण प्रस्तुत करते हुए कहा गया है कि प्रत्येक श्रमण साधक को दिन और रात्रि के दूसरे प्रहर में नियमित रूप से ध्यान करना चाहिए।^२ आज भी जैन श्रमण को निद्रात्याग के पश्चात्, भिक्षाचर्या एवं पदयात्रा से लौटने पर, गमनागमन एवं मलमूत्र आदि के विसर्जन के पश्चात् तथा प्रातःकालीन और सायंकालीन प्रतिक्रमण करते समय ध्यान करना होता है।^३ उसके आचार और उपासना के साथ कदम-कदम पर ध्यान प्रक्रिया जुड़ी हुई है।

जैन परम्परा में ध्यान का कितना महत्व है - इसका सबसे बड़ा प्रमाण तो यह है कि जैन तीर्थंकरों की प्रतिमायें चाहे वे खड्गासन में हों या पद्मासन में सदैव ही ध्यानमुद्रा में उपलब्ध होती हैं। आज तक कोई भी जिन प्रतिमा ध्यान-मुद्रा के अतिरिक्त किसी भी अन्य मुद्रा में उपलब्ध ही नहीं हुई है। यद्यपि तीर्थंकर या जिन प्रतिमाओं के अतिरिक्त बुद्ध की भी कुछ प्रतिमायें ध्यान मुद्रा में उपलब्ध हुई हैं किन्तु बुद्ध की अधिकांश प्रतिमायें तो ध्यानेतर मुद्राओं - यथा अभयमुद्रा, वरद-मुद्रा और उपदेश-मुद्रा में ही मिलती हैं। इसी प्रकार शिव की कुछ प्रतिमायें भी ध्यान मुद्रा में मिलती हैं - किन्तु नृत्य मुद्रा आदि में भी शिव प्रतिमायें विपुल परिमाण में उपलब्ध होती हैं। इस प्रकार जहां अन्य परम्पराओं में

१) इसिभासियाई (ऋषिभाषित), २२।१४

२) उत्तराध्ययन सूत्र २६।१८

३) श्रमण सूत्र (उपाध्याय अमरमुनि), प्रथम संस्करण पृ. १३३-१३४

अपने आराध्य देवों की प्रतिमायें ध्यानेतर मुद्राओं में भी बनती रहीं, वहां तीर्थकर या जिन प्रतिमायें मात्र ध्यानमुद्रा में ही निर्मित हुई, किसी भी अन्य मुद्रा में नहीं बनीं। जिनप्रतिमाओं के निर्माण का दो सहस्र वर्ष का इतिहास इस बात का साक्षी है कि कभी भी कोई भी जिन-प्रतिमा/तीर्थकर प्रतिमा ध्यान-मुद्रा के अतिरिक्त किसी अन्य मुद्रा में नहीं बनाई गयी। इससे जैन परम्परा में ध्यान का क्या स्थान रहा है - यह सुस्पष्ट हो जाता है। जैनाचार्यों ने ध्यान को साधना का मस्तिष्क माना है। जिस प्रकार मस्तिष्क के निष्क्रिय हो जाने पर मानव जीवन का कोई अर्थ नहीं रह जाता है, उसी प्रकार ध्यान के अभाव में जैन साधना का कोई अर्थ नहीं रह जाता है।

ध्यान - साधना की आवश्यकता

मानव मन स्वभावतः चंचल माना गया है। उत्तराध्ययन सूत्र में मन को दुष्ट अश्व की संज्ञा दी गई, जो कुमार्ग में भागता है।^१ गीता में मन को चंचल बताते हुए कहा गया है कि उसको निग्रहीत करना वायु को रोकने के समान अति कठिन है।^२ चंचल मन में विकल्प उठते रहते हैं - इन्हीं विकल्पों के कारण चैतसिक आकुलता या अशान्ति का जन्म होता है। यह आकुलता ही चेतना में उद्विग्नता या तनाव की उपस्थिति की सूचक है। चित्त की यह उद्विग्न या तनावपूर्ण स्थिति ही असमाधि या दुःख है। इसी चैतसिक पीड़ा या दुःख से विमुक्ति पाना समग्र आध्यात्मिक साधना पद्धतियों का मूलभूत लक्ष्य है। इसे ही निर्वाण या मुक्ति कहा गया है।

मनुष्य में दुःख-विमुक्ति की भावना सदैव ही रही है। यह स्वाभाविक है, आरोपित नहीं है। क्योंकि कोई भी व्यक्ति तनाव या उद्विग्नता की स्थिति में जीना नहीं चाहता है। उद्विग्नता चेतना की विभावदशा है। विभावदशा से स्वभाव में लौटना यही साधना है। पूर्व या पश्चिम की सभी अध्यात्मप्रधान साधना विधियों का लक्ष्य यही रहा है कि चित्त को आकुलता, उद्विग्नता या तनावों से मुक्त करके, उसे निराकुल, अनुद्विग्न चित्तदशा या समाधिभाव में स्थित किया जाये। इसलिये साधना विधियों का लक्ष्य निर्विकार और निर्विकल्प समता युक्त चित्त की उपलब्धि ही है। इसे ही समाधि/सामायिक (प्राकृतसमाधि) कहा गया है। ध्यान इसी समाधि या निर्विकल्प चित्त की उपलब्धि का अभ्यास है। यही कारण है कि वे सभी साधना पद्धतियाँ जो चित्त को अनुद्विग्न, निराकुल, निर्विकार और निर्विकल्प या दूसरे शब्दों में समत्व-युक्त बनाना चाहती हैं, ध्यान को अपनी साधना में अवश्य स्थान देती हैं।

१) उत्तराध्ययन सूत्र २३।५५-५६

२) भगवद्गीता ६।३४

ध्यान का स्वरूप एवं प्रक्रिया

जैनाचार्यों ने ध्यान को 'चित्तनिरोध' कहा है।^१ चित्त का निरोध हो जाना ही ध्यान है। दूसरे शब्दों में यह मन की चंचलता को समाप्त करने का अभ्यास है। जब ध्यान सिद्ध हो जाता है तो चित्त की चंचलता स्वतः ही समाप्त हो जाती है। योगदर्शन में 'योग' को परिभाषित करते हुए भी कहा गया है कि चित्तवृत्ति का निरोध ही 'योग' है। स्पष्ट है कि चित्त की चंचलता की समाप्ति या चित्तवृत्ति का निरोध ध्यान से ही सम्भव है। अतः ध्यान को साधना का आवश्यक अंग माना गया है।

गीता में मन की चंचलता के निरोध को वायु को रोकने के समान अति कठिन माना गया है।^२ उसमें उसके निरोध के दो उपाय बताये गये हैं - १. अभ्यास, २. वैराग्य। उत्तराध्ययन में मन रूपी दुष्ट अश्व को निग्रहीत करने के लिए श्रुत रूपी रस्सियों का प्रयोग आवश्यक बताया गया है।^३ चंचल चित्त की संकल्प-विकल्पात्मक तरंगें या वासानाजन्य आवेग सहज ही समाप्त नहीं हो जाते हैं। पहले उनकी भाग-दौड़ को समाप्त करना होता है। किन्तु यह वासनोन्मुख सक्रिय-मन या विक्षोभित चित्त निरोध के संकल्प मात्र से नियन्त्रित नहीं हो पाता है। पुनः यदि उसे बलात् रोकने का प्रयत्न किया जाता है तो वह अधिक विक्षुब्ध होकर मनुष्य को पागलपन के कंगार पर पहुँचा देता है, जैसे तीव्र गति से चलते हुए वाहन को यकायक रोकने का प्रयत्न भयंकर दुर्घटना का ही कारण बनता है, उसी प्रकार चित्त की चंचलता का यकायक निरोध विक्षिप्तता का कारण बनता है। प्रथमतः मानव मन की गतिशीलता को नियंत्रित कर उसकी गति की दिशा बदलनी होती है। ज्ञान या विवेकरूपी लगाम के द्वारा उस मन रूपी दुष्ट अश्व को कुमार्ग से सन्मार्ग की दिशा में मोड़ा जाता है। इससे उसकी सक्रियता यकायक समाप्त तो नहीं होती, किन्तु उसकी दिशा बदल जाती है। ध्यान में भी यही करना होता है। ध्यान में सर्व प्रथम मन को वासना रूपी विकल्पों से मोड़कर धर्म-चिन्तन में लगाया जाता है - फिर क्रमशः इस चिन्तन की प्रक्रिया को शिथिल या क्षीण किया जाता है। अन्त में एक ऐसी स्थिति आ जाती है जब मन पूर्णतः निष्क्रिय हो जाता है, उसकी भागदौड़ समाप्त हो जाती है। ऐसा मन, मन न रहकर 'अमन' हो जाता है। मन को 'अमन' बना देना ही ध्यान है।

इस प्रकार चैतसिक तनावों या विक्षोभों को समाप्त करने के लिए अथवा निर्विकल्प और शान्त चित्त-दशा की उपलब्धि के लिए ध्यान साधना आवश्यक है।

१) तत्त्वार्थ सूत्र १।२७

२) गीता ६।३४

३) उत्तराध्ययन सूत्र २३।५६

उसके द्वारा संकल्प-विकल्पों में विभक्त चित्त को केन्द्रित किया जाता है। विविध वासनाओं, आकांक्षाओं और इच्छाओं के कारण चेतना-शक्ति अनेक रूपों में विखण्डित होकर स्वतः में ही संघर्षशील हो जाती है।^१ उस शक्ति का यह बिखराव ही हमारा आध्यात्मिक पतन है। ध्यान इस चैतसिक विघटन को समाप्त कर चेतना को केन्द्रित करता है। चूंकि वह विघटित चेतना को संगठित करता है। इसीलिए वह 'योग' (Unification) है। ध्यान चेतना के संगठन की कला है। संगठित चेतना ही शक्तिस्त्रोत है, इसीलिए यह माना जाता है कि ध्यान से अनेक आत्मिक लब्धियां या सिद्धियां प्राप्त होती हैं।

चित्तधारा जब वासनाओं एवं आकांक्षाओं के मार्ग से बहती है तो वह वासनाओं, आकांक्षाओं, इच्छाओं की स्वाभाविक बहुविधता के कारण अनेक धाराओं में विभक्त होकर निर्बल हो जाती है। ध्यान इन विभक्त एवं निर्बल चित्तधाराओं को एक दिशा में मोड़ने का प्रयास है। जब ध्यान की साधना या अभ्यास से चित्तधारा एक दिशा में बहने लगती है, तो न केवल वह सबल होती है, अपितु नियंत्रित होने से उसकी दिशा भी सम्यक् होती है। जिस प्रकार बांध विकीर्ण जलधाराओं को एकत्रित कर उन्हें सबल और सुनियोजित करता है, उसी प्रकार ध्यान भी हमारी चेतनाधारा को सबल और सुनियोजित करता है। जिस प्रकार बांध द्वारा सुनियोजित जल-शक्ति का सम्यक् उपयोग सम्भव हो पाता है, उसी प्रकार ध्यान द्वारा सुनियोजित चेतनशक्ति का सम्यक् उपयोग सम्भव है।

संक्षेप में आत्मशक्ति के केन्द्रीकरण एवं उसे सम्यक् दिशा में नियोजित करने के लिए ध्यान साधना आवश्यक है। वह चित्त वृत्तियों की निरर्थक भागदौड़ को समाप्त कर हमें मानसिक विक्रोभों एवं विकारों से मुक्त रखता है। परिणामतः वह आध्यात्मिक शान्ति और निर्विकल्प चित्त की उपलब्धि का अन्यतम साधन है।

ध्यान के पारम्परिक एवं व्यावहारिक लाभ

ध्यानशतक (ज्ञानज्ज्ञयन) में ध्यान से होनेवाले पारम्परिक एवं व्यावहारिक लाभों की विस्तृत चर्चा है। उसमें कहा गया है कि धर्मध्यान से शुभास्त्रव, संवर, निर्जरा और देवलोक के सुख प्राप्त होते हैं। शुक्ल ध्यान के भी प्रथम दो चरणों का परिणाम शुभास्त्रव एवं अनुत्तर देवलोक के सुख हैं, जबकि शुक्ल ध्यान के अन्तिम दो चरणों का फल मोक्ष या निर्वाण है। यहां यह स्मरण रखने योग्य है कि जब तक ध्यान में विकल्प है, आकांक्षा है, चाहे वह प्रशस्त ही क्यों न हो, तब तक वह शुभास्त्रव का कारण तो होगा ही।

१) पुढो छंदा इह माणवा, पुढो दुक्खं पवेदितं। - आचारांग १।५।२।२५

अणेगचित्ते खलु अयं पुरिसे, से केयणं अरिहए पूइत्तए - आचारांग ५।३।२

फिर भी यह शुभास्रव अन्ततोगत्वा मुक्ति का निमित्त होने से उपादेय ही माना गया है। ऐसा आस्रव मिथ्यात्व के अभाव के कारण संसार की अभिवृद्धि का कारण नहीं बनता है।^१

पुनः ध्यान के लाभों की चर्चा करते हुए उसमें कहा गया है कि जिस प्रकार जल वस्त्र के मल को धोकर उसे निर्मल बना देता है, उसी प्रकार ध्यानरूपी जल आत्मा के कर्मरूपी मल को धोकर उसे निर्मल बना देता है। जिस प्रकार अग्नि लोहे के मैल को दूर कर देती है,^२ जिस प्रकार वायु से प्रेरित अग्नि दीर्घकाल से संचित काष्ठ को जला देती है, उसी प्रकार ध्यानरूपी वायु से प्रेरित साधनारूपी अग्नि पूर्वभवों के संचित कर्म संस्कारों को नष्ट कर देती है। उसी प्रकार ध्यानरूपी अग्नि आत्मा पर लगे हुए कर्मरूपी मल को दूर कर देती है।^३ जिस प्रकार वायु से ताडित मेघ शीघ्र ही विलीन हो जाते हैं। उसी प्रकार ध्यानरूपी वायु से ताडित कर्मरूपी मेघ शीघ्र विलीन हो जाते हैं।^४ संक्षेप में ध्यान साधना से आत्मा कर्मरूपी मल एवं आवरण से मुक्त होकर अपनी शुद्ध निर्विकार ज्ञाताद्रष्टा अवस्था को प्राप्त हो जाता है।

ध्यान के इन चार अलौकिक या आध्यात्मिक लाभों के अतिरिक्त ग्रन्थकार ने उसके ऐहिक, मनोवैज्ञानिक लाभों की भी चर्चा की है। वह कहता है कि जिसका चित्त ध्यान में संलग्न है, वह क्रोधादि कषायों से उत्पन्न होनेवाले ईर्ष्या, विषाद, शोक आदि मानसिक दुःखों से पीडित नहीं होता है।^५ ग्रन्थकार के इस कथन का रहस्य यह है कि जब ध्यान में आत्मा अप्रमत्त चेता होकर ज्ञाता-द्रष्टा भाव में स्थित होता है, तो उस अप्रमत्तता की स्थिति में न तो कषाय ही क्रियाशील होते हैं और न उनसे उत्पन्न ईर्ष्या, द्वेष, विषाद आदि भाव ही उत्पन्न होते हैं। ध्यानी व्यक्ति पूर्व संस्कारों के कारण उत्पन्न होनेवाले कषायों के विपाक को मात्र देखता है, किन्तु उन भावों में परिणत नहीं होता है। अतः काषायिक भावों की परिणति नहीं होने से उसके चित्त के मानसिक तनाव समाप्त हो जाते हैं। ध्यान मानसिक तनावों से मुक्ति का अन्यतम साधन है। ध्यानशतक (ज्ञानञ्जयण) के अनुसार ध्यान से न केवल आत्म विशुद्धि और मानसिक तनावों से मुक्ति मिलती है, अपितु शारीरिक पीड़ाएँ भी कम हो जाती हैं। उसमें लिखा है कि जो चित्त ध्यान में अतिशय स्थिरता प्राप्त कर चुका है, वह शीत, उष्ण आदि शारीरिक दुःखों से भी विचलित नहीं होता है। वह उन्हें निराकुलतापूर्वक सहन कर लेता है।^६ यह हमारा

१) ध्यान शतक (ज्ञानञ्जयण) १३-१६

२) वही १७-१००

३) वही १०१

४) वही १०२

५) ध्यानशतक (वीरसेवामंदिर) १०३

६) वही १०४

व्यावहारिक अनुभव है कि जब हमारी चित्तवृत्ति किसी विशेष दिशा में केन्द्रित होती है तो हम शारीरिक पीडाओं को भूल जाते हैं; जैसे एक व्यापारी व्यापार में भूख-प्यास आदि को भूल जाता है। अतः ध्यान में दैहिक पीडाओं का एहसास भी अल्पतम हो जाता है। आचार्य भद्रबाहु ने कायोत्सर्ग, जो ध्यान साधना की अग्रिम स्थिति है, के लाभों की चर्चा करते हुए आवश्यकनिर्युक्ति में लिखा है कि कायोत्सर्ग के निम्न पांच लाभ हैं^१ १) देह जाड्य शुद्धि - श्लेष्म एवं चर्बी के कम हो जाने से देह की जड़ता समाप्त हो जाती है। कायोत्सर्ग से श्लेष्म, चर्बी आदि नष्ट होते हैं, अतः उनसे उत्पन्न होनेवाली जड़ता भी नष्ट हो जाती है। २) मति जाड्य शुद्धि - कायोत्सर्ग में मन की वृत्ति केन्द्रित हो जाती है, उससे बौद्धिक जड़ता क्षीण होती है। ३) सुख-दुःख तितिक्षा, (समताभाव) ४) कायोत्सर्ग में स्थित व्यक्ति अनुप्रेक्षाओं या भावनाओं का स्थिरतापूर्वक अभ्यास कर सकता है। ५) ध्यान, कायोत्सर्ग में शुभ ध्यान का अभ्यास सहज हो जाता है। इन लाभों में न केवल आध्यात्मिक लाभों की चर्चा है अपितु मानसिक और शारीरिक लाभों की भी चर्चा है। वस्तुतः ध्यान साधना की वह कला है जो न केवल चित्त की निरर्थक भाग-दौड़ को नियंत्रित करती है, अपितु वाचिक और कायिक (दैहिक) गतिविधियों को भी नियंत्रित कर व्यक्ति को अपने आप से जोड़ देती है। हमें एहसास होता है कि हमारा अस्तित्व चैत्तसिक और दैहिक गतिविधियों से भी ऊपर है और हम उनके न केवल साक्षी हैं, अपितु नियामक भी हैं।

ध्यान आत्मसाक्षात्कार की कला

मनुष्य के लिये, जो कुछ भी श्रेष्ठतम और कल्याणकारी है, वह स्वयं अपने को जानना और अपने में जीना है। आत्म बोध से महत्त्वपूर्ण एवं श्रेष्ठतम अन्य कोई बोध ही नहीं। आत्म साक्षात्कार या आत्मज्ञान ही साधना का सारतत्त्व है। साधना का अर्थ है अपने आप के प्रति जागना। वह कोऽहं से सोऽहं तक की यात्रा है। साधना की इस यात्रा में अपने आप के प्रति जागना सम्भव होता है ध्यान के द्वारा। ध्यान में आत्मा, आत्मा के द्वारा आत्मा को जानता है। यह अपने आप के सम्मुख होता है। ध्यान में ज्ञाता अपनी ही वृत्तियों, भावनाओं, आवेगों और वासनाओं को ज्ञेय बनाकर वस्तुतः अपना ही दर्शन करता है। यद्यपि यह दर्शन तभी संभव होता है, जब हम इनका अतिक्रमण कर जाते हैं, अर्थात् इनके प्रति कर्ताभाव से मुक्त होकर साक्षी भाव जगाते हैं। अतः ध्यान आत्मा के दर्शन की कला है। ध्यान ही वह विधि है, जिसके द्वारा हम सीधे अपने ही सम्मुख होते हैं, इसे ही आत्म साक्षात्कार कहते हैं। ध्यान जीव में 'जिन' का, आत्मा से परमात्मा का दर्शन कराता है।

१) आवश्यकनिर्युक्ति १४६२

ध्यान की इस प्रक्रिया में आत्मा के द्वारा परमात्मा (शुद्धात्मा) के दर्शन के पूर्व सर्व प्रथम तो हम अपने 'वासनात्मक स्व' (id) का साक्षात्कार होता है - दूसरे शब्दों में हम अपने ही विकारों और वासनाओं के प्रति जागते हैं। जागरण के इस प्रथम चरण में हम उनकी विद्रूपता का बोध होता है। हमें लगता है कि ये हमारे विकार भाव हैं - विभाव हैं, क्योंकि हममें ये 'पर' के निमित्त से होते हैं। यही विभाव दशा का बोध साधना का दूसरा चरण है। साधना के तीसरे चरण में साधक विभाव से रहित शुद्ध आत्म दशा की अनुभूति करता है - यही परमात्म दर्शन है। स्वभावदशा में रमण है। यहां यह विचारणीय है कि ध्यान इस आत्म-दर्शन में कैसे सहायक होता है?

ध्यान में शरीर को स्थिर रखकर आंख बन्द करनी होती है। जैसे ही आंख बन्द होती है-व्यक्ति का सम्बन्ध बाह्य जगत से टूटकर अन्तर्जगत से जुड़ता है, अन्तर का परिदृश्य सामने आता है, अब हमारी चेतना का विषय बाह्य वस्तुएं न होकर मनोसृजनाएं होती हैं। जब व्यक्ति इन मनोसृजनाओं (संकल्प-विकल्पों) का द्रष्टा बनता है, उसे एक ओर इनकी पर-निमित्तता (विभावरूपता) का बोध होता है तथा दूसरी ओर अपने साक्षी स्वरूप का बोध होता है। आत्मअनात्म का विवेक या स्व-पर के भेद का ज्ञान होता है। कर्ता-भोक्ता भाव के विकल्प क्षीण होने लगते हैं। एक निर्विकल्प आत्म-दशा की अनुभूति होती है। दूसरे शब्दों में मन की भाग-दौड़ समाप्त हो जाती है। मनोसृजनाएं या संकल्प-विकल्प विलीन होने लगते हैं। चेतना की सभी विकलताएं समाप्त हो जाती हैं। मन आत्मा में विलीन हो जाता है। सहज-समाधि प्रकट होती है। इस प्रकार आकांक्षाओं, वासनाओं, संकल्प-विकल्पों एवं तनावों से मुक्त होने पर एक अपरिमित निरपेक्ष आनन्द की उपलब्धि होती है। आत्मा अपने चिदानन्द स्वरूप में लीन रहता है। इस प्रकार ध्यान आत्मा को परमात्मा या शुद्धात्मा से जोड़ता है। अतः वह आत्मसाक्षात्कार या परमात्मा के दर्शन की एक कला है।

ध्यान मुक्ति का अन्यतम कारण

जैनधर्म में ध्यान को मुक्ति का अन्यतम कारण माना जा सकता है। जैन दार्शनिकों ने आध्यात्मिक विकास के जिन १४ सोपानों (गुणस्थानों) का उल्लेख किया है, उनमें अन्तिम गुणस्थान को अयोगी केवली गुण-स्थान कहा गया है। अयोगी केवली गुण-स्थान वह अवस्था है जिसमें वीतराग-आत्मा अपने काययोग, वचनयोग, मनोयोग अर्थात् शरीर, वाणी और मन की गतिविधियों का निरोध कर लेता है और उनके निरुद्ध होने पर ही वह मुक्ति या निर्वाण को प्राप्त कर लेता है। यह प्रक्रिया सम्भव है शुक्लध्यान के चतुर्थ चरण व्युपरत क्रिया निवृत्ति के द्वारा। अतः ध्यानमोक्ष का अन्यतम कारण है। जैन परम्परा में ध्यान में स्थित होने के पूर्व जिन पदों का उच्चारण किया जाता है वे निम्न हैं-

ठाणेणं मोणेणं ज्ञाणेणं अप्पाणं वोसिरामि^१ -

अर्थात् "मैं शरीर से स्थिर होकर, वाणी से मौन होकर, मन को ध्यान में नियोजित कर शरीर के प्रति ममत्व का परित्याग करता हूँ।" यहां हमें स्मरण रखना चाहिए कि अप्पाणं वोसिरामि का अर्थ, आत्मा का विसर्जन करना नहीं है, अपितु देह के प्रति अपनेपन के भाव का विसर्जन करना है। क्योंकि विसर्जन या परित्याग आत्मा का नहीं, अपनेपन के भाव अर्थात् ममत्व बुद्धि का होता है। जब कायिक, वाचिक और मानसिक क्रियाओं पर पूर्ण नियंत्रण स्थापित हो जाता है तभी ध्यान की सिद्धि होती है और जब ध्यान सिद्ध हो जाता है तो आत्मा अयोग दशा अर्थात् मोक्ष को प्राप्त कर लेता है। अतः यह स्पष्ट है कि ध्यान मोक्ष का अन्यतम कारण है।

जैन परम्परा में ध्यान आन्तरिक तप का एक प्रकार है। इस आन्तरिक तप को आत्म-विशुद्धि का कारण माना गया है। उत्तराध्ययन सूत्र में कहा गया है कि: "आत्मा तप से परिशुद्ध होती है।^२ सम्यक् ज्ञान से वस्तु स्वरूप का यथार्थ बोध होता है। सम्यक् दर्शन से तत्त्व-श्रद्धा उत्पन्न होती है। सम्यक् चारित्र आस्रव का निरोध करता है। किन्तु इन तीनों से भी मुक्ति सम्भव नहीं होती, मुक्ति का अन्तिम कारण तो निर्जरा है। सम्पूर्ण कर्मों की निर्जरा हो जाना ही मुक्ति है और कर्मों की तप से ही निर्जरा होती है। अतः ध्यान तप का एक विशिष्ट रूप है, जो आत्मशुद्धि का अन्यतम कारण है।

वैसे यह भी कहा जाता है कि आत्मा व्युपरत क्रिया निवृत्ति नामक शुक्ल ध्यान में आरूढ होकर ही मुक्ति को प्राप्त होता है। अतः हम यह कह सकते हैं कि जैन साधना विधि में ध्यान मुक्ति का अन्यतम कारण है। ध्यान एक ऐसी अवस्था है जब आत्मा पूर्ण रूप से 'स्व' में स्थित होता है और आत्मा का 'स्व' में स्थित होना ही मुक्ति या निर्वाण की अवस्था है। अतः ध्यान ही मुक्ति बन जाता है।

योग दर्शन में ध्यान को समाधि का पूर्व चरण माना गया है। उसमें भी ध्यान से ही समाधि की सिद्धि होती है। ध्यान जब अपनी पूर्णता पर पहुंचता है तो वही समाधि बन जाता है। ध्यान की इस निर्विकल्प दशा को न केवल जैन-दर्शन में, अपितु सम्पूर्ण श्रमण परम्परा में और न केवल सम्पूर्ण श्रमण परम्परा में अपितु सभी धर्मों की साधना विधियों में मुक्ति का अंतिम उपाय माना गया है।

योग चाहे चित्त वृत्तियों के निरोध रूप में निर्विकल्प समाधि हो या आत्मा को परमात्मा से जोड़ने की कला हो, वह ध्यान ही है।

१) आवश्यकसूत्र - आगारसूत्र (श्रमणसूत्र-अमरमुनि) प्र. सं. पृ. ३७६

२) उत्तराध्ययनसूत्र २८/३५

ध्यान और समाधि-

सर्वार्थसिद्धि और तत्त्वार्थवार्तिक में समाधि के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि जिस प्रकार कोष्ठागार में लगी हुई आग को शान्त करना आवश्यक है, उसी प्रकार मुनि-जीवन के शीलव्रतों में लगी हुई वासना या आकांक्षारूपी अग्नि का प्रशमन करना भी आवश्यक है। यही समाधि है।^१ धवला में आचार्य वीरसेन ने ज्ञान, दर्शन और चारित्र में सम्यक् अवस्थिति को ही समाधि कहा है।^२ वस्तुतः चित्तवृत्ति का उद्बलित होना ही असमाधि है और उनकी इस उद्विग्नता का समाप्त हो जाना ही समाधि है। उदाहरण के रूप में जब वायु के संयोग से जल तरंगाधित होता है तो उस तरंगित जल में रही हुई वस्तुओं का बोध नहीं होता, उसी प्रकार तनावयुक्त उद्विग्न चित्त में आत्मा के शुद्ध स्वरूप का साक्षात्कार नहीं होता है। चित्त की इस उद्विग्नता का या तनाव युक्त स्थिति का समाप्त होना ही समाधि है। ध्यान भी वस्तुतः चित्त की वह निष्प्रकम्प अवस्था है जिसमें आत्मा अपने शुद्ध स्वरूप का साक्षी होता है। वह चित्त की समत्वपूर्ण स्थिति है। अतः ध्यान और समाधि समानार्थक है; फिर भी दोनों में एक सूक्ष्म अन्तर है। वह अन्तर इस रूप में है कि ध्यान समाधि का साधन है और समाधि साध्य है। योगदर्शन के अष्टांग योग में समाधि का पूर्व चरण ध्यान माना गया है। ध्यान जब सिद्ध हो जाता है, तब वह समाधि बन जाता है। वस्तुतः दोनों एक ही है।^३ ध्यान की पूर्णता समाधि में है। यद्यपि दोनों में ही चित्तवृत्ति की निष्प्रकंपता या समत्व की स्थिति आवश्यक है। एक में उस निष्प्रकम्पता या समत्व का अभ्यास होता है और दूसरे में वह अवस्था सहज हो जाती है।

ध्यान और योग

यहां ध्यान का योग से क्या संबंध है? यह भी विचारणीय है। जैन परम्परा में सामान्यतया मन, वाणी और शरीर की गतिशीलता को योग कहा जाता है।^४ उसके अनुसार सामान्य रूप से समग्र साधना और विशेष रूप से ध्यान-साधना का प्रयोजन योग-निरोध ही है। वस्तुतः मानसिक, वाचिक और शारीरिक क्रियाओं में जिन्हें जैन परम्परा में योग कहा गया है, मन की प्रधानता होती है। वाचिक योग और कायिक-योग, मनोयोग पर ही निर्भर करते हैं। जब मन की चंचलता समाप्त होती है तो सहज ही शारीरिक और वाचिक क्रियाओं में शैथिल्य आ जाता है, क्योंकि उनके मूल में व्यक्त या अव्यक्त मन ही है। अतः मन की सक्रियता के निरोध से ही योग-निरोध संभव है। योग-दर्शन भी जो योग पर सर्वाधिक बल देता है, यह मानता है कि चित्तवृत्तियों का निरोध ही योग है।^५ वस्तुतः जहां चित्त की चंचलता समाप्त होती है, वहीं साधना की पूर्णता है और

१) तत्त्वार्थ वार्तिक ६।२४।८

२) धवला पुस्तक ८, पृ. ८८ (दंसण-णाण-चरित्तसु सम्मववद्वाणं समाही)

३) योग : समाधि : ध्यानमित्यनर्थान्तरम्। तत्त्वार्थ राजवार्तिक ६।१।१२

४) कण्वयाड्मनः कर्म योगः। तत्त्वार्थसूत्र ६।१

५) योगश्चित्त वृत्ति निरोधः। योगसूत्र १।२ (पतंजलि)

वही पूर्णता ध्यान है। चित्त की चंचलता अथवा मन की भाग दौड़ को समाप्त करना ही जैन-साधना और योग- साधना दोनों का लक्ष्य है। इस दृष्टि से देखें तो जैन दर्शन में ध्यान की जो परिभाषा दी जाती है वही परिभाषा योग दर्शन में योग की दी जाती है। इस प्रकार ध्यान और योग पर्यायवाची बन जाते हैं।

योग शब्द का एक अर्थ जोड़ना भी है।^१ इस दृष्टि से आत्मा को परमात्मा से जोड़ने की कला को योग कहा गया है और इसी अर्थ से योग को मुक्ति का साधन माना गया है। अपने इस दूसरे अर्थ में भी योग शब्द ध्यान का समानार्थक ही सिद्ध होता है, क्योंकि ध्यान ही साधक को अपने में ही स्थित परमात्मा (शुद्धात्मा) या मुक्ति से जोड़ता है। वस्तुतः जब चित्तवृत्तियों की चंचलता समाप्त हो जाती है चित्त प्रशान्त और निष्प्रकम्प हो जाता है, तो वही ध्यान होता है, वही समाधि होता है और उसे ही योग कहा जाता है। किन्तु जब कार्य-कारण भाव अथवा साध्यसाधन की दृष्टि से विचार करते हैं तो ध्यान साधन होता है, समाधि साध्य होती है। साधन से साध्य की उपलब्धि ही योग कही जाती है।

ध्यान और कायोत्सर्ग -

जैन साधना में तप के वर्गीकरण में आभ्यन्तर तप के जो छह प्रकार बतलाए गये हैं, उनमें ध्यान और कायोत्सर्ग इन दोनों का अलग-अलग उल्लेख किया गया है।^२ इसका तात्पर्य यह है कि जैन आचार्यों की दृष्टि में ध्यान और कायोत्सर्ग दो भिन्न भिन्न स्थितियाँ हैं। ध्यान चेतना को किसी विषय पर केन्द्रित करने का अभ्यास है, तो कायोत्सर्ग शरीर के नियन्त्रण का एक अभ्यास। यद्यपि यहां काया (शरीर) व्यापक अर्थ में ग्रहीत है। स्मरण रहे कि मन और वाक् ये शरीर के आश्रित ही हैं। शाब्दिक दृष्टि से कायोत्सर्ग शब्द का अर्थ होता है 'काया' का उत्सर्ग अर्थात् देह-त्याग। लेकिन जब तक जीवन है तब तक शरीर का त्याग तो संभव नहीं है। अतः कायोत्सर्ग का मतलब है देह के प्रति ममत्व का त्याग, दूसरे शब्दों में शारीरिक गतिविधियों का कर्ता न बनकर द्रष्टा बन जाना। वह शरीर की मात्र ऐच्छिक गतिविधियों का नियन्त्रण है। शारीरिक गतिविधियाँ भी दो प्रकार की होती हैं- एक स्वचालित और दूसरी ऐच्छिक। कायोत्सर्ग में स्वचालित गतिविधियों का नहीं, अपितु ऐच्छिक गतिविधियों का नियन्त्रण किया जाता है। कायोत्सर्ग करने से पूर्व जो आगारसूत्र का पाठ बोला जाता है उसमें स्वसन-प्रक्रिया, छींक, जम्माई आदि स्वचालित शारीरिक गतिविधियों का निरोध नहीं करने का ही स्पष्ट उल्लेख है।^३ अतः कायोत्सर्ग

१) 'युजपी योगे' हेमचन्द्र धातुमाला, गण ७

२) उत्तराध्ययन सूत्र ३०।३० (ज्ञानं च विउस्सगो एसो अब्भन्तरो तवो)

३) आवश्यकसूत्र-आगारसूत्र

ऐच्छिक शारीरिक गतिविधियों के निरोध का प्रयत्न है। यद्यपि ऐच्छिक गतिविधियों का केन्द्र मानवीय मन अथवा चेतना ही है। अतः कायोत्सर्ग की प्रक्रिया ध्यान की प्रक्रिया के साथ अपरिहार्य रूप से जुड़ी हुई है।

एक अन्य दृष्टि से कायोत्सर्ग को देह के प्रति निर्ममत्व की साधना भी कहा जा सकता है। वह देह में रहकर भी कर्ताभाव से उपर उठकर द्रष्टाभाव में स्थित होना है। यह भी स्पष्ट है कि चित्तवृत्तियों के विचलन में शरीर भी एक महत्वपूर्ण भूमिका अदा करता है। हम शरीर और इन्द्रियों के माध्यम से ही बाह्य विषयों से जुड़ते हैं और उनकी अनुभूति करते हैं। इस अनुभूति का अनुकूल या प्रतिकूल प्रभाव हमारी चित्तवृत्ति पर पड़ता है। जो चित्त विचलन का या राग-द्वेष का कारण होता है।

चित्त (मन) और ध्यान

जैन दर्शन में मन की चार व्यवस्थाएं - जैन, बौद्ध और वैदिक परम्पराओं में चित्त या मन ध्यान साधना की आधारभूमि है, अतः चित्त की विभिन्न व्यवस्थाओं पर व्यक्ति के ध्यान साधना के विकास को आँका जा सकता है। जैन परम्परा में आचार्य हेमचन्द्र ने मन की चार अवस्थाएँ मानी हैं १) विक्षिप्त मन, २) यातायात मन, ३) श्लिष्ट मन और ४) सुलीन मन।^१

१) विक्षिप्त मन - यह मन की अस्थिर अवस्था है, इसमें चित्त चंचल होता है, इधर उधर भटकता रहता है, इसके आलम्बन प्रमुखतया बाह्य विषय ही होते हैं। इसमें संकल्प-विकल्प या विचारों की भाग-दौड़ मची रहती है, अतः इस अवस्था में मानसिक शान्ति का अभाव होता है। यह चित्त पूरी तरह बहिर्मुखी होता है।

२) यातायात मन - यातायात मन कभी बाह्य विषयों की ओर जाता है तो कभी अपने में स्थित होने का प्रयत्न करता है। यह योगाभ्यास के प्रारम्भ की अवस्था है। इस अवस्था में चित्त अपने पूर्वाभ्यास के कारण बाहरी विषयों की ओर दौड़ता रहता है, जैसे थोड़े बहुत प्रयत्न से उसे स्थिर कर लिया जाता है। कुछ समय उस पर स्थिर रहकर पुनः बाह्य विषयों के संकल्प-विकल्प में उलझ जाता है। जब-जब कुछ स्थिर होता है तब मानसिक शान्ति एवं आनन्द का अनुभव करने लगता है। यातायात चित्त कथंचित् अन्तर्मुखी और कथंचित् बहिर्मुखी होता है।

३) श्लिष्ट मन - यह मन की स्थिरता की अवस्था है। इस अवस्था में चित्त की स्थिरता का आधार या आलम्बन विषय होता है। इसमें जैसे जैसे स्थिरता आती है, आनन्द भी बढ़ता जाता है।

१) योगशास्त्र, १२/२

४) सुलीन मन - यह मन की वह अवस्था है, जिसमें संकल्प-विकल्प एवं मानसिक वृत्तियाँ का लय हो जाता है। इसको मन की निरुद्धावस्था भी कहा जा सकता है। यह परमानन्द की अवस्था है, क्योंकि इसमें सभी वासनाओं का विलय हो जाता है।

बौद्ध दर्शन में चित्त की चार अवस्थाएँ - अभिधम्मत्थसंगहो के अनुसार बौद्ध दर्शन में भी चित्त (मन) चार प्रकार का है- १. कामावचर, २. रूपावचर, ३. अरूपावचर और ४. लोकोत्तर।^१

१) कामावचर चित्त - यह चित्त की वह अवस्था है, जिसमें कामनाओं और वासनाओं का प्राधान्य होता है। इसमें वितर्क एवं विचारों की अधिकता होती है। मन सांसारिक भोगों के पीछे भटकता रहता है।

२) रूपावचर चित्त - इस अवस्था में वितर्क-विचार तो होते हैं, लेकिन एकाग्रता का प्रयत्न भी होता है। चित्त का आलम्बन बाह्य स्थूल विषय ही होते हैं। यह योगाभ्यासी चित्त की प्राथमिक अवस्था है।

३) अरूपावचर चित्त - इस अवस्था में चित्त का आलम्बन रूपवान बाह्य पदार्थ नहीं है। इस स्तर पर चित्त की वृत्तियों में स्थिरता होती है लेकिन उसकी एकाग्रता निर्विषय नहीं होती। उसके विषय अत्यन्त सूक्ष्म जैसे अनन्त आकाश, अनन्त विज्ञान या अकिंचनता होते हैं।

४) लोकोत्तर चित्त - इस अवस्था में वासना-संस्कार, राग-द्वेष एवं मोह का प्रहाण हो जाता है। चित्त विकल्पशून्य हो जाता है। इस अवस्था की प्राप्ति कर लेने पर निश्चित रूप से अर्हत पद एवं निर्वाण की प्राप्ति हो जाती है।

योगदर्शन में चित्त की पाँच अवस्थाएँ - योगदर्शन में चित्तभूमि (मानसिक अवस्था) के पाँच प्रकार हैं:- १. क्षिप्त, २. मूढ़, ३. विक्षिप्त, ४. एकाग्र और ५. निरुद्ध।^२

१) क्षिप्त चित्त - इस अवस्था में चित्त रजोगुण के प्रभाव में रहता है और एक विषय से दूसरे विषय पर दौडता रहता है। स्थिरता नहीं रहती है। यह अवस्था योग के अनुकूल नहीं है, क्योंकि इसमें मन और इन्द्रियों पर संयम नहीं रहता।

२) मूढ़ चित्त - इस अवस्था में तम की प्रधानता रहती है और इससे निद्रा, आलस्य आदि का प्रादुर्भाव होता है। निद्रावस्था में चित्त की वृत्तियों का कुछ काल के

१) अभिधम्मत्थसंगहो, पृ. १

२) भारतीय दर्शन (दत्ता) पृ. १९०

लिए तिरोभाव हो जाता है, परन्तु यह अवस्था योगावस्था नहीं है। क्योंकि इसमें आत्मा साक्षी भाव में नहीं होता है।

३) **विक्षिप्त चित्त** - विक्षिप्तावस्था में मन थोड़ी देर के लिए एक विषय में लगता है, पर तुरन्त ही अन्य विषय की ओर दौड़ जाता है और पहला विषय छूट जाता है। यह चित्त की आंशिक स्थिरता की अवस्था है।

४) **एकाग्र चित्त** - यह वह अवस्था है, जिसमें चित्त देर तक एक विषय पर लगा रहता है। यह किसी वस्तु पर मानसिक केन्द्रीकरण या ध्यान की अवस्था है। इस अवस्था में चित्त किसी विषय पर विचार या ध्यान करता रहता है। इसलिए इसमें भी सभी चित्तवृत्तियों का निरोध नहीं होता, तथापि यह योग की पहली सीढ़ी है।

५) **निरुद्ध चित्त** - इस अवस्था में चित्त की सभी वृत्तियाँ का (ध्येय विषय तक का भी) लोप हो जाता है और चित्त अपनी स्वाभाविक स्थिर शांति अवस्था में आ जाता है।

जैन, बौद्ध और योग दर्शन में मन की इन विभिन्न अवस्थाओं के नामों में चाहे अन्तर हो, लेकिन उनके मूलभूत दृष्टिकोण में कोई अन्तर नहीं है, जैसा कि निम्न तालिका से स्पष्ट है।

<u>जैन दर्शन</u>	<u>बौद्ध दर्शन</u>	<u>योगदर्शन</u>
विक्षिप्त	कामावचर	क्षिप्त एवं मूढ़
यातायात	रूपावचर	विक्षिप्त
श्लिष्ट	अरूपावचर	एकाग्र
सुलीन	लोकोत्तर	निरुद्ध

जैन दर्शन का विक्षिप्त मन, बौद्ध दर्शन का कामावचर चित्त और योगदर्शन के क्षिप्त और मूढ़ चित्त समानार्थक हैं, क्योंकि सभी के अनुसार इस अवस्था में चित्त में वासनाओं एवं कामनाओं की बहुलता होती है। इसी प्रकार जैन दर्शन का यातायात मन, बौद्ध दर्शन का रूपावचर चित्त और योगदर्शन का विक्षिप्त चित्त भी समानार्थक हैं, सामान्यतया सभी के अनुसार इस अवस्था में चित्त में अल्पकालिक स्थिरता होती है तथा वासनाओं के वेग में थोड़ी कमी अवश्य हो जाती है। इसी प्रकार जैनदर्शन का श्लिष्ट मन, बौद्ध-दर्शन का अरूपावचर चित्त और योगदर्शन का एकाग्रचित्त भी समान ही हैं। सभी ने इसको मन की स्थिरता की अवस्था कहा है। चित्त की अन्तिम अवस्था जिसे जैन दर्शन में सुलीनमन, बौद्धदर्शन में लोकोत्तर चित्त और योगदर्शन में निरुद्ध चित्त कहा गया है भी समान अर्थ के द्योतक हैं। इसमें वासना, संस्कार एवं संकल्प-विकल्प का पूर्ण अभाव हो जाता है। ध्यान साधना का लक्ष्य चित्त की इस वासना संस्कार एवं संकल्प-विकल्प से रहित अवस्था को प्राप्त करना है। आचार्य हेमचन्द्र कहते हैं कि क्रम से अभ्यास बढ़ाते हुए

अर्थात् विक्षिप्त से यातायात चित्त का, यातायात से श्लिष्ट का और श्लिष्ट से सुलीन चित्त का अभ्यास करना चाहिए। इस तरह अभ्यास करने से निरालम्बन ध्यान होने लगता है। निरालम्बन ध्यान से समत्व प्राप्त करके परमानन्द का अनुभव करना चाहिए। योगी को चाहिए कि वह बहिरात्मभाव का त्याग करके अन्तरात्मा के साथ सामीप्य स्थापित करे और परमात्ममय बनने के लिए निरन्तर परमात्मा का ध्यान करे।^१

इस प्रकार चित्त-वृत्तियों या वासनाओं का विलयन ही समालोच्य ध्यानपरम्पराओं का प्रमुख लक्ष्य रहा है क्योंकि वासनाओं द्वारा ही मन-क्षोभित होता है, जिससे चेतना के समत्व का भंग होता है। ध्यान इसी समत्व या समाधि को प्राप्त करने की साधना है।

ध्यान का सामान्य अर्थ -

ध्यान शब्द का सामान्य अर्थ चेतना का किसी एक विषय या बिन्दु पर केन्द्रित होना है।^२ चेतना जिस विषय पर केन्द्रित होती है वह प्रशस्त या अप्रशस्त दोनों ही हो सकता है। इसी आधार पर ध्यान के दो रूप निर्धारित हुए- १) प्रशस्त और २) अप्रशस्त। उसमें भी अप्रशस्त ध्यान के पुनः दो रूप माने गये- १) आर्त और २) रौद्र। प्रशस्त ध्यान के भी दो रूप माने गये- १) धर्म और २) शुक्ल। जब चेतना राग या आसक्ति में डूब कर किसी वस्तु और उसकी उपलब्धि की आशा पर केन्द्रित होती है तो उसे आर्त ध्यान कहा जा सकता है। अप्राप्त वस्तु की प्राप्ति की आकांक्षा या प्राप्तवस्तु के वियोग की संभावना की चिन्ता में चित्त का डूबना आर्त ध्यान है।^३ आर्तध्यान चित्त के अवसाद/विषाद की अवस्था है।

जब कोई उपलब्ध अनुकूल विषयों के वियोग का या अप्राप्त अनुकूल विषयों की उपलब्धि में अवरोध का निमित्त बनता है तो उस पर आक्रोश का जो स्थायीभाव होता है, वही रौद्रध्यान है।^४ इस प्रकार आर्त ध्यान रागमूलक होता है और रौद्र ध्यान द्वेष मूलक होता है। राग-द्वेष के निमित्त से उत्पन्न होने के कारण ये दोनों ध्यान संसार के जनक हैं, अतः अप्रशस्त माने गये हैं। इनके विपरीत धर्मध्यान और शुक्ल ध्यान प्रशस्त माने गये हैं। मेरी दृष्टि में स्व-पर के लिये कल्याणकारी विषयों पर चित्तवृत्ति का स्थिर होना धर्मध्यान है। यह लोकमंगल और आत्म विशुद्धि का साधक होता है। चूंकि धर्मध्यान में भोक्ताभाव होता है, अतः यह शुभ आस्रव का कारण होता है। जब आत्मा या चित्त की वृत्तियाँ साक्षीभाव या ज्ञाता द्रष्टा भाव में अवस्थित होती है, तब साधक न तो कर्ताभाव से जुड़ता है और न भोक्ताभाव से जुड़ता है, यही साक्षीभाव की अवस्था ही शुक्ल ध्यान है। इसमें चित्त शुभ-अशुभ दोनों से ऊपर उठ जाता है।

१) योगशास्त्र, १२/५-६

२) तत्त्वार्थसूत्र १।२७, ३) वही १।३१, ४) वही १।३६.

ध्यान शब्द की जैन परिभाषाएँ

सामान्यतया अध्यवसायों (चित्तवृत्ति) का स्थिर होना ही ध्यान कहा गया है। दूसरे शब्दों में मन की एकाग्रता को प्राप्त होना ही ध्यान है।

इसके विपरीत जो मन चंचल है उसे भावना, अनुप्रेक्षा अथवा चिन्ता कहा जाता है।^१ इस प्रकार ध्यान वह स्थिति है जिसमें चित्त वृत्ति की चंचलता समाप्त हो जाती है और वह किसी एक विषय पर केन्द्रित हो जाती है। तत्त्वार्थसूत्र में ध्यान को परिभाषित करते हुए कहा गया है कि अनेक अर्थों का आलम्बन देनेवाली चिन्ता का निरोध ध्यान है।^२ दूसरे शब्दों में जब चिन्तन को अन्यान्य विषयों से हटा कर किसी एक ही वस्तु में केन्द्रित कर दिया जाता है तो वह ध्यान बन जाता है। यद्यपि भगवती आराधना में एक ओर चिन्ता निरोध से उत्पन्न एकाग्रता को ध्यान कहा गया है किन्तु दूसरी ओर उसमें राग-द्वेष और मिथ्यात्व से रहित होकर पदार्थ की यथार्थता को ग्रहण करनेवाला जो विषयान्तर के संचार से रहित ज्ञान होता है, उसे ध्यान कहा गया है।^३ आचार्य कुन्दकुन्द पंचास्तिकाय में ध्यान को स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि दर्शन और ज्ञान से परिपूर्ण और अन्य द्रव्य के संसर्ग से रहित चेतना की जो अवस्था है वही ध्यान है।^४ इस गाथा में पण्डित बालचन्द्रजी सिद्धान्त शास्त्री ने “दंसणणाण समग्गं” का अर्थ सम्यक्-दर्शन व सम्यक् ज्ञान से परिपूर्ण किया है, किन्तु मेरी दृष्टि में यह अर्थ उचित नहीं है। दर्शन और ज्ञान की समग्रता (समग्गं) का अर्थ है ज्ञान का भी निर्विकल्प अवस्था में होना। सामान्यतया ज्ञान विकल्पात्मक होता है और दर्शन निर्विकल्प। किन्तु जब ज्ञान चित्त की विकल्पता से रहित होकर दर्शन से अभिन्न हो जाता है, तो वहीं ध्यान हो जाता है। इसीलिए अन्यत्र कहा भी है कि ज्ञान से ही ध्यान की सिद्धि होती है।^५ ध्यान शब्द की इन परिभाषाओं में हमें स्पष्ट रूप से एक विकासक्रम परिलक्षित होता है। फिर भी मूल रूप में ये परिभाषाएँ एक दूसरे की विरोधी नहीं हैं। चित्त का विविध विकल्पों से रहित होकर एक विकल्प पर स्थिर हो जाना और अन्त में निर्विकल्प हो जाना ही ध्यान है। क्योंकि ध्यान की अन्तिम अवस्था में सभी विकल्प समाप्त हो जाते हैं।

ध्यान का क्षेत्र

ध्यान के साधन दो प्रकार के माने गये हैं—एक बहिरंग और दूसरा अन्तरंग। ध्यान के बहिरंग साधनों में ध्यान के योग्य स्थान (क्षेत्र), आसन, काल आदि का विचार किया

१) ध्यानस्तव (जिनभद्र, प्र. वीर सेवा मंदिर) २

२) तत्त्वार्थसूत्र ९।२७

३) भगवती आराधना, विजयोदया टीका - देखें ध्यान शतक प्रस्तावना पृ. २६

४) पंचास्तिकाय १५२

५) गाणेश ज्ञानसिद्धि

जाता है और अन्तरंग साधनों में ध्येय विषय और ध्याता के सम्बन्ध में विचार किया गया है कि ध्यान के योग्य क्षेत्र कौन से हो सकते हैं। आचार्य शुभचन्द्र लिखते हैं कि 'जो स्थान निकृष्ट स्वभाववाले लोगों से सेवित हो, दुष्ट राजा से शासित हो, पाखण्डियों के समूह से व्याप्त हो, जुआरियों, मद्यपियों और व्यभिचारियों से युक्त हो और जहां का वातावरण अशान्त हो, जहां सेना का संचार हो रहा हो, गीत, वादित्त आदि के स्वर गूंज रहे हों, जहां जन्तुओं तथा नपुंसक आदि निकृष्ट प्रकृति के जनों का विचरण हो, वह स्थान ध्यान के योग्य नहीं है। इसी प्रकार कांटे, पत्थर, कीचड़, हड्डी, रुधिर आदि से दूषित तथा कौए, उल्लू, शृगाल, कुत्तों आदि से सेवित स्थान भी ध्यान के योग्य नहीं होते।'^१

यह बात स्पष्ट है कि परिवेश का प्रभाव हमारी चित्तवृत्तियों पर पड़ता है। धर्म स्थलों एवं नीरव साधना-क्षेत्रों आदि में जो निराकुलता होती है तथा उनमें जो एक विशिष्ट प्रकार की शान्ति होती है, वह ध्यान-साधना के लिए उपयुक्त होती है। अतः ध्यान करते समय साधक को क्षेत्र का विचार करना आवश्यक है। संयमी साधक को समुद्र तट, नदी-तट, अथवा सरोवर के तट, पर्वत शिखर अथवा गुफा किंवा प्राकृतिक दृष्टि से नीरव और सुन्दर प्रदेशों को अथवा जिनालय आदि धर्म स्थानों को ही ध्यान के क्षेत्र रूप में चुनना चाहिए। ध्यान की दिशा के सम्बन्ध में विचार करते हुए कहा गया है कि ध्यान के लिए पूर्व या उत्तर दिशा अभिमुख होकर बैठना चाहिये।

ध्यान के आसन -

ध्यान के आसनों को लेकर भी जैन ग्रन्थों में पर्याप्त रूप से विचार हुआ है। सामान्य रूप से पद्मासन, पर्यकासन एवं खड्गासन ध्यान के उत्तम आसन माने गये हैं। ध्यान के आसनों के संबंध में जैन आचार्यों की मूलदृष्टि यह है कि जिन आसनों से शरीर और मन पर तनाव नहीं पड़ता हो ऐसे सुखासन ही ध्यान के योग्य आसन माने जा सकते हैं। जिन आसनों का अभ्यास साधक ने कर रखा हो और जिन आसनों में वह अधिक समय तक सुखपूर्वक बैठ सकता हो तथा जिनके कारण उसका शरीर रवेद को प्राप्त नहीं होता हो, वे ही आसन ध्यान के लिये श्रेष्ठ आसन हैं।^२ सामान्यतया जैन परम्परा में पद्मासन और खड्गासन ही ध्यान के अधिक प्रचलित आसन रहे हैं।^३ किन्तु महावीर के द्वारा गोदुहासन में ध्यान करके केवलज्ञान प्राप्त करने के भी उल्लेख हैं।^४ समाधिमरण या शारीरिक अशक्ति की स्थिति में लेटे लेटे भी ध्यान किया जा सकता है।

१) ज्ञानार्णव २७/२३-३२

२) ज्ञानार्णव २८।११

३) ज्ञानार्णव २८।१०

४) 'गोदोहियाए उक्कुडयनिलिज्जाए' कल्पसूत्र १२०

ध्यान का काल-

सामान्यतया सभी कालों में शुभ भाव संभव होने से ध्यान साधना का कोई विशिष्ट काल नहीं कहा गया है। किन्तु जहां तक मुनि समाचारी का प्रश्न है, उत्तराध्ययन में सामान्य रूप से मध्याह्न और मध्यरात्रि को ध्यान के लिए उपयुक्त समय बताया गया है।^१ उपासकदशांग में सकडाल पुत्र के द्वारा मध्याह्न में ध्यान करने का निर्देश है।^२ कहीं कहीं प्रातःकाल और सन्ध्याकाल में भी ध्यान करने का विधान मिलता है।

ध्यान की समयावधि

जैन आचार्यों ने इस प्रश्न पर भी मनोवैज्ञानिक दृष्टि से विचार किया है कि किसी व्यक्ति की चित्त वृत्ति अधिकतम कितने समय तक एक विषय पर स्थिर रह सकती है। इस संबंध में उनका निष्कर्ष यह है कि किसी एक विषय पर अखण्डित रूप से चित्त वृत्ति अन्तर्मुहूर्त से अधिक स्थिर नहीं रह सकती। अन्तर्मुहूर्त से उनका तात्पर्य एक क्षण से कुछ अधिक तथा ४८ मिनट से कुछ कम है। किन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं है कि ध्यान अन्तर्मुहूर्त से अधिक समय तक नहीं किया जा सकता है। यह सत्य है कि इतने काल के पश्चात् ध्यान खण्डित होता है, किन्तु चित्तवृत्ति को पुनः नियोजित करके ध्यान को एक प्रहर या रात्रिपर्यंत भी किया जा सकता है।

ध्यान और शरीर रचना-

जैन आचार्यों ने ध्यान का संबंध शरीर से भी जोड़ा है। यह अनुभूत तथ्य है कि सबल, स्वस्थ और सुगठित शरीर ही ध्यान के लिए अधिक योग्य होता है। यदि शरीर निर्बल है, सुगठित नहीं है तो शारीरिक गतिविधियों को अधिक समय तक नियन्त्रित नहीं किया जा सकता है और यदि शारीरिक गतिविधियां नियन्त्रित नहीं रहेंगी तो चित्त भी नियन्त्रित नहीं रहेगा। शरीर और चित्तवृत्तियों में एक गहरा संबंध है। शारीरिक विकलताएं चित्त को विकल बना देती हैं और चैतसिक विकलताएं शरीर को। अतः यह माना गया है कि ध्यान के लिए सबल निरोग और सुगठित शरीर आवश्यक है। तत्त्वार्थसूत्र में तो ध्यान की परिभाषा देते हुए स्पष्ट रूप से यह कहा गया है कि उत्तम संहनन वाले का एक विषय में अंतकरण की वृत्ति का नियोजन ध्यान है।^३ जैन आचार्य यह मानते हैं कि छः प्रकार की शारीरिक संरचना में से वज्रर्षभनाराच, अर्धवज्रर्षभनाराच, नाराच और अर्धनाराच ये चार शारीरिक संरचनाएँ ही (संहनन) ध्यान के योग्य होती हैं।^४ यद्यपि हमें यहां स्मरण रखना चाहिए कि शारीरिक संरचना का सहसंबंध मुख्य रूप से प्रशस्त ध्यानों से ही है, अप्रशस्त

१) उत्तराध्ययन सूत्र २६।१२

२) उपासकदशांग ८।१८२

३) उत्तमसंहननस्यैकप्रचित्त निरोधो ध्यानम्। तत्त्वार्थसूत्र-९।२६

४) तत्त्वार्थ स्वोपज्ञ भाष्य, उमास्वाति ९।२६

ध्यानो से नहीं है। यह सत्य है कि शरीर चित्तवृत्ति की स्थिरता का मुख्य कारण होता है। अतः ध्यान की वे स्थितियाँ जिनका विषय प्रशस्त होता है और जिनके लिए चित्तवृत्ति की अधिक समय तक स्थिरता आवश्यक होती है वे केवल सबल शरीर में ही सम्भव होती हैं। किन्तु अप्रशस्त आर्त, रौद्र आदि ध्यान तो निर्बल शरीरवालों को ही अधिक होते हैं। अशक्त या दुर्बल व्यक्ति ही अधिक चिन्तित एवं चिड़चिड़ा होता है।

ध्यान किसका?

ध्यान के सन्दर्भ में यह प्रश्न स्वाभाविक रूप से उठता है कि ध्यान किसका किया जाये? दूसरे शब्दों में ध्येय या ध्यान का आलम्बन क्या है? सामान्य दृष्टि से विचार करने पर तो किसी भी वस्तु या विषय को ध्येय/ध्यान के आलम्बन के रूप में स्वीकार किया जा सकता है, क्योंकि सभी वस्तुओं या विषयों में कम-अधिक रूप में ध्यानाकर्षण की क्षमता तो होती ही है। चाहे संसार के सभी विषय ध्यान के आलम्बन होने की पात्रता रखते हों, किन्तु उन सभी को ध्यान का आलम्बन नहीं बनाया जा सकता है। व्यक्ति के प्रयोजन के आधार पर ही उनमें से कोई एक विषय ही ध्यान का आलम्बन बनता है। अतः ध्यान के आलम्बन का निर्धारण करते समय यह विचार करना आवश्यक होता है कि ध्यान का उद्देश्य या प्रयोजन क्या है? दूसरे शब्दों में ध्यान हम किसलिए करना चाहते हैं? इसका निर्धारण सर्वप्रथम आवश्यक होता है। वैसे तो संसार के सभी विषय चित्त को केन्द्रित करने का सामर्थ्य रखते हैं, किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि बिना किसी पूर्व विचार के उन्हें ध्यान का आलम्बन अथवा ध्येय बनाया जाये। किसी स्त्री का सुन्दर शरीर ध्यानाकर्षण या ध्यान का आलम्बन होने की योग्यता तो रखता है किन्तु जो साधक ध्यान के माध्यम से विक्षोभ या तनावमुक्त होना चाहता है, उसके लिए यह उचित नहीं होगा कि वह स्त्री के सुन्दर शरीर को अपने ध्यान का विषय बनाये। क्योंकि उसे ध्यान का विषय बनाने से उसके मन में उसके प्रति रागात्मकता उत्पन्न होगी, वासना जगेगी और पाने की आकांक्षा या भोग की आकांक्षा से चित्त में विक्षोभ पैदा होगा। अतः किसी भी वस्तु को ध्यान का आलम्बन बनाने के पूर्व यह विचार करना आवश्यक होता है कि हमारे ध्यान का प्रयोजन या उद्देश्य क्या है? जो व्यक्ति अपनी वासनाओं का पोषण चाहता है, वही स्त्री-शरीर के सौन्दर्य को अपने ध्यान का आलम्बन बनाता है और उसके माध्यम से आर्तध्यान का भागीदार बनता है। किन्तु जो भोग के स्थान पर त्याग और वैराग्य को अपने जीवन का लक्ष्य बनाना चाहता है, जो समाधि का इच्छुक है, उसके लिए स्त्री-शरीर की बीभत्सता और विद्रूपता ही ध्यान का आलम्बन होगी। अतः ध्यान के प्रयोजन के आधार पर ही ध्येय का निर्धारण करना होता है। पुनः ध्यान की प्रशस्तता और अप्रशस्तता भी उसके ध्येय या आलम्बन पर आधारित होती है, अतः प्रशस्त ध्यान के साधक अप्रशस्त विषयों को अपने ध्यान का आलम्बन या ध्येय नहीं बनाते हैं।

जैन दार्शनिकों की दृष्टि में प्राथमिक स्तर पर ध्यान के लिए किसी ध्येय या आलम्बन का होना आवश्यक है, क्योंकि बिना आलम्बन ही चित्त की वृत्तियों को केन्द्रित करना सम्भव नहीं होता है। वे सभी विषय और वस्तुएँ जिनमें व्यक्ति का मन रम जाता है, ध्यान का आलम्बन बनने की योग्यता तो रखती हैं, किन्तु उनमें से किसी एक को अपने ध्यान का आलम्बन बनाते समय व्यक्ति को यह विचार करना होता है कि उससे वह राग की ओर जायेगा या विराग की ओर, उसके चित्त में वासना और विक्षोभ जर्गेगे या समाधि सधेगी। यदि साधक का उद्देश्य ध्यान के माध्यम से चित्त-विक्षोभों को दूर करके समाधि-लाभ या समता-भाव को प्राप्त करना है, तो उसे प्रशस्त विषयों को ही अपने ध्यान का आलम्बन बनाना होगा। प्रशस्त आलम्बन ही व्यक्ति को प्रशस्त ध्यान की दिशा की ओर ले जाता है।

ध्यान के आलम्बन के प्रशस्त विषयों में परमात्मा या ईश्वर का स्थान सर्वोपरि माना गया है। जैन दार्शनिकों ने भी ध्यान के आलम्बन के रूप में वीतराग परमात्मा को ध्येय के रूप में स्वीकार किया है।^१ चाहे ध्यान पदस्थ हो या पिण्डस्थ, रूपस्थ हो या रूपातीत, ध्येय तो परमात्मा ही है। किन्तु हमें यह स्मरण रखना चाहिए कि जैनधर्म में आत्मा और परमात्मा भिन्न नहीं हैं। आत्मा की शुद्धदशा ही परमात्मा है।^२ इसलिए जैन दर्शन में ध्याता और ध्येय अभिन्न हैं। साधक आत्मा ध्यानसाधना में अपने ही शुद्ध स्वरूप को ध्येय बनाता है। आत्मा, आत्मा के द्वारा आत्मा का ही ध्यान करता है।^३ जिस परमात्म-स्वरूप को ध्याता ध्येय के रूप में स्वीकार करता है वह उसका अपना ही शुद्ध स्वरूप है।^४ पुनः ध्यान में जो ध्येय बनता है वह वस्तु नहीं, चित्त की वृत्ति होती है। ध्यान में चित्त ही ध्येय का आकार ग्रहण करके हमारे सामने उपस्थित होता है। अतः ध्याता भी चित्त है और ध्येय भी चित्त है। जिसे हम ध्येय कहते हैं, वह हमारा अपना ही निज रूप है, हमारा अपना ही प्रोजेक्शन (Projection) है। ध्यान वह कला है जिसमें ध्याता अपने को ही ध्येय बनाकर स्वयं उसका साक्षी बनता है। हमारी वृत्तियाँ ही हमारे ध्यान का आलम्बन होती हैं और उनके माध्यम से हम अपना ही दर्शन करते हैं।

ध्यान के अधिकारी-

ध्यान को व्यापक अर्थों में ग्रहण करने पर सभी व्यक्ति ध्यान के अधिकारी माने जा सकते हैं, क्योंकि जैन दर्शन के अनुसार आर्त और रौद्र ध्यान तो निम्नतम प्राणियों में भी

१) ज्ञानार्णव - ३२।९५, ३९।१-८, मोक्षपाहुड ७

२) अप्पा सो परमप्पा

३) तत्त्वानुशासन ७४

४) मोक्षपाहुड ५

पाया जाता है। अपने व्यापक अर्थ में ध्यान में प्रशस्त और अप्रशस्त दोनों ही प्रकार के ध्यानों का समावेश होता है। अतः हमें यह मानना होता है कि इन अप्रशस्त ध्यानों की पात्रता तो आध्यात्मिक दृष्टि से अपूर्ण रूप से विकसित सभी प्राणियों में किसी न किसी रूप में रही हुई है। नारक, तिर्यच, मनुष्य, देव आदि सभी में आर्तध्यान और रौद्रध्यान पाये जाते हैं। किन्तु जब हम ध्यान का तात्पर्य केवल प्रशस्त ध्यान अर्थात् धर्मध्यान और शुक्लध्यान से लेते हैं तो हमें यह मानना होगा कि इन ध्यानों के अधिकारी सभी प्राणी नहीं हैं। उमास्वाती ने तत्त्वार्थसूत्र में किस ध्यान का कौन अधिकारी है इसका उल्लेख किया है।^१ इसकी विशेष चर्चा हमने ध्यान के प्रकारों के प्रसंग में की है। साधारणतया चतुर्थ गुणस्थान अर्थात् सम्यक्दर्शन की प्राप्ति के पश्चात् ही व्यक्ति धर्मध्यान का अधिकारी बनता है। धर्मध्यान की पात्रता केवल सम्यक् दृष्टि जीवों को ही है। आर्त और रौद्र ध्यान का परित्याग करके अपने को प्रशस्त चिन्तन से जोड़ने की सम्भावना केवल उसी व्यक्ति में हो सकती है, जिसका विवेक जागृत हो और जो हेय, ज्ञेय और उपादेय के भेद को समझता हो। जिस व्यक्ति में हेय-उपादेय अथवा हितअहित के बोध का ही सामर्थ्य नहीं है, वह धर्मध्यान में अपने चित्त को केन्द्रित नहीं कर सकता।

यह भी स्मरणीय है कि आर्त और रौद्र ध्यान पूर्व संस्कारों के कारण व्यक्ति में सहज होते हैं। उनके लिए व्यक्ति को विशेष प्रयत्न या साधना नहीं करनी होती, जबकि धर्मध्यान के लिए साधना (अभ्यास) आवश्यक है। इसीलिए धर्मध्यान केवल सम्यक्दृष्टि को ही हो सकता है। धर्म-ध्यान की साधना के लिए व्यक्ति में ज्ञान के साथ-साथ वैराग्य/विरति भी आवश्यक मानी गई है और इसलिए कुछ लोगों का यह मानना भी है कि धर्मध्यान पांचवें गुणस्थान अर्थात् देशव्रती को ही संभव है। अतः स्पष्ट है कि जहाँ आर्त और रौद्र ध्यान के स्वामी सम्यक्दृष्टि एवं मिथ्यादृष्टि दोनों प्रकार के जीव हो सकते हैं, वहाँ धर्मध्यान का प्रश्न अधिकारी रूप से सम्यक्दृष्टि श्रावक और विशेषरूप से देशविरत श्रावक या मुनि ही हो सकता है।

जहाँ तक शुक्लध्यान का प्रश्न है वह सातवें गुणस्थान के अप्रमत्त जीवों से लेकर १४ वें अयोगी केवली गुणस्थान तक के सभी व्यक्तियों में सम्भव है। इस सम्बन्ध में श्वेताम्बर - दिगम्बर के मतभेदों की चर्चा ध्यान के प्रकारों के प्रसंग में आगे की है।

इस प्रकार ध्यानसाधना के अधिकारी व्यक्ति भिन्न-भिन्न ध्यानों की अपेक्षा से भिन्न-भिन्न कहे गये हैं। जो व्यक्ति आध्यात्मिक दृष्टि से जितना विकसित होता है, वह ध्यान के क्षेत्र में उतना ही आगे बढ़ सकता है। अतः व्यक्ति का आध्यात्मिक विकास उसकी ध्यानसाधना से जुड़ा हुआ है। आध्यात्मिक साधना और ध्यानसाधना में विकास

१) देखें-तत्त्वार्थसूत्र १।३१-४१

का क्रम अन्योन्याश्रित हैं। जैसे-जैसे व्यक्ति प्रशस्त ध्यानों की दिशा में अग्रसर होता है उसका आध्यात्मिक विकास होता है और जैसे-जैसे उसका आध्यात्मिक विकास होता है, वह प्रशस्त ध्यानों की ओर अग्रसर होता है।

ध्यान का साधक गृहस्थ या श्रमण ?

ध्यान की क्षमता त्यागी और भोगी दोनों में समान रूप से होती है, किन्तु अक्सर भोगी जिस विषय पर अपना ध्यान केन्द्रित करता है वह विषय अन्त में उसके मन को प्रमथित करके उद्वेलित ही बनाता है। अतः उसके ध्यान में यद्यपि कुछ काल तक चित्त तो स्थिर रहता है, किन्तु उसका फल-चित्तवृत्तियों की स्थिरता न होकर अस्थिरता ही होती है। जिस ध्यान के अन्त में चित्त उद्वेलित होता हो वह ध्यान साधनात्मक ध्यान की कोटि में नहीं आता है। यही कारण है कि परवर्ती जैन दार्शनिकों ने अपने ग्रन्थों में आर्तध्यान और रौद्र ध्यान को ध्यान के रूप में परिगणित ही नहीं किया, क्योंकि वे अन्ततोगत्वा चित्त की उद्विग्नता के ही कारण बनते हैं। यही कारण था कि दिगम्बर परम्परा ने यह मान लिया कि गृहस्थ का जीवन वासनाओं, आकांक्षाओं और उद्विग्नताओं से परिपूर्ण है अतः वे ध्यान साधना करने में असमर्थ हैं।

ज्ञानार्णव में इस मत का प्रतिपादन हुआ है कि गृहस्थ ध्यान का अधिकारी नहीं है।^१ इस संबंध में उसका कथन है कि गृहस्थ प्रमाद को जीतने में समर्थ नहीं होता, इसलिए वह अपने चंचल मन को वश में नहीं रख पाता। फलतः वह ध्यान का अधिकारी नहीं हो सकता। ज्ञानार्णव कार का कथन है कि गृहस्थ का मन सैकड़ों झंझटों से व्यथित तथा दुष्ट तृष्णा रूप पिशाच से पीड़ित रहता है इसलिए उसमें रहकर व्यक्ति ध्यान आदि की साधना नहीं कर सकता है। जब प्रलयकालीन तीक्ष्ण वायु के द्वारा स्थिर स्वभाववाले बड़े-बड़े पर्वत भी स्थान भ्रष्ट कर दिये जाते हैं तो फिर स्त्री-पुत्र आदि के बीच रहनेवाले गृहस्थ को जो स्वभाव से ही चंचल हैं क्यों नहीं भ्रष्ट किया जा सकता है।^२ इस चर्चा को आगे बढ़ाते हुए ज्ञानार्णवकार तो यहां तक कहता है कि कदाचित् आकाश कुसुम और गधे के सींग (ऋंग) संभव भी हों, लेकिन गृहस्थ जीवन में किसी भी देश और काल में ध्यान संभव नहीं होता।^३ इसके साथ ही ज्ञानार्णवकार मिथ्या दृष्टियों, अस्थिर अभिप्राय वालों तथा कपटपूर्ण जीवन जीने वालों में भी ध्यान की संभावना को स्वीकार नहीं करता है।^४

यहां यह प्रश्न उपस्थित होता है कि क्या गृहस्थ जीवन में ध्यान संभव ही नहीं है।

१) ज्ञानार्णव ४।१०-१५

२) वही - ४।१६

३) वही - ४।१७

४) वही ४।१८-१९

यह सही है कि गृहस्थ जीवन में अनेक द्वन्द्व होते हैं और गृहस्थ आर्त और रौद्र ध्यान से अधिकांश समय तक जुड़ा रहता है। किन्तु एकान्त रूप से गृहस्थ में धर्मध्यान की संभावना को अस्वीकार नहीं किया जा सकता। अन्यथा गृहस्थ लिंग की अवधारणा खण्डित हो जायेगी। अतः गृहस्थ में भी धर्म ध्यान की संभावना है।

यह सत्य है कि जो व्यक्ति गृहस्थ जीवन के प्रपंचों में उलझा हुआ है, उसके लिए ध्यान संभव नहीं है। किन्तु गृहस्थ जीवन और गृही वेश में रहनेवाले सभी व्यक्ति आसक्त ही होते हैं, यह नहीं कहा जा सकता। अनेक सम्यक्दृष्टि गृहस्थ ऐसे होते हैं जो जल में कमलवत् गृहस्थ जीवन में अलिप्त भाव से रहते हैं। ऐसे व्यक्तियों के लिए धर्मध्यान की संभावना को अस्वीकार नहीं किया जा सकता। स्वयं ज्ञानार्णवकार यह स्वीकार करता है कि जो साधु मात्र वेश में अनुराग रखता हुआ अपने को महान समझता है और दूसरों को हीन समझता है वह साधु भी ध्यान के योग्य नहीं है।^१ अतः व्यक्ति में मुनिवेशधारण करने से ध्यान की पात्रता नहीं आती है। प्रश्न यह नहीं कि ध्यान गृहस्थ को संभव होगा या साधु को? वस्तुतः निर्लिप्त जीवन जीने वाला व्यक्ति चाहे वह साधु हो या गृहस्थ, उसके लिए धर्मध्यान संभव हो सकता है। दूसरी ओर आसक्त, दंभी और साकांक्ष व्यक्ति, चाहे वह मुनि ही क्यों न हो, उसके लिए धर्मध्यान असंभव होता है। ध्यान की संभावना साधु और गृहस्थ होने पर निर्भर नहीं करती। उसकी संभावना का आधार ही व्यक्ति के चित्त की निराकुलता या अनासक्ति है। जो चित्त अनासक्त और निराकुल है, फिर वह चित्त गृहस्थ का हो या मुनि का, इससे कोई अन्तर नहीं पड़ता। ध्यान के अधिकारी बनने के लिए आवश्यक यह है कि व्यक्ति का मानस निराकांक्ष, अनाकुल और अनुद्विग्न रहे। यह अनुभूत सत्य है कि कोई-कोई व्यक्ति गृहस्थ जीवन में रहकर भी निराकांक्ष, अनाकुल और अनुद्विग्न बना रहता है। दूसरी ओर कुछ साधु, साधु होकर भी सदैव आसक्त, आकुल और उद्विग्न रहते हैं। अतः ध्यान का संबंध गृही जीवन या मुनि जीवन से न होकर चित्त की विशुद्धि से है। चित्त जितना विशुद्ध होगा ध्यान उतना ही स्थिर होगा। पुनः जो श्वेताम्बर और यापनीय परम्परायें गृहस्थ में भी १४ गुणस्थान सम्भव मानती हैं, उनके अनुसार तो आध्यात्मिक विकास के अग्रिम श्रेणियों का आरोहण करता हुआ गृहस्थ भी न केवल धर्म ध्यान का अपितु शुक्ल ध्यान का भी अधिकारी होता है।

ध्यान के प्रकार -

सामान्यतया जैनचार्यों ने ध्यान का अर्थ चित्तवृत्ति का किसी एक विषय पर केन्द्रित होना ही माना है। अतः जब उन्होंने ध्यान के प्रकारों की चर्चा की तो उसमें प्रशस्त और

१) ज्ञानार्णव - ४।३३

अप्रशस्त दोनों ही प्रकार के ध्यानों को प्रहीत कर लिया। उन्होंने आर्त, रौद्र, धर्म और शुक्ल ये ध्यान के चार प्रकार माने।^१ ध्यान के इन चार प्रकारों में प्रथम दो को अर्थात् संसार का हेतु और अन्तिम दो को प्रशस्त अर्थात् मोक्ष का हेतु कहा गया है।^२ इसका आधार यह माना गया है कि आर्त और रौद्र ध्यान राग-द्वेष जनित होने से बन्धन के कारण हैं। इसलिए वे अप्रशस्त हैं। जबकि धर्मध्यान और शुक्ल ध्यान कषाय भाव से रहित होने से मुक्ति के कारण हैं, इसलिए वे प्रशस्त हैं। ध्यानशतक की टीका में तथा अमितगति के श्रावकाचार में इन चार ध्यानों को क्रमशः तिर्यचगति, नरकगति, देवगति और मुक्ति का कारण कहा गया है। यद्यपि प्राचीन जैन आगमों में ध्यान का यह चतुर्विध वर्गीकरण ही मान्य रहा है। किन्तु जब ध्यान का सम्बन्ध मुक्ति की साधना से जोड़ा गया तो आर्त और रौद्र ध्यान को बन्धन का कारण होने से ध्यान की कोटि में ही परिगणित नहीं किया गया। अतः दिगम्बर परम्परा की धवला टीका^३ में तथा श्वेताम्बर परम्परा के हेमचन्द्र के योगशास्त्र^४ में ध्यान के दो ही प्रकार माने गए-धर्म और शुक्ल। ध्यान में भेद-प्रभेदों की चर्चा से स्पष्ट रूप से यह ज्ञात होता है कि उसमें क्रमशः विकास होता गया है। प्राचीन आगमों यथा-स्थानांग, समवायांग, भगवतीसूत्र में तथा ज्ञाणज्ज्ञयण (ध्यानशतक) और तत्त्वार्थसूत्र में ध्यान के चार विभागों की चर्चा करके क्रमशः उनके चार-चार विभाग किये गए हैं किन्तु उनमें कहीं भी ध्यान के पिंडस्थ, पदस्थ, रूपस्थ और रूपातीत इन चार प्रकार की चर्चा नहीं है। जबकि परवर्ती साहित्य में इनकी विस्तृत चर्चा मिलती है। सर्वप्रथम इनका उल्लेख योगीन्दु के योगसार और देवसेन के भावसंग्रह में मिलता है।^५ मुनि पद्मसिंह ने ज्ञानसार में अर्हन्त के सन्दर्भ में धर्म ध्यान के अन्तर्गत पिण्डस्थ, पदस्थ और रूपस्थ की चर्चा की है किन्तु उन्होंने रूपातीत का कोई स्पष्ट निर्देश नहीं किया है।^६ इस विवेचना में एक समस्या यह भी है कि पिण्डस्थ और रूपस्थ में कोई विशेष अन्तर नहीं दिखाया गया है। परवर्ती साहित्य में आचार्य नेमिचन्द्र के द्रव्य संग्रह में ध्यान के चार भेदों की चर्चा के पश्चात् धर्म ध्यान के अन्तर्गत पदों के जाप और पंच परमेष्ठी के स्वरूप का भी निर्देश किया गया है।^५ इसके टीकाकार ब्रह्मदेव ने यह भी बताया है कि जो ध्यान मन्त्र वाक्यों के आश्रित होता है वह पदस्थ है, जिस ध्यान में स्वआत्मा का चिन्तन होता है वह पिंडस्थ है, जिसमें चेतना स्वरूप या विद्रूपता का विचार किया जाता है वह रूपस्थ है

१) तत्त्वार्थसूत्र १।२९

४) योगशास्त्र ४।११५

२) वही १।३०, ध्यान शतक ५

५) योगसार, ९८

३) धवला पुस्तक १३ पृ. ७०

६) ज्ञानसार १८-२८

५) द्रव्यसंग्रह (नेमीचन्द्र) ४८-५४ टीका ब्रह्मदेव गाथा ४८ की टीका

तथा निरंजन व निराकार का ध्यान ही रूपातीत है।^१ अमितगति^२ ने अपने श्रावकाचार में ध्येय या ध्यान के आलम्बन की चर्चा करते हुए पिण्डस्थ आदि इन चार प्रकार के ध्यानों की विस्तार से लगभग २७ श्लोकों में चर्चा की है। यहां पिण्डस्थ से पहले पदस्थ ध्यान को स्थान दिया गया है और उसकी विस्तृत चर्चा भी की गई है। शुभचन्द्र^३ ने ज्ञानार्णव में पदस्थ आदि ध्यान के इन प्रकारों की पूरे विस्तार के साथ लगभग २७ श्लोकों में चर्चा की है। परवर्ती आचार्यों में वसुनन्दि, हेमचन्द्र, भास्करनन्दि आदि ने भी इनकी विस्तार से चर्चा की है। पुनः पार्थिवी, आग्नेयी, मारुति, वारुणी और तत्त्वभू ऐसी पिण्डस्थ ध्यान की जो पांच धारणाएं कही गई हैं उनका भी प्राचीन ग्रन्थों में कहीं उल्लेख नहीं मिलता है। तत्त्वार्थसूत्र और उसकी प्राचीन टीकाओं में लगभग ६ठीं ७ वीं शती तक इनका अभाव है। इससे यही सिद्ध होता है कि ध्यान के प्रकारों, उपप्रकारों, लक्षणों, आलम्बनों आदि की जो चर्चा जैन परम्परा में हुई है, वह क्रमशः विकसित होती रही है और उन पर अन्य परम्पराओं का प्रभाव भी है।

प्राचीन आगमिक साहित्य में स्थानांग में ध्यान के प्रकारों, लक्षणों, आलम्बनों और अनुप्रेक्षाओं का जो विवरण मिलता है वह इस प्रकार है :-

१) आर्तध्यान- आर्तध्यान हताशा की स्थिति है। स्थानांग के अनुसार इस ध्यान के चार उपप्रकार हैं।^४ अप्रिय वस्तु के प्राप्त होने पर उसके वियोग की सतत चिन्ता करना यह प्रथम प्रकार का आर्त ध्यान है। दुःख के आने पर उसे दूर करने की चिन्ता करना यह आर्त ध्यान का दूसरा रूप है। प्रिय वस्तु का वियोग हो जाने पर उसकी पुनः प्राप्ति के लिए चिन्तन करना तीसरे प्रकार का आर्त ध्यान है और जो वस्तु प्राप्त नहीं है उसकी प्राप्ति के लिए इच्छा करना चौथे प्रकार का आर्त ध्यान है। तत्त्वार्थ सूत्र के अनुसार यह आर्तध्यान, अविरत, देशविरत और प्रमत्त संयत में होता है। इसके साथ ही मिथ्या दृष्टियों में भी इस ध्यान का सद्भाव होता है। सैद्धान्तिक दृष्टि से मिथ्या दृष्टि, अविरत सम्यक्दृष्टि तथा देशविरत सम्यक्दृष्टि में आर्तध्यान के उपरोक्त चारों ही प्रकार पाये जाते हैं; किन्तु प्रमत्त संयत में निदान को छोड़कर अर्थात् अप्राप्त की प्राप्ति की आकांक्षा को छोड़कर अन्य तीन ही विकल्प होते हैं। स्थानांगसूत्र में इसके निम्न चार लक्षणों का उल्लेख हुआ है।^५

- १) क्रन्दनता - उच्च स्वर से रोना।
- २) शोचनता - दीनता प्रकट करते हुए शोक करना।

१) पदस्थ मंत्रवाक्यस्थ - वही गाथा ४८ की टीका
 २) श्रावकाचार (अमितगति) परिच्छेद १५
 ३) ज्ञानार्णव (शुभचन्द्र) सर्ग ३२-४०
 ४) स्थानांगसूत्र ४।६०-७२
 ५) स्थानांगसूत्र ४।६२

- ३) तेपनता - आंसू बहाना।
 ४) परिदेवनता - करुणा-जनक विलाप करना।

रौद्र ध्यान -

रौद्रध्यान आवेगात्मक अवस्था है। रौद्रध्यान के भी चार भेद किये गये हैं।

- १) हिंसानुबंधी - निरन्तर हिंसक प्रवृत्ति में तन्मयता करानेवाली चित्त की एकाग्रता।
 २) मृषानुबंधी - असत्य भाषण करने सम्बन्धी चित्त की एकाग्रता।
 ३) स्तेनानुबन्धी - निरन्तर चोरी करने कराने की प्रवृत्ति सम्बन्धी चित्त की एकाग्रता।

४) संरक्षणानुबन्धी - परिग्रह के अर्जन और संरक्षण सम्बन्धी तन्मयता।

कुछ आचार्यों ने विषयसंरक्षण का अर्थ बलात् ऐन्द्रिक भोगों का संकल्प किया है, जब कि कुछ आचार्यों ने ऐन्द्रिक विषयों के संरक्षण में उपस्थित क्रूरता के भाव को ही विषयसंरक्षण कहा है। स्थानांग में इसके भी निम्न चार लक्षणों का निर्देश है।^१

- १) उत्सन्नदोष - हिंसादि किसी एक पाप में निरन्तर प्रवृत्ति करना।
 २) बहुदोष - हिंसादि सभी पापों के करने में संलग्न रहना।
 ३) अज्ञानदोष - कुसंस्कारों के कारण हिंसादि अधार्मिक कार्यों को धर्म मानना।
 ४) आमरणान्त दोष - मरणकाल तक भी हिंसादि क्रूर कर्मों को करने का अनुताप न होना।

धर्मध्यान -

जैन आचार्यों ने साधना की दृष्टि से केवल धर्मध्यान और शुक्लध्यान को ही ध्यान की कोटि में रखा है। यही कारण है कि आगमों में इनके भेद और लक्षणों की चर्चा के साथ-साथ इनके आलम्बनों और अनुप्रेक्षाओं का भी उल्लेख मिलता है। स्थानांगसूत्र आदि में धर्मध्यान के निम्न चार भेद बताये गये हैं।^१

१) आज्ञाविचय - वीतराग सर्वज्ञ - प्रभु के आदेश और उपदेश के सम्बन्ध में आगमों के अनुसार चिन्तन करना।

२) अपायविचय - दोषों और उनके कारणों का चिन्तन कर उनसे छुटकारा कैसे हो, इस सम्बन्ध में विचार करना। दूसरे शब्दों में हेय क्या है? इसका चिन्तन करना।

१) स्थानांग सूत्र ४।६३

२) वही ४।६४

३) वही ४।६५

३) विपाक विचय - पूर्वकर्मों के विपाक के परिणामस्वरूप उदय में आनेवाली सुखदुःखात्मक विभिन्न अनुभूतियों का समभावपूर्वक वेदन करते हुए उनके कारणों का विश्लेषण करना। दूसरे कुछ आचार्यों के अनुसार हेय के परिणामों का चिन्तन करना ही विपाकविचय धर्मध्यान है।

विपाकविचय धर्मध्यान के निम्न उदाहरण से भी समझा जा सकता है -

मान लीजिए कोई व्यक्ति हमें अपशब्द कहता है और उन अपशब्दों को सुनने से पूर्वसंस्कारों के निमित्त से क्रोध का भाव उदित होता है। उस समय उत्पन्न होते हुए क्रोध को साक्षी भाव से देखना और क्रोध की प्रतिक्रिया व्यक्त न करना तथा यह विचार करना कि क्रोध का परिणाम दुःखद होता है अथवा यह सोचना कि मेरे निमित्त से इसको कोई पीड़ा हुई होगी, अतः यह मुझे अपशब्द कह रहा है, यह विपाकविचय धर्मध्यान है। संक्षेप में कर्मविपाकों के उदय पर उनके प्रति साक्षी भाव रखना, प्रतिक्रिया के दुःखद परिणाम का चिन्तन करना एवं प्रतिक्रिया न करना ही विपाकविचय धर्मध्यान है।

४) संस्थान विचय - लोक के स्वरूप के चिन्तन को सामान्यरूप से संस्थान विचय धर्मध्यान कहा जाता है। किन्तु लोक एवं संस्थान का अर्थ आगमों में शरीर भी है। अतः शारीरिक गतिविधियों पर अपनी चित्तवृत्तियों को केन्द्रित करने को भी संस्थानविचय धर्मध्यान कहा जा सकता है। अपने इस अर्थ में संस्थान विचय धर्मध्यान शरीर-विपश्यना या शरीर-प्रेक्षा के निकट है। आगमों में धर्मध्यान के निम्न चार लक्षण कहे गये हैं।^१

१) आज्ञारुचि - जिन आज्ञा के सम्बन्ध में विचार-विमर्श करना तथा उसके प्रति निष्ठावान रहना।

२) निसर्गरुचि - धर्मकार्यों में स्वाभाविक रूप रुचि होना।

३) सूत्ररुचि - आगम शास्त्रों के अध्ययन अध्यापन में रुचि होना।

४) अवगाढरुचि - आगमिक विषयों के गहन चिन्तन और मनन में रुचि होना। दूसरे शब्दों में आगमिक विषयों का रुचि गम्भीरता से अवगाहन करना।

स्थानांग में धर्मध्यान के आलम्बनों की चर्चा करते हुए, उसमें चार आलम्बन बताये गये हैं^२ - १) वाचना-अर्थात् आगमसाहित्य का अध्ययन करना, २) प्रतिपृच्छना-अध्ययन करते समय उत्पन्न शंका के निवारणार्थ जिज्ञासावृत्ति से उस सम्बन्ध में गुरुजनों से पूछना। ३) परिवर्तना - अधीत सूत्रों का पुनरावर्तन करना ४) अनुप्रेक्षा - आगमों के अर्थ का चिन्तन करना। कुछ आचार्यों की दृष्टि में अनुप्रेक्षा का अर्थ संसार की अनित्यता आदि का चिन्तन करना भी है।

१) स्थानांग ४।६६

२) वही ४।६७

स्थानांगसूत्र के अनुसार धर्मध्यान की चार अनुप्रेक्षाएँ कहीं गई हैं- १) एकस्थानुप्रेक्षा, २) अनित्यानुप्रेक्षा, ३) अशरणानुप्रेक्षा और ४) संसारानुप्रेक्षा। ये अनुप्रेक्षाएँ जैन परंपरा में प्रचलित १२ अनुप्रेक्षाओं के ही अन्तर्गत हैं। जिनभद्र के ध्यानशतक तथा उमास्वाती के तत्त्वार्थसूत्र में धर्मध्यान के अधिकारी के सम्बन्ध में चर्चा उपलब्ध होती है। जिनभद्र के अनुसार जिस व्यक्ति में निम्न चार बातें होती हैं वही धर्मध्यान का अधिकारी होता है। १. सम्यक्ज्ञान (ज्ञान), २. दृष्टिकोण की विशुद्धि (दर्शन), ३. सम्यक् आचरण (चारित्र) और ४. वैराग्यभाव। हेमचन्द्र ने योगशास्त्र में इन्हें ही कुछ शब्दान्तर के साथ प्रस्तुत किया है। वे धर्मध्यान के लिए १. आगमज्ञान, २. अनासक्ति, ३. आत्मसंयम और ४. मुमुक्षुभाव को आवश्यक मानते हैं। धर्मध्यान के अधिकारी के सम्बन्ध में तत्त्वार्थ का दृष्टिकोण थोड़ा भिन्न है। तत्त्वार्थ के श्वेताम्बर पाठ के अनुसार धर्मध्यान अप्रमत्तसंयत, उपशांतकषाय और क्षीणकषाय में ही सम्भव है। गुणस्थान सिद्धान्त की दृष्टि से यदि हम कहें तो सातवें, ग्यारहवें और बारहवें में ही धर्मध्यान संभव है। यदि इसे निरंतरता में ग्रहण करें तो अप्रमत्त संयत से लेकर क्षीणकषाय तक अर्थात् सातवें गुणस्थान से लेकर बारहवें गुणस्थान तक धर्मध्यान की संभावना है। तत्त्वार्थसूत्र के दिगम्बर मान्य मूलपाठ में धर्मध्यान के अधिकारी की विवेचना करनेवाला सूत्र है ही नहीं। यद्यपि तत्त्वार्थसूत्र की दिगम्बर टीकाओं में पूज्यपाद अक्लंक और विद्यानन्दि सभी ने धर्मध्यान के स्वामी का उल्लेख किया है किन्तु उनका मंतव्य श्वेताम्बर परम्परा से भिन्न है। उनके अनुसार चौथे गुणस्थान से लेकर सातवें गुणस्थान तक ही धर्मध्यान की संभावना है। आठवें गुणस्थान से श्रेणी प्रारंभ होने के कारण धर्मध्यान संभव नहीं है।

इस प्रकार धर्मध्यान के अधिकारी के प्रश्न पर जैन आचार्यों में मतभेद रहे हैं।

शुक्ल ध्यान -

यह धर्म-ध्यान के बाद की स्थिति है। शुक्लध्यान के द्वारा मन को शान्त और निष्प्रकम्प किया जाता है। इसकी अन्तिम परिणति मन की समस्त प्रवृत्तियों का पूर्ण निरोध है। शुक्ल ध्यान चार प्रकार का है- १. पृथक्त्व-वितर्क-सविचार-इस ध्यान में ध्याता कभी द्रव्य का चिन्तन करते करते पर्याय का चिन्तन करता है और कभी पर्याय का चिन्तन करते करते द्रव्य का चिन्तन करने लगता है। इस ध्यान में कभी द्रव्य पर तो कभी पर्याय पर मनोयोग का संक्रमण होते रहने पर भी ध्येय द्रव्य एक ही रहता है। २. एकत्व-वितर्क

१) स्थानांग ४।६८ २) ध्यान शतक ६३ ३) योगशास्त्र ७।२-६

४) स्थानांग ४।६९

अविचारी-योग संक्रमण से रहित एक पर्याय विषयक ध्यान एकत्व वितर्क अविचार ध्यान कहलाता है। ३. सूक्ष्मक्रिया अप्रतिपाती-मन, वचन और शरीर व्यापार का निरोध हो जाने एवं केवल श्वासोच्छ्वास की सूक्ष्म क्रिया के शेष रहने पर ध्यान की यह अवस्था प्राप्त होती है। ४. समुच्छिन्न-क्रिया-निवृत्ति-जब मन, वचन और शरीर की समस्त प्रवृत्तियों का निरोध हो जाता है और कोई भी सूक्ष्म क्रिया शेष नहीं रहती उस अवस्था को समुच्छिन्न क्रिया निवृत्ति शुक्लध्यान कहते हैं। इस प्रकार शुक्लध्यान की प्रथम अवस्था से क्रमशः आगे बढ़ते हुए अन्तिम अवस्था में साधक कायिक, वाचिक और मानसिक सभी प्रवृत्तियों का पूर्ण निरोध कर अन्त में सिद्धावस्था प्राप्त कर लेता है, जो कि धर्म-साधना और योगसाधना का अन्तिम लक्ष्य है।

स्थानांगसूत्र में शुक्लध्यान के निम्न चार लक्षण कहे गये हैं-

१) अव्यथ-परीषह, उपसर्ग आदि की व्यथा से पीड़ित होने पर भी क्षोभित नहीं होना।

२) असम्मोह - किसी भी प्रकार से मोहित नहीं होना।

३) विवेक - स्व और पर अथवा आत्म और अनात्म के भेद को समझना। भेदविज्ञान का ज्ञाता होना।

४) व्युत्सर्ग - शरीर, उपधि आदि के प्रति ममत्व भाव का पूर्ण त्याग। दूसरे शब्दों में पूर्ण निर्ममत्व से युक्त होना।

इन चार लक्षणों के आधार पर हम यह बता सकते हैं कि किसी व्यक्ति में शुक्लध्यान संभव होगा या नहीं।

स्थानांग में शुक्लध्यान के चार आलम्बन बताये गये हैं- १. शान्ति (क्षमाभाव), २. मुक्ति (निलोभता, ३. आर्जव (सरलता) और ४. मार्दव (मृदुता)। वस्तुतः शुक्लध्यान के ये चार आलम्बन चार कषायों के त्यागरूप ही हैं। शान्ति में क्रोध का त्याग है और मुक्ति में लोभ का त्याग है। आर्जव माया (कपट) के त्याग का सूचक है, तो मार्दव मनन कषाय के त्याग का सूचक है।

इसी ग्रन्थ में शुक्लध्यान की चार अनुप्रेक्षाओं का उल्लेख भी हुआ है, किन्तु ये चार अनुप्रेक्षाएं सामान्यरूप से प्रचलित १२ अनुप्रेक्षाओं से क्वचित रूप में भिन्न ही प्रतीत होती है। स्थानांग में शुक्लध्यान की निम्न चार अनुप्रेक्षाएं उल्लेखित हैं-

१) अनन्तवृत्तितानुप्रेक्षा - संसार में परिभ्रमण की अनन्तता का विचार करना।

२) विपरिणामानुप्रेक्षा - वस्तुओं के विविध परिणमनों का विचार करना।

१) स्थानांग ४।७० २) वही ४।७१ ३) वही ४।७२

३) अशुभानुप्रेक्षा - संसार, देह और भोगों की अशुभता का विचार करना।

४) अपायानुप्रेक्षा - राग द्वेष से होनेवाले दोषों का विचार करना।

शुक्लध्यान के चार प्रकारों के सम्बन्ध में बौद्धों का दृष्टिकोण भी जैन परम्परा के निकट ही आता है। बौद्ध परम्परा में चार प्रकार के ध्यान माने गये हैं।

१) सवितर्क - सविचार-विवेकजन्य प्रीतिसुखात्मक प्रथम ध्यान।

२) वितर्क विचार - रहित - समाधिज प्रीतिसुखात्मक द्वितीय ध्यान।

३) प्रीति और विराग से उपेक्षक हो स्मृति और सम्प्रजन्य से युक्त उपेक्षा स्मृति सुखविहारी तृतीय ध्यान।

४) सुख-दुःख एवं सौमनस्य-दौर्मनस्य से रहित असुख-अदुःखात्मक उपेक्षा एवं परिशुद्धि से युक्त चतुर्थ ध्यान।

इस प्रकार चारों शुक्ल ध्यान बौद्ध परम्परा में भी थोड़े शाब्दिक अन्तर के साथ उपस्थित हैं।

योग परम्परा में भी समापत्ति के चार प्रकार बतलाये हैं, जो कि जैन परम्परा के शुक्लध्यान के चारों प्रकारों के समान ही लगते हैं। समापत्ति के वे चार प्रकार निम्नानुसार हैं - १. सवितर्का, २. निर्वितर्का, ३. सविचारा और ४. निर्विचारा।

शुक्लध्यान के स्वामी के सम्बन्ध में तत्त्वार्थसूत्र के श्वेताम्बर मूलपाठ और दिगम्बर मूलपाठ में तो अन्तर नहीं है किंतु 'च' शब्द से क्या अर्थ ग्रहण करना इसे लेकर मतभेद है। श्वेताम्बर परम्परा के अनुसार उपशान्त कषाय एवं क्षीणकषाय पूर्वधरों में चार शुक्लध्यानो में प्रथम दो शुक्लध्यान सम्भव हैं। बाद के दो केवली (सयोगी केवली और अयोगी केवली) में सम्भव हैं। दिगम्बर परम्परा के अनुसार आठवें गुणस्थान से चौदहवें गुणस्थान तक शुक्लध्यान सम्भव है। पूर्व के दो शुक्लध्यान सम्भव आठवें से बारहवें गुणस्थानवर्ती पूर्वधरों के होते हैं और शेष दो तेरहवें और चौदहवें गुणस्थानवर्ती केवली के।^१

जैनधर्म में ध्यान साधना का इतिहास-

जैन धर्म में ध्यान साधना की परम्परा प्राचीनकाल से ही उपलब्ध होती है। सर्वप्रथम हमें आचारांग में महावीर के ध्यान साधना संबंधी अनेक सन्दर्भ उपलब्ध हैं। आचारांग के अनुसार महावीर अपने साधनात्मक जीवन में अधिकांश समय ध्यान साधना में ही लीन रहते थे।^२ आचारांग से यह भी ज्ञात होता है कि महावीर ने न केवल

१) तत्त्वार्थ सूत्र १।३९-४०, २) आचारांग १।९।१।६, १।९।२।४, १।९।२।१२

चित्तवृत्तियों के स्थिरीकरण का अभ्यास किया था। अपितु उन्होंने दृष्टि के स्थिरीकरण का भी अभ्यास किया था। इस साधना में वे अपलक होकर दीवार आदि पर किसी एक बिन्दु पर ध्यान केन्द्रित करते थे। इस साधना में उनकी आंखें लाल हो जाती थीं। और बाहर की ओर निकल आती थीं जिन्हें देखकर दूसरे लोग भयभीत भी होते थे।^१ आचारांग के ये उल्लेख इस बात का स्पष्ट प्रमाण है कि महावीर ने ध्यान साधना की बाह्य और आभ्यन्तर अनेक विधियों का प्रयोग किया था। वे अप्रमत्त (जाग्रत) होकर समाधिपूर्वक ध्यान करते थे। ऐसे भी उल्लेख उपलब्ध होते हैं कि महावीर के शिष्य प्रशिष्यों में भी यह ध्यान साधना की प्रवृत्ति निरन्तर बनी रही। उत्तराध्ययन में मुनिजीवन की दिनचर्या का विवेचन करते हुए स्पष्ट रूप से निर्देश दिया गया है कि मुनि दिन और रात्रि के द्वितीय प्रहर में ध्यान साधना करें।^२ महावीर कालीन साधकों को ध्यान की कोष्ठोपगत विशेषता आगमों में उपलब्ध होती है। यह इस बात का सूचक है कि उस युग में ध्यान साधना मुनि जीवन का एक आवश्यक अंग थी। भद्रबाहु द्वारा नेपाल में जाकर महाप्राण ध्यान की साधना करने का उल्लेख भी मिलता है।^३ इसी प्रकार दुर्बलिकापुष्यमित्र की ध्यान साधना का उल्लेख आवश्यकचूर्ण में है^४ यद्यपि आगमों में ध्यान संबंधी निर्देश तो हैं, किन्तु महावीर और उनके अनुयायियों की ध्यान प्रक्रिया का विस्तृत विवरण उनमें उपलब्ध नहीं।

महावीर के युग में श्रमण परम्परा में ऐसे अनेक श्रमण थे, जिनकी अपनी अपनी ध्यान साधना की विशिष्ट पद्धतियां थीं। इनमें बुद्ध और महावीर के समकालीन किन्तु उनसे ज्येष्ठ रामपुत्र का हम प्रारम्भ में ही उल्लेख कर चुके हैं। आचारांग में साधकों के सम्बन्ध में विपस्सी^५ और पासग^६ जैसे विशेषण मिलते हैं। इससे ऐसा लगता है कि भगवान महावीर की निर्ग्रन्थ परम्परा में भी ज्ञात-दृष्टा भाव में चेतना को स्थिर रखने के लिए विपश्यना जैसी कोई ध्यान साधना की पद्धती रही होगी। यद्यपि विस्तृत विवरणों के अभाव में आज उस पद्धति की सम्पूर्ण प्रक्रिया की चर्चा तो नहीं कर सकते, परंतु आचारांग जैसे प्राचीन आगम में इन शब्दों की उपस्थिति इस तथ्य की सूचक अवश्य है कि उस युग में ध्यान साधना की जैन परम्परा की अपनी कोई विशिष्ट पद्धति थी। यह भी हो सकता है कि साधकों की प्रकृति के अनुरूप ध्यान साधना की एकाधिक पद्धतियां भी प्रचलित रही हों, किन्तु आगमों के रचनाकाल तक वे विलुप्त होने लगी थीं। जिस रामपुत्र का निर्देश भगवान बुद्ध के ध्यान के शिक्षक के रूप में मिलता है उनका उल्लेख जैन परंपरा के प्राचीन आगमों में जैसे सूत्रकृतांग, अंतकृत्दशा, औपपातिक दशा, ऋषिभाषित आदि में होना^७ इस बात का प्रमाण है कि निर्ग्रन्थ परम्परा रामपुत्र की ध्यान साधना की पद्धति से प्रभावित थी। बौद्ध परम्परा की विपश्यना और निर्ग्रन्थ परम्परा की आचारांग की ध्यान

१) आचारांग १।१।१।५, २) उत्तराध्ययन २६।१८,

३) आवश्यक चूर्ण भाग २ पृ. १८७, ४) वही, भाग १ पृ. ४१०

५) आचारांग १।२।५।१२५ (आचार्य तुलसी), ६) वही १।२।३।७३, १।२।६।१८५

७) देखें - Prakrut Proper Names Vol II Page 626

साधना में जो कुछ निकटता परिलक्षित होती है, वह यह सूचित करती है कि सम्भवतः दोनों का मूल स्रोत रामपुत्र की ध्यान-पद्धति रही होगी। इस संबंध में तुलनात्मक दृष्टि से अध्ययन किया जाना अपेक्षित है।

षट्आवश्यकों में कायोत्सर्ग को भी एक आवश्यक माना गया है। कायोत्सर्ग ध्यान साधना पूर्वक ही होता है, इसमें कोई संदेह नहीं है। प्रतिक्रमण में अनेक बार कायोत्सर्ग (ध्यान) किया जाता है। वर्तमान काल में भी यह परम्परा अविच्छिन्न रूप से जीवित है। आज भी ध्यान की इस परम्परा में तत्संबंधी दोषों के चिन्तन के अतिरिक्त नमस्कार मंत्र, चतुर्विंशतिस्तव के माध्यम से पंचपरमेष्ठी अथवा तीर्थकरों का ध्यान किया जाता है। मात्र हुआ यह है कि ध्यान की इस समग्र क्रिया में, जो सजगता अपेक्षित थी, वह समाप्त हो गई है और ये सब ध्यान संबंधी प्रक्रियाएं रूढ़ि मात्र बनकर रह गई हैं। यद्यपि इन प्रक्रियाओं की उपस्थिति से यह ज्ञात होता है कि ध्यान की इन प्रक्रियाओं में चेतना को सतत रूप से जाग्रत या ज्ञाता-दृष्टा भाव में स्थिर रखने का प्रयास किया जाता रहा है।

आगम युग तक जैन धर्म में ध्यान का उद्देश्य मुख्य रूप से आत्मशुद्धि या चरित्रशुद्धि ही था अथवा यों कहें कि वह चित्त को समभाव में स्थिर रखने का प्रयास था।

मध्ययुग में जब भारत में तंत्र और हठयोग संबंधी साधनाएं प्रमुख बनीं तो ध्यान की प्रक्रिया में परिवर्तन आया। आगमिक काल में ध्यान साधना में शरीर, इन्द्रिय, मन और चित्त वृत्तियों के प्रति सजग होकर चेतना को दृष्टा भाव या साक्षीभाव में स्थिर किया जाता था, जिससे शरीर और मन के उद्वेग और आकुलताएं शान्त हो जाती थीं। दूसरे शब्दों में वह चैतसिक समत्व अर्थात् सामायिक की साधना थी, जिसका कुछ रूप आज भी विपश्यना में उपलब्ध है। किन्तु जैसे-जैसे भारतीय समाज में तंत्र और हठयोग का प्रभाव बढ़ा वैसे-वैसे जैन साधना पद्धति में भी परिवर्तन आया। जैन ध्यान पद्धति में पदस्थ, पिण्डस्थ, रूपस्थ आदि ध्यान की विधियाँ और पार्थिव, आग्नेयी, वायवी और वारुणी जैसी धारणाएं सम्मिलित हुईं। बीजाक्षरों और मंत्रों का ध्यान करने की परम्परा विकसित हुई और षट्चक्रों के भेदन का प्रयास भी हुआ।

यदि हम जैन परम्परा में ध्यान की प्रक्रिया का इतिहास देखते हैं तो यह स्पष्ट लगता है कि उस पर अन्य भारतीय ध्यान एवं योग की परम्पराओं का प्रभाव आया है, जो हरिभद्र के पूर्व से ही प्रारंभ हो गया था। हरिभद्र ने उनकी ध्यान विधि को लेकर भी उसमें अपनी परम्परा के अनुरूप बहुत कुछ परिवर्तन किये थे। मध्ययुग की जैन ध्यान साधना विधि उस युग की योग-साधना विधि से पर्याप्त रूप से प्रभावित हुई थी। मध्ययुग में ध्यान साधना का प्रयोजन भी बदला। जहां प्राचीन काल में ध्यान साधना का प्रयोजन मात्र आत्म-विशुद्धि या चैतसिक समत्व था, वहां मध्य युग में उसके साथ विभिन्न ऋद्धियों

और लब्धियों की चर्चा भी जुड़ी और यह माना जाने लगा कि ध्यान साधना से विधि अलौकिक शक्तियाँ प्राप्त की जा सकती हैं। ध्यान की प्रभावशीलता को बनाए रखने के लिए यह आवश्यक तो था, किन्तु इसके अन्य परिणाम भी सामने आये। जब अनेक साधक इन हठयोगी साधनाओं के माध्यम से ऋद्धि या लब्धि प्राप्त करने में असमर्थ रहे तो उन्होंने यह मान लिया कि वर्तमान युग में ध्यान साधना संभव ही नहीं है। ध्यान साधना की सिद्धि केवल उत्तम संहनन के धारक मुनियों अथवा पूर्वधरों को ही संभव थी। ऐसे भी अनेक उल्लेख उपलब्ध होते हैं, जिनमें कहा गया है कि पंचमकाल में उच्चकोटि का धर्मध्यान या शुक्लध्यान संभव नहीं है। मध्ययुग में ध्यान प्रक्रिया में कैसे-कैसे परिवर्तन हुए, यह बात प्राचीन आगमों और तत्त्वार्थ के उल्लेखों की तत्त्वार्थसूत्र की टीकाओं, दिगम्बर जैन पुराणों, श्रावकाचारों एवं हरिभद्र, शुभचन्द्र, हेमचन्द्र आदि के ग्रंथों के तुलनात्मक अध्ययन से स्पष्ट हो जाती है। मध्यकाल में ध्यान की निषेधक और समर्थक दोनों धाराएं साथ-साथ चलीं। कुछ आचार्यों ने कहा कि पंचमकाल में चाहे शुक्लध्यान की साधना संभव न हो, किन्तु धर्म-ध्यान की साधना तो संभव है। मात्र यह ही नहीं मध्ययुग में धर्म ध्यान के स्वरूप में काफी कुछ परिवर्तन किया गया और उसमें अन्य परम्पराओं की अनेक धारणाएं सम्मिलित हो गयीं। इस युग में ध्यान संबंधी स्वतंत्र साहित्य का भी पर्याप्त विकास हुआ। ज्ञाणञ्जयण (ध्यानशतक) से लेकर ज्ञानार्णव, ध्यानस्तव आदि अनेक स्वतंत्र ग्रंथ भी ध्यान पर लिखे गये। मध्ययुग हठयोग और ध्यान के समन्वय का युग कहा जा सकता है। इस काल में जैन ध्यान पद्धति योग परम्परा से, विशेष रूप से हठयोग की परम्परा से पर्याप्त रूप से प्रभावित और समन्वित हुई।

आधुनिक युग तक यही स्थिति चलती रही। आधुनिक युग में जैन ध्यान साधना की पद्धति में पुनः एक क्रान्तिकारी परिवर्तन आया है। इस क्रान्ति का मूलभूत कारण तो श्री सत्यनारायणजी गोयनका के द्वारा बौद्धों की प्राचीन विपश्यना साधना पद्धति को बर्मा से लेकर भारत में पुनर्स्थापित करना था। भगवान् बुद्ध की ध्यान साधना की विपश्यना पद्धति की जो एक जीवित परम्परा किसी प्रकार से बर्मा में बची रही थी, वह सत्यनारायणजी गोयनका के माध्यम से पुनः भारत में अपने जीवन्त रूप में लौटी। उस ध्यान की जीवन्त परम्परा के आधार पर भगवान् महावीर की ध्यान साधना की पद्धति क्या रही होगी इसका आभास हुआ। जैन समाज का यह भी सद्भाग्य है कि कुछ जैन मुनि एवं साध्वियां उनकी विपश्यना साधना-पद्धति से जुड़े। संयोग से मुनि श्री नथमलजी (युवाचार्य महाप्रज्ञ) जैसे प्राज्ञ साधक विपश्यना साधना से जुड़े और उन्होंने विपश्यना ध्यान पद्धति और हठयोग की प्राचीन ध्यान पद्धति को आधुनिक मनोविज्ञान एवं शरीर-विज्ञान के आधारों पर परखा और उन्हें जैन साधना परम्परा से आपूरित करके प्रेक्षाध्यान की जैन धारा को पुनर्जीवित

किया है। यह स्पष्ट है कि आज प्रेक्षाध्यान प्रक्रिया जैन ध्यान की एक वैज्ञानिक पद्धति के रूप में अपना अस्तित्व बना चुकी है। उसकी वैज्ञानिकता और उपयोगिता पर भी कोई प्रश्नचिह्न नहीं लगाया जा सकता है, किन्तु उसके विकास में सत्यनारायणजी गोयनका द्वारा भारत लायी गयी विपश्यना ध्यान की साधना पद्धति के योगदान को विस्मृत नहीं किया जा सकता। आज प्रेक्षाध्यान पद्धति निश्चित रूप से विपश्यना की ऋणी है। इसके गोयनकाजी का ऋण स्वीकार किए बिना हम अपनी प्रामाणिकता को सिद्ध नहीं कर सकेंगे। साथ ही इस नवीन पद्धति के विकास में युवाचार्य महाप्रज्ञजी का जो महत्वपूर्ण योगदान रहा है, उसे भी नहीं भुलाया जा सकता है। उन्होंने विपश्यना से बहुत कुछ लेकर भी उसे प्राचीन हठयोग की षट्चक्र भेदन आदि की अवधारणा से तथा आधुनिक मनोविज्ञान और शरीर विज्ञान से जिस प्रकार समन्वित और परिपुष्ट किया है, वह उनकी अपनी प्रतिभा का चमत्कार है। इस आलेख में विस्तार से न तो विपश्यना के सन्दर्भ में और न प्रेक्षाध्यान के सन्दर्भ में कुछ कह पाना संभव है, किन्तु यह सत्य है कि ध्यान साधना की इन पद्धतियों को अपना कर जैन साधक न केवल जैन ध्यान पद्धति के प्राचीन स्वरूप का कुछ आस्वाद करेंगे, अपितु तनावों से परिपूर्ण जीवन में आध्यात्मिक शान्ति और समता का आस्वाद भी ले सकेंगे।

सम्यक् जीवन में जीने के लिए आज विपश्यना और प्रेक्षाध्यान पद्धतियों का अभ्यास और अध्ययन आवश्यक है। हम युवाचार्य महाप्रज्ञ के इसलिए भी ऋणी हैं कि उन्होंने न केवल प्रेक्षाध्यान पद्धति का विकास किया है, अपितु उसके अभ्यास केन्द्रों की स्थापना भी की। साथ ही जीवन विज्ञान ग्रंथमाला के माध्यम से प्रेक्षाध्यान से संबंधित लगभग ४८ लघुपुस्तिकाएं लिखकर जैन ध्यान साहित्य को महत्वपूर्ण अवदान भी दिया है।

यह भी प्रसन्नता का विषय है कि विपश्यना और प्रेक्षा की ध्यान पद्धतियों से प्रेरणा पाकर आचार्य नानालालजी ने समीक्षण ध्यान विधि को प्रस्तुत किया है। इस संबंध में एक-दो प्रारंभिक पुस्तिकाएं भी निकली हैं, किन्तु प्रेक्षाध्यान विधि की तुलना में उनमें न तो प्रतिपाद्य विषय की स्पष्टता है और न वैज्ञानिक प्रस्तुतिकरण ही। क्रोध समीक्षण आदि एक-दो पुस्तकें और भी प्रकाश में आयी हैं किन्तु इस पद्धति को वैज्ञानिक और प्रायोगिक बनाने के लिए अभी उन्हें बहुत कुछ करना शेष रहता है।

वर्तमान युग और ध्यान

वर्तमान युग में जहां एक ओर योग और ध्यान संबंधी साधनाओं के प्रति आकर्षण बढ़ता है, वहीं दूसरी ओर योग और ध्यान के अध्ययन और शोध में भी विद्वानों की रुचि जागृत हुई है। आज भारत की अपेक्षा भी पाश्चात्य देशों में योग और ध्यान के प्रति विशेष

आकर्षण देखा जाता है। क्योंकि वे भौतिक आकांक्षाओं के कारण जीवन में जो तनाव आ गये हैं, उससे मुक्ति चाहते हैं। आज भारतीय योग और ध्यान की साधना पद्धतियों को अपने-अपने ढंग से पश्चिम के लोगों की रुचि के अनुकूल बनाकर विदेशों में निर्यात किया जा रहा है। योग और ध्यान की साधना में शारीरिक विकृतियों और मानसिक तनावों को समाप्त करने की जो शक्ति रही हुई है उसके कारण भोगवादी और मानसिक तनावों से संतुष्ट पश्चिमी देशों के लोग चैतन्य शान्ति का अनुभव करते हैं और यही कारण है कि उनका योग और ध्यान के प्रति आकर्षण बढ़ रहा है। इन साधना पद्धतियों का अभ्यास कराने के लिए भारत से परिपक्व एवं अपरिपक्व दोनों ही प्रकार के गुरु विदेशों की यात्रा कर रहे हैं। यद्यपि अपरिपक्व, भोगाकांक्षी तथाकथित गुरुओं के द्वारा ध्यान और योग साधना का पश्चिम में पहुंचना भारतीय ध्यान और योग परम्परा की मूल्यवत्ता एवं प्रतिष्ठा दोनों ही दृष्टि से खतरे से खाली नहीं है। आज पश्चिम में भावातीत ध्यान, साधना भक्ति वेदान्त, रामकृष्ण मिशन आदि के कारण भारतीय ध्यान एवं योग साधना के प्रति लोकप्रियता बढ़ी, वही रजनीश आदि के कारण उसे एक झटका भी लगा है। आज श्री चित्तमुनिजी, आचार्य सुशीलकुमारजी, डॉ. हुकमचन्द भारिल्ल आदि ने जैन ध्यान और साधनाविधि से पाश्चात्य देशों में बसे हुए जैनों को परिचित कराया है। तेरापंथ की कुछ जैन समणियों ने भी विदेशों में जाकर प्रेक्षाध्यान विधि से उन्हें परिचित कराया है। यद्यपि इनमें कौन कहां तक सफल हुआ है यह एक अलग प्रश्न है। क्योंकि सभी के अपने अपने दावे हैं। फिर भी इतना तो निश्चित है कि आज पूर्व और पश्चिम दोनों में ही ध्यान और योग साधना के प्रति रुचि जागृत हुई है। अतः आवश्यकता इस बात की है कि योग और ध्यान की जैन विधि सुयोग्य साधकों और अनुभवी लोगों के माध्यम से ही पूर्व-पश्चिम में विकसित हो, अन्यथा जिस प्रकार मध्ययुग में हठयोग और तंत्रसाधना से प्रभावित होकर भारतीय योग और ध्यान परम्परा विकृत हुई थी उसी प्रकार आज भी उसके विकृत होने का खतरा बना रहेगा और लोगों की उससे आस्था उठ जावेगी।

ध्यान एवं योग संबंधी शोध कार्य

इस युग में गवेषणात्मक दृष्टि से योग और ध्यान संबंधी साहित्य को लेकर पर्याप्त शोधकार्य हुआ है। जहां भारतीय योग साधना और पतञ्जलि के योगसूत्र पर पर्याप्त कार्य हुए हैं, वहीं जैनयोग की ओर भी विद्वानों का ध्यान आकर्षित हुआ है। ध्यानशतक, ध्यानस्तव, ज्ञानार्णव आदि ध्यान और योग संबंधी ग्रंथों की समालोचनात्मक भूमिका और हिन्दी अनुवाद के साथ प्रकाशन इस दिशा में महत्वपूर्ण प्रयत्न कहा जा सकता है। पुनः हरिभद्र के योग संबंधी ग्रंथों का स्वतंत्र रूप से तथा चतुष्टय के रूप में प्रकाशन इस कड़ी का एक अगला चरण है। पं. सुखलालजी का 'समदर्शी हरिभद्र', अर्हंतदास बंडबोध

दिगे का पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान से प्रकाशित 'जैन योग का आलोचनात्मक अध्ययन', मंगला सांड का भारतीय योग आदि गवेषणात्मक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण प्रकाशन कहे जा सकते हैं। अंग्रेजी भाषा में विलियम जेम्स का 'जैन योग', टाटिया की 'स्टडीज इन जैन फिलासफी', पद्मनाभ जैनी का 'जैन पाथ आफ प्यूरिफिकेशन' आदि भी इस क्षेत्र की महत्त्वपूर्ण कृतियां हैं। जैन ध्यान और योग को लेकर लिखी गई मुनिश्री नथमलजी (युवाचार्य महाप्रज्ञ) की 'जैन योग' 'चेतना का ऊर्ध्वारोहण', 'किसने कहा मन चंचल है', 'आभामण्डल' आदि तथा आचार्य तुलसी की प्रेक्षा-अनुप्रेक्षा आदि कृतियां इस दृष्टि से अत्यंत ही महत्त्वपूर्ण हैं। उनमें पाश्चात्य मनोविज्ञान और शरीर-विज्ञान का तथा भारतीय हठयोग आदि की पद्धतियों का एक सुव्यवस्थित समन्वय हुआ है। उन्होंने हठयोग की षट्चक्र की अवधारणा को भी अपने ढंग से समन्वित किया है। उनकी ये कृतियां जैन योग और ध्यान साधना के लिए मील के पत्थर के समान हैं।

इस प्रकार जैन परम्परा में ध्यान और योग के अध्ययन एवं तत्संबंधी ग्रंथों के प्रकाशन का जो क्रम चल रहा है उसी श्रृंखला की एक कड़ी साध्वीश्री प्रियदर्शनाजी का यह ग्रंथ - "जैन साधना पद्धति में ध्यान योग" है। साध्वीश्रीजी ने इस ग्रंथ में अत्यंत परिश्रम पूर्वक न केवल जैन ध्यानयोग की परम्परा का विवरण प्रस्तुत किया है अपितु एक दृष्टि से संपूर्ण जैन धर्म और साधना पद्धति को ही प्रस्तुत कर दिया है। यही कारण है कि यह ग्रंथ आकार में बहुत बड़ा हो गया है। उनके इस अध्ययन की व्यापकता और सर्वांगीणता सराहनीय है, फिर भी इसके बृहद् आकार में आनुषंगिक विषयों के विस्तृत विवरण के कारण कहीं-कहीं प्रतिपाद्य विषय गौण होता सा प्रतीत होता है।

अर्धमागधी आगमसाहित्य में समाधिमरण की अवधारणा

- प्रो. सागरमल जैन

अर्धमागधी आगमसाहित्य में समाधिमरण की अवधारणा का अति विस्तृत विवेचन उपलब्ध है। पौराणिक एवं पाश्चात्य विद्वानों ने अर्धमागधी आगमसाहित्य के ग्रन्थों का जो कालक्रम निर्धारित किया है, उसके आधार पर समाधिमरण से सम्बन्धित आगमों को हम निम्न क्रम में रख सकते हैं। अति प्राचीन स्तर के आगम ग्रन्थों में आचारांग एवं उत्तराध्ययन ये दो ऐसे ग्रन्थ हैं जिनमें समाधिमरण के सम्बन्ध में विस्तृत विवरण मिलता है। आचारांग के प्रथम श्रुतस्कंध का 'विमोक्ष' नामक अष्टम अध्यायन विस्तार से समाधिमरण के तीन प्रकारों-- भक्त प्रत्याख्यान, इंगिनिमरण एवं प्रायोपगमन की विस्तृत चर्चा करता है। इसी प्रकार उत्तराध्ययनसूत्र का पंचम "अकाम-मरणीय" अध्यायन भी अकाममरण और सकाम मरण (समाधिमरण) की चर्चा से सम्बन्धित है। इसके साथ ही किंचित परवर्ती माने गये उत्तराध्ययन के 36वें अध्यायन में भी समाधिमरण की विस्तृत चर्चा है। इसमें समयावधि की दृष्टि से उत्कृष्ट, मध्यम एवं जघन्य ऐसे तीन प्रकार के समाधिमरणों का उल्लेख है। प्राचीन स्तर के अर्धमागधी आगमों में दशवैकालिक का भी महत्त्वपूर्ण स्थान है। इसके आठवें 'आचार-प्रणिधि' नामक अध्यायन में समाधिमरण के पूर्व की साधना का उल्लेख हुआ है। इसमें कषायों को अल्प करने या उन पर विजय प्राप्त करने का निर्देश है।

इसके अतिरिक्त कालक्रम की दृष्टि से किंचित परवर्ती माने गये अर्धमागधी आगमों में तृतीय अंग आगम स्थानांगसूत्र के द्वितीय अध्यायन के चतुर्थ उद्देशक में मरण के विविध प्रकारों की चर्चा के प्रसंग में समाधिमरण के विविध रूपों के उल्लेख उपलब्ध होते हैं। चतुर्थ अंग आगम समवायांग में मरण के सत्रह भेदों की चर्चा है। ज्ञातव्य है कि नाम एवं क्रम के कुछ अंतरों को छोड़कर मरण के इन सत्रह भेदों की चर्चा भगवतीआराधना में भी मिलती है। इसमें बालमरण, बाल-पण्डितमरण, पण्डितमरण, भक्त-प्रत्याख्यान, इंगिनिमरण, प्रायोपगमन आदि की चर्चा है। इसी प्रकार पाचवें अंग-आगम भगवतीसूत्र में अम्बड संन्यासी एवं उसके शिष्यों के द्वारा गंगा की बालू पर अदत्त जल का सेवन नहीं करते हुए समाधिमरण करने का उल्लेख पाया जाता है। सातवें अंग उपासकदशासूत्र में भगवान महावीर के 10 गृहस्थ उपासकों के द्वारा लिये गए समाधिमरण और उसमें उपस्थित विद्वानों की विस्तृत चर्चा मिलती है। आठवें अंग आगम अन्तगद्दशा एवं नवें अंग आगम अनुत्तरौपपातिक दशा में भी अनेक श्रमणों एवं श्रमणियों के द्वारा लिए गये समाधिमरण का उल्लेख मिलता है। अन्तकृद्दशा की विशेषता यह है कि उसमें समाधिमरण लेने वालों की समाधिमरण के पूर्व की शारीरिक स्थिति कैसी हो गई थी, इसका सुन्दर विवरण उपलब्ध है।

उपांग-साहित्य में मात्र औपपातिकसूत्र और रायपसेनीय में समाधिमरण ग्रहण करने वाले कुछ साधकों का उल्लेख है, किन्तु इनमें समाधिमरण की अवधारणा के सम्बन्ध में कोई विवेचन उपलब्ध नहीं है। इस सम्बन्ध में जो स्वतन्त्र ग्रन्थ उपलब्ध होते हैं, उन्हें अर्धभागधी आगमसाहित्य में प्रकीर्णक वर्ग के अन्तर्गत रखा गया है। प्रकीर्णकों में आतुरप्रत्याख्यान, महाप्रत्याख्यान, भक्तपरिज्ञा, संस्तारक, आराधना-पताका, मरणविभक्ति, मरणसमाधि एवं मरणविशुद्धि प्रमुख हैं। वर्तमान में जो मरणविभक्ति के नाम से प्रकीर्णक उपलब्ध हो रहा है उसमें मरणविभक्ति के अतिरिक्त मरणविशुद्धि, मरणसमाधि, संलेखनासूत्र, भक्तपरिज्ञा, आतुरप्रत्याख्यान, महाप्रत्याख्यान, आराधना प्रकीर्णक इन आठ ग्रन्थों को समाहित कर लिया गया है। यद्यपि भक्तपरिज्ञा, आतुरप्रत्याख्यान, महाप्रत्याख्यान, संलेखनाश्रुत, संस्तारक, आराधनापताका आदि ग्रन्थ स्वतन्त्र रूप से भी उपलब्ध हैं। इसके अतिरिक्त तन्दुलवैचारिक नामक प्रकीर्णक के अन्त में भी समाधिमरण का विस्तृत विवरण पाया जाता है। यद्यपि श्वेताम्बर परम्परा में समाधिमरण का विस्तृत विवरण एवं उपदेश देने वाले संस्कृत एवं प्राकृत के परवर्ती आचार्यों के अनेक ग्रन्थ हैं, किन्तु प्रस्तुत विवेचन में हम अपने को मात्र अर्धभागधी आगमसाहित्य तक ही सीमित रखेंगे। शौरसेनी आगमसाहित्य में समाधिमरण का विवरण प्रस्तुत करने वाले आगम तुल्य जो ग्रन्थ हैं, उनमें मूलाचार एवं भगवतीआराधना नामक यापनीय परम्परा के दो ग्रन्थ प्रसिद्ध हैं। इसमें मूलाचार समाधिमरण का विवरण प्रस्तुत करने के साथ ही मुनि आचार के अन्य पक्षों पर भी प्रकाश डालता है। यद्यपि इसके संक्षिप्त प्रत्याख्यान एवं बृहत् प्रत्याख्यान नामक अध्यायों में आतुरमहाप्रत्याख्यान और महाप्रत्याख्यान नामक प्रकीर्णकों की शताधिक गाथाएँ यथावत अपने शौरसेनी रूपान्तर में मिलती हैं। इसी प्रकार इसमें आवश्यकनिर्युक्ति की भी शताधिक गाथाएँ आवश्यक निर्युक्ति के नाम से ही मिलती हैं।

जहाँ तक भगवतीआराधना का प्रश्न है उसमें भी अर्धभागधी आगमसाहित्य की विशेष रूप से समाधिमरण से सम्बन्धित प्रकीर्णकों की शताधिक गाथाएँ उपलब्ध होती हैं। ज्ञातव्य है कि भगवतीआराधना का मूल प्रतिपाद्य समाधिमरण है और यह ग्रन्थ अनेक दृष्टियों से मरणसमाधि, अपरनाम मरणविभक्ति और आराधना पताका से तुलनीय है। कुछ विद्वानों की मान्यता है कि आराधनापताका नामक ग्रन्थ श्वेताम्बर आचार्य वीरभद्र के द्वारा भगवतीआराधना का अनुकरण करके लिखा गया है। यद्यपि यह अभी शोध का विषय है। इसमें भक्तपरिज्ञा, पिण्डनिर्युक्ति और आवश्यकनिर्युक्ति की भी सैकड़ों गाथाएँ उद्धृत की गयी हैं। इसमें कुल 1110 गाथाएँ हैं।

इस प्रकार मरणविभक्ति और संस्तारक में समाधिमरण ग्रहण करने वालों के जो विशिष्ट उल्लेख उपलब्ध होते हैं वे ही उल्लेख भगवतीआराधना में भी बहुत कुछ समान रूप से मिलते हैं। आज मरणविभक्ति आदि प्रकीर्णकों का भगवतीआराधना से तुलनात्मक अध्ययन बहुत ही अपेक्षित है क्योंकि यह ग्रन्थ यापनीय परम्परा में निर्मित हुआ है और यापनीय अर्धभागधी आगमों को मान्य करते थे। अतः दोनों परम्पराओं में काफी कुछ आदान-प्रदान हुआ है। इसी प्रकार यापनीय परम्परा के ग्रन्थ बृहत्-कथाकोश में भी मरणविभक्ति भक्तपरिज्ञा, संस्तारक आदि की

अनेक कथाएँ संकलित हैं। मेरी दृष्टि में बृहत्-कथाकोश की कथाओं का मूल स्रोत चाहे ये प्रकीर्णक ग्रन्थ रहे हों, किन्तु ग्रन्थकार ने भगवतीआराधना की कथाओं का अनुकरण करके ही यह ग्रन्थ लिखा है, वह प्रकीर्णकों से परिचित नहीं रहा है। आज आवश्यकता है कि दोनों परम्पराओं के समाधिमरण सम्बन्धी इन ग्रन्थों एवं उनकी कथाओं का तुलनात्मक विवरण प्रस्तुत किया जाय।

यद्यपि मैं इस आलेख में इस तुलनात्मक अध्ययन को प्रस्तुत करना चाहता था, किन्तु समय सीमा को ध्यान में रखकर वर्तमान में यह सम्भव नहीं हो सका है।

समाधिमरण की यह अवधारणा अति प्राचीन है। भारतीय संस्कृति की श्रमण और ब्राह्मण-- इन दोनों परम्पराओं में इसके उल्लेख मिलते हैं, जिसकी विस्तृत चर्चा हमने 'समाधिमरण (मृत्युवरण) : एक तुलनात्मक तथा समीक्षात्मक अध्ययन' नामक लेख में, जो सम्बोधि, वर्ष (1977-78) अंक 6 नं. 3-4 में पृ. 39-49 पर प्रकाशित है, की है। वस्तुतः यहाँ हमारा विवेच्य मात्र अर्धमागधी आगम है। इनमें आचारांग प्राचीन एवं प्रथम अंग आगम है। आचारांग के अनुसार समत्व या वीतरागता की साधना ही धर्म का मूलभूत प्रयोजन है। आचारांगकार की दृष्टि में समत्व या वीतरागता की उपलब्धि में बाधक तत्त्व ममत्व है और इस ममत्व का धनीभूत केन्द्र व्यक्ति का अपना शरीर होता है। अतः आचारांगकार निर्ममत्व की साधना हेतु देह के प्रति निर्ममत्व की साधना को आवश्यक मानता है। समाधिमरण देह के प्रति निर्ममत्व की साधना का ही प्रयास है। यह न तो आत्महत्या है और न तो जीवन से भागने का प्रयत्न। अपितु जीवन के द्वार पर दस्तक दे रही अपरिहार्य बनी मृत्यु का स्वागत है। वह देह के पोषण के प्रयत्नों का त्याग करके देहातीत होकर जीने की एक कला है।

आचारांगसूत्र और समाधिमरण

आचारांगसूत्र में जिन परिस्थितियों में समाधिमरण की अनुशंसा की गयी है वे विशेष रूप से विचारणीय हैं। सर्वप्रथम तो आचारांग में समाधिमरण का उल्लेख उसके प्रथम श्रुतस्कन्ध के विमोक्ष नामक अष्टम अध्याय में हुआ है। यह अध्याय विशेष रूप से शरीर, आहार, वस्त्र आदि के प्रति निर्ममत्व एवं उनके विसर्जन की चर्चा करता है। इसमें वस्त्र एवं आहार के विसर्जन की प्रक्रिया को समझाते हुए ही अन्त में देह-विसर्जन की साधना का उल्लेख हुआ है। आचारांगसूत्र समाधिमरण किन् स्थितियों में लिया जा सकता है इसकी संक्षिप्त किन्तु महत्त्वपूर्ण विवेचना प्रस्तुत करता है। इसमें समाधिमरण स्वीकार करने की तीन स्थितियों का उल्लेख है --

1. जब शरीर इतना अशक्त व ग्लान हो गया हो कि व्यक्ति संयम के नियमों का पालन करने में असमर्थ हो और मुनि के आचार नियमों को भंग करके ही जीवन बचाना सम्भव हो, तो ऐसी स्थिति में यह कहा गया है कि आचार नियमों के उल्लंघन की अपेक्षा देह का विसर्जन ही नैतिक है। आचार मर्यादा का उल्लंघन करके जीवन का रक्षण वरेण्य नहीं है। उसमें कहा गया है कि जब साधक यह जाने कि वह निर्बल और मरणान्तिक रोग से आक्रान्त हो गया है और

नियम या मर्यादा पूर्वक आहार आदि प्राप्त करने में असमर्थ है, तो वह आहारादि का परित्याग कर शरीर के पोषण के प्रयत्नों को बन्द कर दे। इससे देह के प्रति निर्ममत्व की साधना पूर्ण होती है।

2. जब व्यक्ति को लगे कि अपनी वृद्धावस्था अथवा असाध्य रोग के कारण उसका जीवन पूर्णतः दूसरों पर निर्भर हो गया है और वह संघ के लिए भार स्वरूप बन गया है तथा अपनी साधना करने में भी असमर्थ हो गया है तो ऐसी स्थिति में वह आहारादि का त्याग करके देह के प्रति निर्ममत्व की साधना करते हुए देह का विसर्जन कर सकता है।

3. इसी प्रकार साधक को जब यह लगे कि सदाचार या ब्रह्मचर्य का खण्डन किए बना जीवन जीना सम्भव नहीं है अर्थात् चरित्र-नाश और जीवित रहने में एक ही विकल्प सम्भव है तो वह तत्काल भी श्वास निरोध आदि करके अपना देहपात कर सकता है। ज्ञातव्य है कि यहाँ मूल-पाठ में शीत-स्पर्श है, जिसका टीकाकारों ने ब्रह्मचर्य के भंग का अवसर ऐसा अर्थ किया है, किन्तु मूल-पाठ और पूर्वप्रसंग को देखते इसका यह अर्थ भी हो सकता है कि जिस मुनि ने अचेलता को स्वीकार कर लिया है वह शीत सहन न कर पाने की स्थिति में चाहे देह त्याग कर दे, किन्तु नियम भंग नहीं करे।

इससे यह फलित होता है कि आचारांगकार न तो जीवन को अस्वीकार ही करता और न वह जीवन से भागने की बात कहता है। वह तो मात्र यह प्रतिपादित करता है कि जब मृत्यु जीवन के द्वार पर दस्तक दे रही हो और आचार-नियम अर्थात् ली गई प्रतिज्ञा भंग किए बिना जीवन जीना सम्भव नहीं है, तो ऐसी स्थिति में मृत्यु का वरण करना ही उचित है। इसी प्रकार दूसरों पर भार बनकर जीना अथवा जब शरीर व्यक्तगत साधना अथवा समाज सेवा दोनों के लिए सार्थक नहीं रह गया हो, ऐसी स्थिति में भी येनकेन प्रकारेण शरीर को बचाने के प्रयत्न की अपेक्षा मृत्यु का वरण ही उचित है। जब साधक को यह लगे कि सदाचार और मुनि आचार के नियमों का भंग करके आहार एवं औषधि के द्वारा तथा शीतनिवारण के लिए वस्त्र अथवा अग्नि आदि के उपयोग द्वारा ही शरीर को बचाया जा सकता है अथवा ब्रह्मचर्य को भंग करके ही जीवित रहा जा सकता है तो उसके लिए मृत्यु का वरण ही उचित है।

आचारांगकार ने नैतिक मूल्यों के संरक्षण और जीवन के संरक्षण में उपस्थित विकल्प की स्थिति में मृत्यु के वरण को ही वरेण्य माना है। ऐसी स्थिति में वह स्पष्ट निर्देश देता है कि ऐसा व्यक्ति मृत्यु का वरण कर ले। यह उसके लिए कालमृत्यु ही है क्योंकि इसके द्वारा वह संसार का अन्त करने वाला होता है। वह स्पष्ट रूप से कहता है कि यह मरण विमोह आयतन, हितकर, सुखकर, कालोचित, निःश्रेयस्कर और भविष्य के लिए कल्याणकारी होता है। आचारांगसूत्र में समाधि मरण के तीन रूपों का उल्लेख हुआ :-- भक्त प्रत्याख्यान, इंगनिमरण, प्रायोपामन। उसमें समाधिमरण के लिए दो तथ्य आवश्यक माने गए हैं -- कषायों का कृशीकरण और दूसरा शरीर का कृशीकरण। इसमें भी मुख्य उद्देश्य तो कषायों का कृशीकरण है। भक्त परिज्ञा में प्रथम तो मुनि के लिए कल्प का विचार किया गया है और उसके अन्त में

यह बताया गया है कि अकल्प का सेवन करने की अपेक्षा शरीर का विसर्जन कर देना ही उचित है। उसमें कहा गया है कि जब भिक्षु को यह अनुभव हो कि मेरा शरीर अब इतना दुर्बल अथवा रोग से अक्रान्त हो गया है कि गृहस्थों के घर भिक्षा हेतु परिभ्रमण करना मेरे लिए सम्भव नहीं है, साथ ही मुझे गृहस्थ के द्वारा मेरे सम्मुख लाया गया आहार आदि ग्रहण करना योग्य नहीं है। ऐसी स्थिति में एकाकी साधना करने वाले जिनकल्पी मुनि के लिए आहार का त्याग करके संथारा ग्रहण करने का विधान है। यद्यपि आचारांग के अनुसार संघस्थ मुनि बीमारी अथवा वृद्धावस्था जन्म शारीरिक दुर्बलता की स्थिति में आहारादि से एक दूसरे का उपकार अर्थात् सेवा कर सकते हैं, किन्तु इस सम्बन्ध में भी उसमें चार विकल्पों का उल्लेख हुआ है--

1. कोई भिक्षु यह प्रतिज्ञा करता है कि मैं [साधार्मिक भिक्षुओं के लिए] आहार आदि लाऊंगा और [उनके द्वारा] लाया हुआ स्वीकार भी करूंगा।

अथवा

2. कोई यह प्रतिज्ञा करता है कि मैं [दूसरों के लिए] आहार आदि नहीं लाऊंगा, किन्तु [उनके द्वारा] लाया हुआ स्वीकार करूंगा।

अथवा

3. कोई भिक्षु यह प्रतिज्ञा करता है कि मैं दूसरों के लिए आहार आदि लाऊंगा किन्तु उनके द्वारा लाया स्वीकार नहीं करूंगा।

अथवा

4. कोई भिक्षु यह प्रतिज्ञा करता है कि मैं न तो (दूसरों के लिए) आहार आदि लाऊंगा और न (उनके द्वारा) लाया हुआ स्वीकार करूंगा।

उपरोक्त चार विकल्पों में से जो भिक्षु प्रथम दो विकल्प स्वीकार करता है, वह आहारादि के लिए संघस्थ मुनियों की सेवा ले सकता है, किन्तु जो अंतिम दो विकल्प स्वीकार करता है, उसके लिए आहारादि के लिये दूसरों की सेवा लेने में प्रतिज्ञा भंग का दोष आता है। ऐसी स्थिति आचारांगकार का मन्तव्य यही है कि प्रतिज्ञा भंग नहीं करना चाहिये भले ही भक्त-प्रत्याख्यान कर देह त्याग करना पड़े। आचारांगकार के अनुसार ऐसी स्थिति में जब भिक्षु को यह संकल्प उत्पन्न हो कि -- मैं इस समय संयम साधना के लिए इस शरीर को वहन करने में ग्लान (असमर्थ) हो रहा हूँ, तब वह क्रमशः आहार का संवर्तन (संक्षेप) करे। आहार का संक्षेप कर कषायों (क्रोध, मान, माया और लोभ) को कृश करे। कषायों को कृश कर समाधिपूर्ण भाव वाला शरीर और कषाय दोनों ओर से कृश बना हुआ वह भिक्षु फल का वस्थित हो समाधि मरण के लिए उत्थित (प्रयत्नशील) होकर शरीर का उत्सर्ग करे।

संथारा ग्रहण करने का निश्चय कर लेने के पश्चात् वह किस प्रकार समाधिमरण ग्रहण

करे इसका उल्लेख करते हुए आचारांगकार कहता है कि ऐसा भिक्षु ग्राम, नगर, कर्वट, आश्रम आदि में जाकर घास की याचना करे और उसे प्राप्त कर गांव के बाहर एकांत में जाकर जीव-जन्तु, बीज, हरित आदि से रहित स्थान को देखकर घास का बिस्तर तैयार करे और उस पर स्थित होकर इत्वरिक अनशन अथवा प्रायोपगमन स्वीकार करे।

ज्ञातव्य है कि आचारांगकार भक्त प्रत्याख्यान, इंगिमरण और प्रायोपगमन ऐसे तीन प्रकार के समाधिमरण का उल्लेख करता है। इसमें भक्त प्रत्याख्यान में मात्र आहारादि का त्याग किया जाता है, किन्तु शारीरिक हलन-चलन और गमनागमन की कोई मर्यादा निश्चित नहीं की जाती है। इंगितमरण में आहार त्याग के साथ ही साथ शारीरिक हलन-चलन और गमनागमन का एक क्षेत्र निश्चित कर लिया जाता है और उसके बाहर गमनागमन का त्याग कर दिया जाता है। प्रायोपगमन या पादोपगमन में आहार आदि के त्याग के साथ-साथ शारीरिक क्रियाओं का निरोध करते हुए मृत्युपर्यन्त निश्चल रूप से लकड़ी के तख्ते के समान स्थिर पड़े रहना पड़ता है। इसीलिए आचारांगकार ने प्रायोपगमन संथारे के प्रत्याख्यान में स्पष्ट रूप से यह लिखा है कि काय, योग एवं ईर्या का प्रत्याख्यान करे। वस्तुतः यह तीनों संथारे की क्रमिक अवस्थाएँ हैं।

आचारांग में समाधिमरण का विवरण

क्रम से निर्ममत्व की स्थिति को प्राप्त धैर्यवान, आत्मनिग्रही और गतिमान साधक अद्वितीय इस समाधिमरण की साधना हेतु तत्पर हो। वे धर्म के पारगामी ज्ञान पूर्वक अनुक्रम से दोनों ही प्रकार के आरम्भ का (हिंसा का) परित्याग कर दें। वे कषायों को कृश करते हुए आहार की मात्रा को भी अल्प करें और परिषहों को सहन करें और इस प्रकार करते हुए जब अति ग्लान हो जाय तो आहार का भी त्याग कर दें। ऐसी स्थिति में न तो जीवन की आकांक्षा रखें और न मरण की, अपितु जीवन एवं मरण दोनों में ही आसक्त न हो। वे निर्जरापेक्षी मध्यस्थ समाधि भाव का अनुपालन करे तथा राग-द्वेष आदि आन्तरिक परिग्रह तथा शरीर आदि बाह्य परिग्रह का त्याग कर शुद्ध अध्यात्म का अन्वेषण करे।

यदि उन्हें अपने साधनाकाल में किसी भी रूप में आयुष्य के विनाश का कोई कारण जान पड़े तो वह शीघ्र ही समाधि मरण का प्रयत्न करें। ग्राम अथवा अरण्य में जहाँ हरित एवं प्राणियों आदि का अभाव (अल्पता) हो, उस स्थण्डिल भूमि पर तृण का बिछौना तैयार करे और वहाँ निराहार होकर शान्त भाव से लेट जाय। मनुष्य कृत अथवा अन्य किसी प्रकार के परीषह से आक्रान्त होने पर भी मर्यादा का उल्लंघन न करे तथा परीषहों को समभाव पूर्वक सहन करे। आकाश में विचरण करने वाले पक्षी एवं रेंगने वाले प्राणी यदि उसके शरीर का मांस नोचें, रक्त पीये तो भी न उन्हें मारे और न उनका निवारण करें और न उस स्थान से उठकर अन्यत्र जाय, अपितु यह विचार करे कि ये प्राणी मेरे शरीर का ही नाश कर रहे हैं, मेरे ज्ञानादि गुणों का नहीं। वह आश्रवों से रहित एवं आत्म तुष्ट हो उस पीड़ा को समभाव से सहन करे। ग्रन्थियों अर्थात् अन्तर-बाह्य परिग्रह से रहित मृत्यु के अवसर के पारंगत भिक्षु के

इस समाधिमरण को संयमी जीवन के लिए अधिक श्रेष्ठ माना गया है।

भक्तप्रत्याख्यान के अतिरिक्त समाधिमरण का एक रूप इंगिनिमरण बताया है। इसमें साधक दूसरों से सेवा लेने का त्रिविध रूप से परित्याग कर देता है, ऐसा भिक्षु हरियाली पर नहीं सोए अपितु जीवों से रहित स्थण्डिल भूमि पर ही सोए। वह अनाहार भिक्षु देह आदि के प्रति ममत्व का विसर्जन करके परीषहों से आक्रान्त होने पर उन्हें समभाव से सहन करे। इन्द्रियों के ग्लान हो जाने पर वह मुनि समितिपूर्वक ही अपने हाथ-पैर आदि का संकोच-विस्तार करे, क्योंकि जो अचल एवं समभाव से युक्त होता है वही निन्दित नहीं होता। वह जब लेटे-लेटे या बैठे-बैठे थक जाय तो शरीर के संधारण के लिए थोड़ा गमनागमन करे या हाथ-पैरों को हिलाएँ, किन्तु यदि सम्भव हो तो अचेतनवत् निश्चेष्ट हो जाये। इस अद्वितीय मरण पर आसीन व्यक्ति उन काष्ठ-स्तम्भों या फलक आदि का सहारा न ले, जो दीमक आदि से युक्त हो अथवा वर्जित हो। जो साधक इंगिनिमरण से भी उच्चतर प्रायोपगमन या पादोपगमन संस्थारे को ग्रहण करता है वह सभी अंगों का निरोध करके अपने स्थान से चलित नहीं होता है-- यह प्रायोपगमन, भक्त प्रत्याख्यान और इंगिनिमरण की अपेक्षा उत्तम स्थान है। ऐसा भिक्षु जीव-जन्तु से रहित भूमि को देखकर वहाँ निश्चेष्ट होकर रहे और वहाँ अपने शरीर को स्थापित कर यह विचार करे कि जब शरीर ही मेरा नहीं है तो फिर मुझे परीषह या पीड़ा कैसी? वह संसार के सभी भोगों को नश्वर जानकर, उनमें आसक्त न हो। देवों द्वारा निमंत्रित होने पर वह देव माया पर श्रद्धा न करे। सभी भोगों में अमूर्च्छित होकर मृत्यु के अवसर का पारगामी वह तितिक्षा को ही परम हितकर जानकर निर्ममत्वभाव को ही अन्यतम साध्य माने।

उत्तराध्ययन और समाधिमरण

इस प्रकार हम देखते हैं कि आचारांग में समाधिमरण के प्रकार, उसकी प्रक्रिया तथा उसे किन स्थितियों में ग्रहण किया जा सकता है, इसकी विस्तृत चर्चा है। आचारांग के पश्चात् प्राचीन स्तर के अर्धमागधी आगम उत्तराध्ययन में भी समाधिमरण का विवरण उसके 5वें एवं 36वें अध्याय में उपलब्ध होता है। उसके पाँचवें अध्याय में सर्वप्रथम मृत्यु के दो रूपों की चर्चा है -- 1. अकाम मरण और, 2. सकाममरण। उसमें यह बताया गया है कि अकाममरण बार-बार होता है जबकि सकाममरण एक ही बार होता है। ज्ञातव्य है कि यहाँ अकाममरण का तात्पर्य कामना से रहित मरण न होकर आत्म पुरुषार्थ से रहित निरुद्देश्य या निष्प्रयोजन पूर्वक मरण से है। इसी प्रकार सकाममरण का तात्पर्य पुरुषार्थ या साधना से युक्त सोद्देश्यमरण या मुक्ति के प्रयोजन पूर्वक मरण से है। उत्तराध्ययन के अनुसार अकाममरण करने वाला व्यक्ति संसार में आसक्त होकर आनाचार का सेवन करता है और काम-भोगों के पीछे भागता है, ऐसा व्यक्ति मृत्यु के समय भय से संत्रस्त होता है और हारने वाले धूर्त जुआरी की तरह शोक करता अकाममरण को अर्थात् निष्प्रयोजन मरण को प्राप्त होता है, जबकि सकाममरण पण्डितों को प्राप्त होता है। संयत जितेन्द्रिय पुण्यात्माओं को ही। अति प्रसन्न अर्थात् निराकुल एवं आघात रहित यह मरण प्राप्त होता है। ऐसा मरण न तो सभी भिक्षुओं को मिलता है, न सभी गृहस्थों को। जो भिक्षु हिंसा आदि से निवृत्त होकर संयम का अभ्यास करता है, उन्हें ही ऐसा

सकाममरण प्राप्त होता है।

उत्तराध्ययन यह स्पष्ट निर्देश देता है कि मेधावी साधक बालमरण व पण्डितमरण की तुलना करके सकाम मरण को स्वीकार करे और मरण काल में क्षमा और दया धर्म से युक्त हो, तथाभूत आत्मभाव में मरण करे। जब मरण काल उपस्थित हो तो जिस श्रद्धा से प्रव्रज्या स्वीकार की थी, उसी श्रद्धा व शान्त भाव से शरीर के भेद अर्थात् देहपात की प्रतीक्षा करे। मृत्यु का समय आने पर तीन प्रकार के एक से एक श्रेष्ठ समाधिमरणों से शरीर का परित्याग करे।

इस प्रकार हम देखते हैं कि उत्तराध्ययन के इस पंचम अध्याय में भी उन्हीं तीनों प्रकार के समाधिमरणों का उल्लेख है जिसकी चर्चा हम आचारांग के सम्बन्ध में कर चुके हैं। फिर भी ज्ञातव्य है कि उत्तराध्ययन का यह विवरण समाधिमरण के हेतु प्रेरणा प्रदान करने की ही दृष्टि से है। दूसरे शब्दों में यह मात्र उपदेशात्मक विवरण है। इसमें किन परिस्थितियों में समाधिमरण ग्रहण किया जाय इसकी चर्चा नहीं है। मात्र यत्र-तत्र समाधिमरण के कुछ संकेत ही हैं। उत्तराध्ययन में समाधि मरण या संलेखना के काल आदि के सम्बन्ध में और उसकी प्रक्रिया के सम्बन्ध में जो उल्लेख है वह उसके 36वें अध्याय में इस प्रकार से वर्णित है --

अनेक वर्षों तक श्रामण्य का पालन करके मुनि इस अनुक्रम से आत्मा की संलेखना -- विकारों को क्षीण करें। उत्कृष्ट संलेखना बारह वर्ष की होती है। मध्यम एक वर्ष की और जघन्य छह मास की है। प्रथम चार वर्षों में दुग्ध आदि विकृतियों का निर्यूहण -- त्याग करें, दूसरे चार वर्षों में विविध प्रकार का तप करें, फिर दो वर्षों तक एकान्तर तप (एक दिन उपवास और फिर एक दिन भोजन) करें। भोजन के दिन आचाम्ल करें। उसके बाद ग्यारहवें वर्ष में पहले छह महीनों तक कोई भी अतिविकृष्ट (तेला, चौला आदि) तप न करें। उसके बाद छह महीने तक विकृष्ट तप करे। इस पूरे वर्ष में परिमित (पारणों के दिन) आचाम्ल करे। बारहवें वर्ष में एक वर्ष तक कोटि सहित अर्थात् निरन्तर, आचाम्ल करके फिर मुनि पक्ष या एक मास का आहार से तप अर्थात् अनशन करे। कादर्पी, अभियोगी, किल्बिषिकी, मोही और आसुरी भावनाएँ दुर्गति देने वाली हैं। ये मृत्यु के समय में संयम की विराधना करती हैं। जो मरते समय मिथ्या-दर्शन में अनुरक्त हैं, निदान से युक्त हैं और हिंसक हैं, उन्हें बोधि बहुत दुर्लभ है। जो सम्यग् दर्शन में अनुरक्त हैं, निदान से रहित हैं, शुक्ल लेश्या में अवगाढ- प्रविष्ट हैं, उन्हें बोधि सुलभ है। जो जिन वचन में अनुरक्त हैं, जिन वचनों का भाव पूर्वक आचरण करते हैं, वे निर्मल और रागादि से असंक्लिष्ट होकर परीत संसारी (परिमित संसार वाले) होते हैं।

अन्य अंगआगम और समाधिमरण

आचारांग व उत्तराध्ययन के पश्चात् अर्धमागधी आगमों में स्थानांग और समवायांग में समाधिमरण से सम्बन्धित मात्र कुछ संकेत हैं। स्थानांगसूत्र (2/4) में दो-दो के वर्गों में विभाजित करते हुए श्रमण भगवान महावीर द्वारा अनुमोदित और अननुमोदित मरणों का उल्लेख

है। महावीर ने श्रमण निर्गन्थों के लिए दो प्रकार मरण कभी भी वर्णित, कीर्तित, उक्त, प्रशंसित और अनुमोदित नहीं किये हैं -- वलन्मरण और वशार्तमरण। इसी प्रकार निदानमरण और तद्भवमरण, गिरिपतन और तरुपतनमरण, जल-प्रवेशमरण और अग्निप्रवेशमरण, विषभक्षणमरण और शास्त्रावपातन मरण। ये दो-दो प्रकार के मरण श्रमण निर्गन्थों के लिए श्रमण भगवान महावीर ने कभी भी वर्णित, कीर्तित, उक्त, प्रशंसित और अनुमोदित नहीं किये हैं। किन्तु कारण-विशेष होने पर वैहायस (वैखानस) और गिद्धपृष्ठ ये दो मरण अनुमोदित हैं। श्रमण महावीर ने श्रमण निर्गन्थों के लिए दो प्रकार के मरण सदा वर्णित, कीर्तित, उक्त, प्रशंसित और अनुमोदित किये हैं -- प्रायोपगमनमरण और भक्त प्रत्याख्यानमरण। प्रायोपगमनमरण दो प्रकार का कहा गया है -- निर्हारिम और अनिर्हारिम। प्रायोपगमन मरण नियमतः अप्रतिकर्म होता है। भक्तप्रत्याख्यानमरण दो प्रकार का कहा गया है-- निर्हारिम और अनिर्हारिम। भक्त प्रत्याख्यानमरण नियमतः सप्रतिकर्म होता है।

समवायांग (समवाय 17) में मरण के निम्न सत्रह प्रकारों का उल्लेख हुआ है --

1. आवीचिमरण, 2. अवधिमरण, 3. आत्यान्तिकमरण, 4. वलन्मरण, 5. वशार्तमरण, 6. अन्तःशल्यमरण, 7. तद्भव मरण, 8. बालमरण, 9. पण्डित मरण, 10. बालपण्डित मरण, 11. हृद्मस्थमरण, 12. केवलिमरण, 13. वैखानसमरण, 14. गृद्धपृष्ठमरण, 15. भक्त प्रत्याख्यानमरण, 16. इग्निमरण एवं 17. पादोपगमनमरण।

इनमें से बालपण्डितमरण, पण्डितमरण, हृद्मस्थमरण, केवलीमरण, भक्त प्रत्याख्यान, इग्निमरण व प्रायोपगमन का संबन्ध समाधिमरण से है। किन्हीं स्थितियों में वैखानसमरण, गृद्धस्पृष्टमरण को जैन परम्परा में भी उचित माना गया है। किन्तु ये दोनों अपवादािक स्थिति में ही उचित माने गये हैं जैसे जब ब्रह्मचर्य के पालन और जीवन के संरक्षण में एक ही विकल्प हो, तो ऐसी स्थिति में वैखानसमरण द्वारा शरीर त्याग को उचित माना गया है। ज्ञातव्य है कि भगवतीआराधना में भी समवायांग के समान ही मरण के उपर्युक्त सत्रह प्रकारों का उल्लेख है। यद्यपि कहीं-कहीं उनके नाम एवं क्रम में अन्तर दिखायी देता है। उदाहरणार्थ समवायांग में हृद्मस्थमरण का उल्लेख है जबकि भगवतीआराधना में इसका उल्लेख नहीं है। इसके स्थान पर उसमें ओसन्नमरण का उल्लेख है। समवायांग के पश्चात् ज्ञाताधर्मकथा, उपासकदशा, अन्तकृतदशा अनुत्तरौपपातिकदशा तथा विपाकदशा आदि अंग आगमों में जीवन के अंतिम काल में संलेखना द्वारा शरीर त्यागने वाले साधकों की कथाएँ हैं। इसमें भगवतीसूत्र में अम्बड़ संन्यासी और उसके 500 शिष्यों के द्वारा अदत्त जल का सेवन नहीं करते हुए गंगा की बालू पर समाधिमरण लेने का उल्लेख है। उपासकदशा में भगवान महावीर के आनन्द, कामदेव, सकडालपुत्र, चुलिनीपिता आदि दश गृहस्थ उपासकों द्वारा समाधिमरण ग्रहण करने और उनमें विघ्नों के उपस्थित होने तथा आनन्द को इस अवस्था में विस्तृत अवधिज्ञान उत्पन्न होने, गौतम के द्वारा आनन्द से क्षमा-याचना करने आदि के उल्लेख हैं। इसी प्रकार अन्तकृतदशा में कुछ श्रमणों और आर्यिकाओं द्वारा समाधिमरण स्वीकार करने और उस दशा में कैवल्य एवं मोक्ष प्राप्त करने के निर्देश हैं। किन्तु विस्तार भय से इन सबकी चर्चा में जाना हम यहाँ आवश्यक

नहीं समझते। इतना अवश्य ज्ञातव्य है कि इनमें से कुछ कथाओं के निर्देश श्वेताम्बर परम्परा में मरण विभक्ति में तथा अचेल परम्परा में भगवतीआराधना में भी पाये जाते हैं। यहाँ हम केवल अन्तकृतदशा (वर्ग 8. अध्याय 1) का वह उल्लेख करना चाहेंगे जिसमें साधक किस स्थिति में समाधिमरण ग्रहण करता था, इसका सुन्दर चित्रण निम्न है --

"तत्पश्चात् काली आर्या, उस उराल-प्रधान, (विपुल, दीर्घकालीन, विस्तीर्ण, सश्रीक-शोभासम्पन्न, गुरु द्वारा प्रदत्त अथवा प्रयत्नसाध्य, बहुमानपूर्वक गृहीत, कल्याणकारी, निरोगता-जनक, शिव-मुक्ति के कारण-भूत, धन्य, मांगल्य, पापविनाशक, उदग्र-तीव्र, उदार-निष्काम होने के कारण औदार्य वाले, उत्तम, अज्ञान अन्धकार से रहित और महान् प्रभाव वाले, तपःकर्म से शुष्क-नीरस शरीर वाली, रक्ष, मांस रहित और नसों से व्याप्त हो गयी थी। जैसे कोई कोयलों से भरी गाड़ी हो, सूखी लकड़ियों से भरी गाड़ी हो, पत्तों से भरी गाड़ी हो, धूप में डालकर सुखाई हो अर्थात् कोयला, लकड़ी पत्ते आदि खूब सुखा लिये गये हों और फिर गाड़ी में भरे गये हों, तो वह गाड़ी खड़-खड़ आवाज करती हुई चलती है और ठहरती है, उसी प्रकार काली आर्या हाड़ों की खड़-खड़ाहट के साथ चलती थी और खड़-खड़ाहट के साथ खड़ी रहती थी। वह तपस्या से तो उपचित-वृद्धि को प्राप्त थी, मगर मांस और रुधिर से अपचित-हास को प्राप्त हो गयी थी। भस्म के समूह से आच्छादित अग्नि की तरह तपस्या के तेज से देदीप्यमान वह तपस्तेज की लक्ष्मी से अतीव शोभायमान हो रही थी।

एक दिन रात्रि के पिछले प्रहर में काली आर्या के हृदय में स्कन्दमुनि के समान यह विचार उत्पन्न हुआ -- "इस कठोर तप-साधना के कारण मेरा शरीर अत्यन्त कृश हो गया है। तथापि जब तक मेरे इस शरीर में उत्थान, कर्म, बल, वीर्य और पुरुषकार-पराक्रम है, मन में श्रद्धा, धैर्य एवं वैराग्य है तब तक मेरे लिये उचित है कि कल्ल सूर्योदय होने के पश्चात् आर्या चंदना से पूछकर, उनकी आज्ञा प्राप्त होने पर, संलेखना झूषणा का सेवन करती हुई भक्तपान का त्याग करके, मृत्यु के प्रति निष्काम होकर विचरण करें।" ऐसा सोचकर वह अगले दिन सूर्योदय होते ही जहाँ आर्या चंदना थी वहाँ आई और चंदना-नमस्कार कर इस प्रकार बोली-- "हे आर्य ! आपकी आज्ञा हो तो मैं संलेखना झूषणा करती हुई विचरना चाहती हूँ।" आर्या चन्दना ने कहा -- "हे देवानुप्रिये ! जैसे तुम्हें सुख हो, वैसा करो। सत्कार्य में क्लिम्ब न करो।" तब आर्या चन्दना की आज्ञा पाकर काली आर्या संलेखना झूषणा ग्रहण करके यावत् विचरने लगी। काली आर्या ने आर्या चन्दना के पास सामायिक से लेकर ग्यारह अंगों का अध्ययन किया और पूरे आठ वर्ष तक चारित्र्यधर्म का पालन करके एक मास की संलेखना से आत्मा को झोषित कर साठ भक्त का अनशन पूर्ण कर, जिस हेतु से संयम ग्रहण किया था यावत् उसको अन्तिम श्वासोच्छ्वास तक पूर्ण किया और सिद्ध, बुद्ध और मुक्त हो गई।

इस प्रकार हम देखते हैं कि अन्तकृतदशा में जब शरीर पूर्णतया ग्लान हो जाय, ऐसी स्थिति में ही समाधिमरण लेने का उल्लेख है।

प्रकीर्णक और समाधिमरण

श्वेताम्बर परम्परा में समाधिमरण से सम्बन्धित जो ग्रन्थ लिखे गये हैं, उनमें चन्द्रवेद्यक,

आतुरप्रत्याख्यान, महाप्रत्याख्यान, संस्तारक, भक्त परिज्ञा और मरण विभक्ति प्रमुख हैं। चन्द्रवेद्यक प्रकीर्णक का अन्तिम लक्ष्य तो समाधिमरण का निरूपण ही है, किन्तु उसकी पूर्व भूमिका के रूप में विनय गुण, आचार्य गुण, विनय निग्रह गुण, ज्ञान गुण और चरण गुण द्वार नामक प्रथम पांच द्वारों में समाधिमरण की पूर्व भूमिका के रूप में सम्बन्धित विषयों का विवरण दिया गया है और अन्त में छठा समाधिमरण द्वार है। इस प्रकीर्णक में 175 गाथाएँ हैं, किन्तु कुछ प्रतियों में 75 गाथाएँ और भी मिलती हैं किन्तु उनमें से अधिकांश गाथायें आतुरप्रत्याख्यान में यथावत् उपलब्ध होती हैं। ग्रन्थ के अन्त में मरण गुण द्वार नामक सप्तम द्वार में सबसे अधिक 58 गाथाएँ हैं। इसमें अकृतयोग और कृतयोग के माध्यम से यह बताया गया है कि जो व्यक्ति विषय-वासनाओं के वशीभूत होकर जीवन जीता है, वह अकृत योग है तथा जो इसके विपरीत वासनाओं एवं कषायों पर नियन्त्रण कर जीवन जीता है वह कृतयोगी है और जो कृतयोगी है, उसी का मरण सार्थक है या समाधिमरण है। इसमें किस प्रकार की जीवन दृष्टि व आचार-विचार का पालन करते हुए व्यक्ति समाधिमरण को प्राप्त कर सकता है, इसका विस्तृत विवेचन है। इसमें कहा गया है कि जो सम्यक्त्व से युक्त लब्धबुद्धि साधक आलोचना करके मरण को प्राप्त होता है उसका मरण शुद्ध होता है इसके विपरीत जो इन्द्रिय सुखों की ओर दौड़ता है वह अकृत परिक्रम जीव आराधना काल में विचलित हो जाता है। जिस प्रकार लक्ष्य भेद का साधक अपना ध्यान बाह्य विषयों की ओर न लगाकर केवल लक्ष्य की ओर रखता है, उसी प्रकार जो व्यक्ति राग-द्वेष का निग्रह करता है तथा त्रिदण्ड और चार कषायों से अपनी आत्मा को लिप्त नहीं होने देता। पांचों इन्द्रियों पर नियन्त्रण रखता है। छह जीव निकाय की हिंसा एवं सात भयों से रहित मार्दव भाव से युक्त होता है। आठ मदों से रहित होकर नव प्रकार से ब्रह्मचर्य का पालन करता है तथा दस धर्म का पालन करते हुए शुक्ल ध्यान के अभिमुख होता है वही व्यक्ति मरण काल में कृत योगी होता है। जो व्यक्ति जिन उपदृष्ट समाधिमरण की आराधना करता है वह धूत क्लेश होकर भावशक्तियों का निवारण करके शुद्ध अवस्था को प्राप्त होता है। जिस प्रकार सुकुशल वैद्य भी अपनी व्याधि को अन्य से कहकर उसकी चिकित्सा करवाता है, उसी प्रकार साधु भी गुरु के समीप अपने दोषों की आलोचना करके मृत्यु के समय शुद्ध अवस्था को प्राप्त होता है। जो साधु मरणकाल में आसक्त नहीं होता, वही आराधक है। इस प्रकार चन्द्रवेद्यक मुख्य रूप से समाधिमरण करने वाले साधक की जीवन दृष्टि कैसी होना चाहिए, इसकी चर्चा करता है।

चन्द्रवेद्यक के पश्चात् जो प्रकीर्णक ग्रन्थ पूर्णतः समाधि समाधिमरण की अवधारणा को ही अपना विषय बनाते हैं, उनमें आतुरप्रत्याख्यान और महाप्रत्याख्यान प्रमुख हैं।

ज्ञातव्य है कि आतुरप्रत्याख्यान और महाप्रत्याख्यान की लगभग एक सौ गाथाएँ मूलाचार के संक्षिप्त प्रत्याख्यान और बृहत् प्रत्याख्यान नामक अध्यायों में उपलब्ध होती हैं। 'आतुरप्रत्याख्यान' के नाम से तीन प्रकीर्णक ग्रन्थ उपलब्ध होते हैं। एक आतुरप्रत्याख्यान में तीस गाथाएँ और कुछ गद्य भाग हैं, जबकि दूसरे में 34 गाथाएँ हैं और तीसरे में 71 गाथाएँ हैं। वैसे इन सभी आतुरप्रत्याख्यान नामक प्रकीर्णकों का विषय समाधिमरण ही है। प्रथम

आतुरप्रत्याख्यान में पंच मंगल के पश्चात् अरिहंत आदि से क्षमा-याचना और उत्तम अर्थ अर्थात् समाधिमरण की आराधना के लिए 18 पाप स्थानों का और शरीर के संरक्षण का परित्याग तथा अन्त में सागार एवं निरागार समाधि मरण के प्रत्याख्यान की चर्चा है। इसके अन्त में संसार के सभी प्राणियों से क्षमा याचना के सन्दर्भ में 13 गाथाएँ हैं और अन्त में एकत्व भावना का उल्लेख है। जिसमें कहा गया है कि "ज्ञान-दर्शन से युक्त एक मेरा आत्मा ही शाश्वत है, शेष सभी बाह्य पदार्थ सांयोगिक हैं। सांयोगिक पदार्थों के प्रति ममत्व ही दुःख परम्परा का कारण है। अतः त्रिविध रूप से संयोग का परित्याग कर देना चाहिए"। ज्ञातव्य है कि वे गाथाएँ भगवतीआराधना एवं मूलाचार के साथ-साथ कुंद-कुंद के ग्रन्थों में भी यथावत रूप में उपलब्ध होती है। आतुरप्रत्याख्यान नामक दूसरे ग्रन्थ में अविरति का प्रत्याख्यान, ममत्व त्याग, देव के प्रति उपालम्भ, शुभ भावना, अरहंत आदि का स्मरण आदि समाधिमरण के अंगों की चर्चा है। इसी नाम के तृतीय प्रकीर्णक 71 गाथाएँ हैं। इसमें मुख्य रूप से बाल-पण्डित मरण और पण्डित मरण ऐसे दो प्रकार के समाधिमरणों की चर्चा करता है। इसमें प्रथम 4 गाथाओं में देशव्रती श्रावक के लिये बाल-पण्डित मरण का विधान है जबकि मुनि के लिए पण्डित मरण का विधान है। इसमें उत्तम अर्थ समाधि मरण की प्राप्ति के लिए किस प्रकार के ध्यानो (विचारों) की आवश्यकता है, इसकी चर्चा है। इसके पश्चात् सब पापों के प्रत्याख्यान के साथ आत्मा की एकत्व की अनुभूति की चर्चा भी है। अन्त में आलोचनादायक और आलोचना ग्राहक के गुणों की चर्चा करते हुए तीन प्रकार के मरणों की चर्चा की गई है -- बाल-मरण, बाल-पण्डितमरण, पण्डितमरण। इसके पश्चात् असमाधिमरण के फल की चर्चा की गयी है और फिर यह बताया गया है कि बालमरण और पण्डित मरण क्या है ? शस्त्र ग्रहण, विष-भक्षण, जल-प्रवेश, अग्नि-प्रवेश आदि द्वारा मृत्यु को प्राप्त करना बालमरण है तथा इसके विपरीत अनशन द्वारा देहासक्ति का त्याग कर कषायों को क्षीण करना पण्डित मरण है। अन्त में पण्डितमरण की भावनाएँ और उसकी विधि की चर्चा है।

महाप्रत्याख्यान नामक प्रकीर्णक में 142 गाथाएँ हैं। इसमें बाह्य एवं अन्त्यान्तर परिग्रह का परित्याग, सर्वजीवों से क्षमा याचना, आत्मालोचन, ममत्व का ह्येदन, आत्मस्वरूप का ध्यान, मूल एवं उत्तर गुणों की आराधना, एकत्व भावना, संयोग सम्बन्धों के परित्याग आदि की चर्चा करते हुए आलोचक के स्वरूप का भी विवरण दिया गया है। इसी प्रसंग में पाँच महाव्रतों एवं समिति-गुणित के स्वरूप की चर्चा भी है। साथ ही तप के महत्त्व को बताया गया है। फिर अकृत-योग एवं कृतयोग की चर्चा करके पण्डित-मरण की प्ररूपणा की गयी है। इसी प्रसंग में ज्ञान की प्रधानता का भी चित्रण हुआ है। अन्त में संसारतरण एवं कर्मों से विस्तार पाने का उपदेश देते हुए आराधना रूपी पताका को फहराने का निर्देश है। साथ ही पाँच प्रकार की आराधना व उनके फलों की चर्चा करते हुए धीरमरण (समाधिमरण) की प्रशंसा की गयी है।

संस्तारक प्रकीर्णक का विषय भी समाधिमरण ही है। इस प्रकीर्णक में 122 गाथाएँ हैं। प्रारम्भ में मंगल के साथ-साथ कुछ श्रेष्ठ वस्तुओं और सद्गुणों की चर्चा है। इसमें कहा गया है कि समाधिमरण परमार्थ, परम-आयतन, परमकल्प और परमगति का साधक है। जिस

प्रकार पर्वतों में मेरुपर्वत एवं तारागणों में चन्द्र श्रेष्ठ है, उसी प्रकार सुविहित जनों के लिए संथारा श्रेष्ठ है। इसी में आगे 12 गाथाओं में संस्तारक के स्वरूप का विवेचन है। इस प्रसंग में यह बताया गया है कि कौन व्यक्ति समाधिमरण को ग्रहण कर सकता है ? यह ग्रन्थ क्षपक के लाभ एवं सुख की चर्चा करता है। इसमें संथारा ग्रहण करने वाले कुछ व्यक्तियों के उल्लेख हैं यथा -- सुकोशल ऋषि, अवन्ति-सुकुमाल, कार्तिकार्य, पाटलीपुत्र के चंदक-पुत्र (सम्भवतः चन्द्रगुप्त) तथा चाणक्य आदि ।

ज्ञातव्य है कि इसकी अधिकांश कथाएँ यापनीय ग्रन्थ भगवतीआराधना में भी उपलब्ध होती हैं। विद्वानों से अनुरोध है कि संस्तारक एवं मरण-विभक्ति में वर्णित इन कथाओं की बृहत्कथा कोश तथा आराधना कोश से तुलना करें। अन्त में संस्तारक की भावनाओं का चित्रण है। इसकी अनेक गाथाएँ आतुरप्रत्याख्यान एवं चन्द्रवेद्यक प्रकीर्णक में भी मिलती हैं ।

श्वेताम्बर आगमसाहित्य में समाधिमरण के सम्बन्ध में सबसे विस्तृत ग्रन्थ मरणविभक्ति है। वस्तुतः मरण विभक्ति एक ग्रन्थ न होकर समाधिमरण से सम्बन्धित प्राचीन आठ ग्रन्थों के आधार पर निर्मित हुआ एक संकलन ग्रन्थ है। यद्यपि इसमें इन आठ ग्रन्थों की गाथाएँ कहीं शब्द रूप से तो कहीं भाव रूप से ही गृहीत हैं। फिर भी समाधि मरण सम्बन्धित सभी विषयों को एक स्थान पर प्रस्तुत करने की दृष्टि से यह ग्रन्थ अति महत्त्वपूर्ण है। इसमें 663 गाथाएँ हैं। यह ग्रन्थ संक्षिप्त होते हुए भी भगवतीआराधना के समान ही अपने विषय को समग्र रूप से प्रस्तुत करता है। विस्तार भय से यहां इसकी समस्त विषय-वस्तु का प्रतिपादन कर पाना सम्भव नहीं है। इसमें 14 द्वार अर्थात् अध्ययन हैं। इस ग्रन्थ में भी संस्तारक के समान ही पण्डित मरणपूर्वक मुक्ति प्राप्त करने वाले साधकों के दृष्टान्त हैं। जिनमें से अधिकांश भगवतीआराधना एवं संस्तारक में मिलते हैं। इसी ग्रन्थ में अनित्य आदि बारह भावनाओं का भी विवेचन है ।

इसके अतिरिक्त आराधनापताका नामक एक ग्रन्थ और है। यह ग्रन्थ अभी तक अप्रकाशित है। कुछ विद्वानों का ऐसा कहना है कि यह ग्रन्थ यापनीय ग्रन्थ भगवतीआराधना के आधार पर आचार्य वीरभद्र द्वारा निर्मित हुआ है, किन्तु इस ग्रन्थ में भक्त-परिज्ञा, पिण्ड-निर्युक्ति और आवश्यक-निर्युक्ति की अनेकों गाथाएँ भी हैं। अतः यह किस ग्रन्थ के आधार पर निर्मित हुआ है, यह शोध का विषय है ।

इसी प्रकार श्वेताम्बर परम्परा में समाधिमरण से सम्बन्धित अनेक ग्रन्थ परवर्ती श्वेताम्बराचार्यों द्वारा भी लिखे गये हैं, जिनमें पूर्ण विस्तार के साथ समाधिमरण सम्बन्धी विवरण है किन्तु ये ग्रन्थ परवर्तीकाल के हैं, और हम अपने विषय को अर्धमागधी आगमसाहित्य तक ही सीमित रखने के कारण इनकी विशेष चर्चा यहां नहीं करना चाहेंगे। यह समस्त चर्चा भी हमने संकेत रूप में ही की है। विद्वानों से अनुरोध है कि वे इस तुलनात्मक अध्ययन को आगे बढ़ायें। इस सम्बन्ध में अनेक आगमिक व्याख्या ग्रन्थ जैसे आचारंग निर्युक्ति, सूत्रकृतांग निर्युक्ति, आवश्यक निर्युक्ति, निशीथभाष्य, बृहत्कल्प भाष्य, व्यवहार भाष्य, निशीथचूर्ण आदि

भी उनके उपजीव्य हो सकते हैं। इसी प्रकार आगमों की शीलांक और अम्भयदेव की वृत्तियां भी बहुत कुछ सूचनायें प्रदान कर सकती हैं। उदाहरण के रूप में क्षपक अर्थात् संलेखना लेने वाले श्रमण के मरणोपरान्त देह को किस प्रकार विसर्जित किया जाये, इसकी चर्चा भगवतीआराधना और निशीथ चूर्णि में समान रूप से मिलती है। आशा है विद्वानों की आगामी पीढ़ी इस तुलनात्मक चर्चा को पूर्णता प्रदान करेगी।

- प्रो. सागरमल जैन, पार्श्वनाथ शोधपीठ, वाराणसी-5

जैन कर्मसिद्धान्त : एक विश्लेषण

- प्रो. सागरमल जैन

कर्मसिद्धान्त का उद्भव एवं विकास

कर्मसिद्धान्त का उद्भव सृष्टि-वैचित्र्य, वैयक्तिक-भिन्नताओं, व्यक्ति की सुख-दुःखात्मक अनुभूतियों एवं शुभाशुभ मनोवृत्तियों के कारण की व्याख्या के प्रयासों में ही हुआ है। सृष्टि-वैचित्र्य एवं वैयक्तिक, भिन्नताओं के कारण की खोज के इन प्रयासों में विभिन्न विचारधारायें अस्तित्व में आयीं। श्वेताश्वतरोपनिषद्, अंगुत्तरनिकाय और सूत्रकृतांग में हमें इन विभिन्न विचारधाराओं की उपस्थिति के संकेत मिलते हैं। महाभारत के शान्तिपर्व में इन विचारधाराओं की समीक्षा भी की गई है। इस सम्बन्ध में प्रमुख मान्यताएँ निम्न हैं --

1. कालवाद -- यह सिद्धान्त सृष्टि-वैचित्र्य और वैयक्तिक-विभिन्नताओं का कारण काल को स्वीकार करता है। जिसका जो समय या काल होता है तभी वह घटित होता है, जैसे -- अपनी ऋतु (समय) आने पर ही वृक्ष में फल लगते हैं।
2. स्वभाववाद -- संसार में जो भी घटित होगा या होता है, उसका आधार वस्तुओं का अपना-अपना स्वभाव है। संसार में कोई भी स्वभाव का उल्लंघन नहीं कर सकता है।
3. नियतिवाद -- संसार का समग्र घटना-क्रम पूर्व नियत है, जो जिस रूप में होना होता है वैसा ही होता है, उसे कोई अन्यथा नहीं कर सकता।
4. यदृच्छावाद -- किसी भी घटना का कोई नियत हेतु या कारण नहीं होता है। समस्त घटनाएँ मात्र संयोग का परिणाम है। यदृच्छावाद हेतु के स्थान पर संयोग (Chance) को प्रमुख बना देता है।
5. महाभूतवाद -- समग्र अस्तित्व के मूल में पंचमहाभूतों की सत्ता रही है। संसार उनके वैचित्र्यमय विभिन्न संयोगों का ही परिणाम है।
6. प्रकृतिवाद -- विश्व-वैचित्र्य त्रिगुणात्मक प्रकृति का ही खेल है। मानवीय सुख-दुःख भी प्रकृति के ही अधीन है।
7. ईश्वरवाद -- ईश्वर ही इस जगत् का रचयिता एवं नियामक है, जो कुछ भी होता है, वह सब उसकी इच्छा या क्रियाशक्ति का परिणाम है।
8. पुरुषवाद -- वैयक्तिक विभिन्नता और सांसारिक घटना-क्रम के मूल में पुरुष का पुरुषार्थ ही प्रमुख है।

वस्तुतः जगत्-वैविध्य और वैयक्तिक भिन्नताओं की तार्किक व्याख्या के इन्हीं प्रयत्नों में कर्मसिद्धान्त का विकास हुआ है¹ जिसमें पुरुषवाद की प्रमुख भूमिका रही है। कर्मसिद्धान्त उपर्युक्त सिद्धान्तों का पुरुषवाद के साथ समन्वय का प्रयत्न है।

श्वेताश्वतरोपनिषद् के प्रारम्भ में ही यह प्रश्न उठाया गया है कि हम किसके द्वारा प्रेरित होकर संसार-यात्रा का अनुवर्तन कर रहे हैं। आगे ऋषि यह जिज्ञासा प्रकट करता है कि क्या काल, स्वभाव, नियति, यद्दृच्छा, भूत-योनि अथवा पुरुष या इन सबका संयोग ही इसका कारण है²। वस्तुतः इन सभी विचारधाराओं में पुरुषवाद को छोड़कर शेष सभी विश्व-वैचित्र्य और वैयक्तिक-वैविध्य की व्याख्या के लिए किसी न किसी बाह्य-तथ्य पर ही बल दे रही थीं। हम इनमें से किसी भी सिद्धान्त को मानें, वैविध्य का कारण व्यक्ति से भिन्न ही मानना होगा, किन्तु ऐसी स्थिति में व्यक्ति पर नैतिक दायित्व का आरोपण सम्भव नहीं हो पाता है। यदि हम जो कुछ भी करते हैं और जो कुछ भी पाते हैं, उसका कारण बाह्य तथ्य ही हैं, तो फिर हम किसी भी कार्य के लिए नैतिक दृष्टि से उत्तरदायी ठहराये नहीं जा सकते। यदि व्यक्ति काल, स्वभाव, नियति अथवा ईश्वर की इच्छाओं का एक साधन मात्र है, तो वह उस कठपुतली के समान है, जो दूसरे के इशारों पर ही कार्य करती है। किन्तु ऐसी स्थिति में पुरुष में इच्छा-स्वातन्त्र्य का अभाव मानने पर नैतिक उत्तरदायित्व की समस्या उठती है। सामान्य मनुष्य को नैतिकता के प्रति आस्थावान बनाने के लिए आवश्यक है कि व्यक्ति को उसके शुभाशुभ कर्मों के प्रति उत्तरदायी बनाया जा सके और यह तभी सम्भव है जब उसके मन में विश्वास हो कि उसे उसकी स्वतन्त्र इच्छा से किये गये अपने ही कर्मों का परिणाम प्राप्त होता है। यही कर्मसिद्धान्त है। ज्ञातव्य है कि कर्मसिद्धान्त ईश्वरीय कृपा या अनुग्रह के विरोध में जाता है, वह तो यह मानता है कि ईश्वर भी कर्मफल-व्यवस्था को अन्यथा नहीं कर सकता है। कर्म का नियम ही सर्वोपरि है।

कर्मसिद्धान्त और कार्यकारण का नियम

आचार के क्षेत्र में इस कर्मसिद्धान्त की उतनी ही आवश्यकता है जितनी विज्ञान के क्षेत्र में कार्य-कारण-सिद्धान्त की। जिस प्रकार कार्यकारण-सिद्धान्त के अभाव में वैज्ञानिक व्याख्यायें असम्भव होती हैं, उसी प्रकार कर्म-सिद्धान्त के अभाव में नीतिशास्त्र भी अर्थ-शून्य हो जाता है।

प्रो. वेंकटरमण के शब्दों में कर्मसिद्धान्त कार्यकारण-सिद्धान्त के नियमों एवं मान्यताओं का मानवीय आचार के क्षेत्र में प्रयोग है, जिसकी उपकल्पना यह है कि जगत् में सभी कुछ किसी नियम के अधीन है³। मैक्समूलर लिखते हैं कि यह विश्वास कि कोई भी अच्छा बुरा कर्म बिना फल दिए समाप्त नहीं होता, नैतिक जगत् का वैसा ही विश्वास है, जैसा भौतिक जगत् में ऊर्जा की अविनाशिता का नियम है⁴। यद्यपि कर्मसिद्धान्त एवं वैज्ञानिक कार्यकारण-सिद्धान्त में सामान्य रूप से समानता प्रतीत होती है, किन्तु उनमें एक मौलिक अन्तर भी है। यह कि जहाँ कार्य-कारण सिद्धान्त का विवेच्य जड़ तत्त्व के क्रिया-कलाप हैं वहीं कर्म-सिद्धान्त का विवेच्य

चेतना सत्ता के क्रिया-कलाप हैं। अतः कर्मसिद्धान्त में वैसी पूर्ण नियतता नहीं होती, जैसी कार्यकारण सिद्धान्त में होती है। यह नियतता एवं स्वतंत्रता का समुचित संयोग है। कर्मसिद्धान्त की मौलिक स्वीकृति यही है कि प्रत्येक शुभाशुभ क्रिया का कोई प्रभाव या परिणाम अवश्य होता है। साथ ही उस कर्म-विपाक या परिणाम का भोक्ता वही होता है, जो क्रिया का कर्त्ता होता है और कर्म एवं विपाक की यह परम्परा अनादि काल से चल रही है।

कर्मसिद्धान्त की उपयोगिता

कर्मसिद्धान्त की व्यावहारिक उपयोगिता यह है कि वह न केवल हमें नैतिकता के प्रति आस्थावान बनाता है, अपितु वह हमारे सुख-दुःख आदि का स्रोत हमारे व्यक्तित्व में ही खोजकर ईश्वर एवं प्रतिवेशी अर्थात् अन्य व्यक्तियों के प्रति कटुता का निवारण करता है। कर्मसिद्धान्त की स्थापना का प्रयोजन यही है कि नैतिक कृत्यों के अनिवार्य फल के आधार पर उनके प्रेरक कारणों एवं अनुवर्ती परिणामों की व्याख्या की जा सके, तथा व्यक्तियों को अशुभ या दुष्कर्मों से विमुख किया जा सके।

जैन कर्मसिद्धान्त और अन्य दर्शन

ऐतिहासिक दृष्टि से वेदों में उपस्थित ऋत का सिद्धान्त कर्म-नियम का आदि स्रोत है। यद्यपि उपनिषदों के पूर्व के वैदिक साहित्य में कर्म सिद्धान्त का कोई सुस्पष्ट विवेचन नहीं मिलता, फिर भी उसमें उपस्थित ऋत के नियम की व्याख्या इस रूप में की जा सकती है। प्रो. दलसुख मालवणिया के शब्दों में कर्म (जगत् वैचित्र्य का) कारण है, ऐसा वाद उपनिषदों का सर्व-सम्मतवाद हो, नहीं कहा जा सकता। भारतीय चिन्तन में कर्म सिद्धान्त का विकास जैन, बौद्ध और वैदिक तीनों परम्पराओं में हुआ है। यद्यपि यह एक भिन्न बात है कि जैनों ने कर्मसिद्धान्त का जो गंभीर विवेचन प्रस्तुत किया वह अन्य परम्पराओं में उपलब्ध नहीं है⁵। वैदिकों के लिए जो महत्त्व ऋत का, मीमांसकों के लिए अपूर्व का, नैयायिकों के लिए अदृष्ट का, वेदान्तियों के लिए माया का और सांख्यों के लिए प्रकृति का है, वही जैनों के लिए कर्म का है। यद्यपि सामान्य दृष्टि से देखने पर वेदों का ऋत, मीमांसकों का अपूर्व, नैयायिकों का अदृष्ट, अद्वैतियों की माया, सांख्यों की प्रकृति एवं बौद्धों की अविद्या या संस्कार पर्यायवाची से लगते हैं, क्योंकि व्यक्ति के बन्धन एवं उसके सुख-दुःख की स्थितियों में इनकी मुख्य भूमिका है, फिर भी इनके स्वरूप में दार्शनिक दृष्टि से अन्तर भी है, यह बात हमें दृष्टिगत रखनी होगी। ईसाईधर्म और इस्लामधर्म में भी कर्म-नियम को स्थान मिला है। फिर भी ईश्वरीय अनुग्रह पर अधिक बल देने के कारण उनमें कर्म-नियम के प्रति आस्था के स्थान पर ईश्वर के प्रति विश्वास ही प्रमुख रहा है। ईश्वर की अवधारणा के अभाव के कारण भारत की श्रमण परम्परा कर्मसिद्धान्त के प्रति अधिक आस्थावान रही ही, बौद्ध-दर्शन में भी जैनों के समान ही कर्म-नियम को सर्वोपरि माना गया। हिन्दूधर्म में भी ईश्वरीय व्यवस्था को कर्म-नियम के अधीन लाया गया, उसमें ईश्वर कर्म-नियम का व्यवस्थापक होकर भी उसके अधीन ही कार्य करता है।

जैन कर्मसिद्धान्त का विकास क्रम

जैन कर्मसिद्धान्त का विकास किस क्रम में हुआ, इस प्रश्न का समाधान उतना सरल नहीं है, जितना कि हम समझते हैं। सामान्य विश्वास तो यह है कि जैन धर्म की तरह यह भी अनादि है, किन्तु विद्वत्-वर्ग इसे स्वीकार नहीं करता है। यदि जैन कर्मसिद्धान्त के विकास का कोई समाधान देना हो तो, वह जैन आगम एवं कर्मसिद्धान्त सिद्धान्त सम्बन्धी ग्रन्थों के कालक्रम के आधार पर ही दिया जा सकता है, उसके अतिरिक्त अन्य विकल्प नहीं है। जैन आगमसाहित्य में आचारांग प्राचीनतम है। उस ग्रन्थ में जैन कर्मसिद्धान्त का चाहे विकसित स्वरूप उपलब्ध न हो, किन्तु उसकी मूलभूत अवधारणाएँ अवश्य उपस्थित हैं। कर्म से उपाधि या बन्धन होता है, कर्म रज है, कर्म का आस्रव होता है, साधक को कर्मशरीर को धुन डालना चाहिए आदि विचार उसमें परिलक्षित होते हैं। इससे यह फलित होता है कि आचारांग के काल में कर्म को स्पष्ट रूप से बन्धन का कारण माना जाता था और कर्म के भौतिक पक्ष की स्वीकृति के साथ यह भी माना जाता था कि कर्म की निर्जरा की जा सकती है। साथ ही आचारांग में शुभाशुभ कर्मों का शुभाशुभ विपाक होता है, यह अवधारणा भी उपस्थित है। उसके अनुसार बन्धन का मूल कारण ममत्व है। बन्धन से मुक्ति का उपाय ममत्व का विसर्जन और ममत्व का सर्जन है⁶।

सूत्रकृतांग का प्रथम श्रुतस्कन्ध भी आचारांग से किंचित ही परवर्ती माना जाता है। सूत्रकृतांग के काल में यह प्रश्न बहुचर्चित था, कि कर्म का फल संविभाग सम्भव है या नहीं ? इसमें स्पष्ट रूप से यह प्रतिपादित किया गया है कि व्यक्ति अपने स्वकृत कर्मों का ही विपाक अनुभव करता है। बन्धन के सम्बन्ध में सूत्रकृतांग स्पष्ट रूप से कहता है कि कुछ व्यक्ति कर्म और अकर्म को वीर्य (पुरुषार्थ) कहते हैं। इसका तात्पर्य यह है कि कर्म के सन्दर्भ में यह विचार लोगों के मन में उत्पन्न हो गया था, कि यदि कर्म ही बन्धन है तो फिर अकर्म अर्थात् निष्क्रियता ही बन्धन से बचने का उपाय होगा, किन्तु सूत्रकृतांग के अनुसार अकर्म का अर्थ निष्क्रियता नहीं है। इसमें प्रतिपादित है कि प्रमाद कर्म है और अप्रमाद अकर्म है। वस्तुतः किसी क्रिया की बन्धकता उसके क्रिया-रूप होने पर नहीं, अपितु उसके पीछे रही प्रमत्तता या अप्रमत्तता पर निर्भर है। यहाँ प्रमाद का अर्थ है आत्मचेतना (Self-awareness) का अभाव। जिस आत्मा का विवेक जागृत नहीं है और जो कषाययुक्त है, वही परिसुप्त या प्रमत्त है और जिसका विवेक जागृत है और जो वासना-मुक्त है वही अप्रमत्त है। सूत्रकृतांग में ही हमें क्रियाओं के दो रूपों की चर्चा भी मिलती है -- 1. साम्परायिक और 2. ईर्यापथिक⁷। राग, द्वेष, क्रोध आदि कषायों से युक्त क्रियायें साम्परायिक कही जाती हैं, जबकि इनसे रहित क्रियायें ईर्यापथिक कही जाती हैं। साम्परायिक क्रियायें बन्धक होती हैं, जबकि ईर्यापथिक बन्धनकारक, नहीं होती। इससे इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि सूत्रकृतांग में कौन सा कर्म बन्धन का कारण होगा और कौन सा कर्म बन्धन का कारण नहीं होगा, इसकी एक कसौटी प्रस्तुत कर दी गई है। आचारांग में प्रतिपादित ममत्व की अपेक्षा इसमें प्रमत्तता और कषाय को बन्धन का प्रमुख कारण माना गया है।

यदि हम बन्धन के कारणों का ऐतिहासिक दृष्टि से विश्लेषण करें, तो यह पाते हैं कि प्रारम्भ में ममत्व (मेरेपन) को बन्धन का कारण माना गया, फिर आत्मविस्मृति या प्रमाद को। जब प्रमाद की व्याख्या का प्रश्न आया, तो स्पष्ट किया गया कि राग-द्वेष की उपस्थिति ही प्रमाद है। अतः राग-द्वेष को बन्धन का कारण बताया गया। राग-द्वेष का कारण मोह माना गया, अतः उत्तराध्ययन में राग-द्वेष एवं मोह को बन्धन का कारण बताया गया है⁸। इनमें मोह मिथ्यात्व और कषाय का संयुक्त रूप है। प्रमाद के साथ इनमें अविरति एवं योग के जुड़ने पर जैन परम्परा में बन्धन के 5 कारण माने जाने लगे⁹। समयसार आदि में प्रमाद को कषाय का ही एक रूप मानकर बन्धन के चार कारणों का उल्लेख मिलता है¹⁰। इनमें योग बन्धनकारक होते हुए भी वस्तुतः जब तक कषाय के साथ युक्त नहीं होता है, बन्धन का कारण नहीं बनता है। अतः प्राचीन ग्रन्थों में बन्धन के कारणों की चर्चा में मुख्य रूप से राग-द्वेष (कषाय) एवं मोह (मिथ्यादृष्टि) की ही चर्चा हुई है।

जैन कर्मसिद्धान्त के इतिहास की दृष्टि से कर्मप्रकृतियों का विवेचन भी महत्त्वपूर्ण माना जाता है। कर्म की अष्ट मूलप्रकृतियों का सर्व प्रथम निर्देश हमें ऋषिभाषित के पार्श्व नामक अध्ययन में उपलब्ध होता है¹¹। इसमें 8 प्रकार की कर्मग्रन्थियों का उल्लेख है। यद्यपि वहाँ इनके नामों की कोई चर्चा उपलब्ध नहीं होती है। 8 प्रकार की कर्मप्रकृतियों के नामों का स्पष्ट उल्लेख हमें उत्तराध्ययन के 33वें अध्याय में और स्थानांग में मिलता है¹²। स्थानांग की अपेक्षा भी उत्तराध्ययन में यह वर्णन विस्तृत है, क्योंकि इसमें अवान्तर कर्म प्रकृतियों की चर्चा भी हुई है। इसमें ज्ञानावरण कर्म की 5, दर्शनावरण की 9, वेदनीय की 2, मोहनीय की 2 एवं 28, नामकर्म की 2 एवं अनेक, आयुष्यकर्म की 4, गोत्रकर्म की 2 और अन्तराय कर्म की 5 अवान्तर प्रकृतियों का उल्लेख मिलता है¹³। आगे जो कर्मसाहित्य सम्बन्धी ग्रन्थ निर्मित हुए उनमें नामकर्म की प्रकृतियों की संख्या में और भी वृद्धि हुई, साथ ही उनमें आत्मा में किस अवस्था में कितनी कर्मप्रकृतियों का उदय, सत्ता, बन्ध आदि होते हैं, इसकी भी चर्चा हुई। वस्तुतः जैन कर्मसिद्धान्त ई.पू. आठवीं शती से लेकर ईस्वी सन् की सातवीं शती तक लगभग पन्द्रह सौ वर्ष की सुदीर्घ अवधि में व्यवस्थित होता रहा है। यह एक सुनिश्चित सत्य है कि कर्मसिद्धान्त का जितना गहन विश्लेषण जैन परम्परा के कर्मसिद्धान्त सम्बन्धी साहित्य में हुआ, उतना अन्यत्र किसी भी परम्परा में नहीं हुआ है।

कर्म शब्द का अर्थ

जब हम जैन कर्मसिद्धान्त की बात करते हैं, तो हमें यह स्मरण रखना चाहिये कि उसमें कर्म शब्द एक विशेष अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। वह अर्थ कर्म के उस सामान्य अर्थ की अपेक्षा अधिक व्यापक है। सामान्यतया कोई भी क्रिया कर्म कहलाती है, प्रत्येक हलचल चाहे वह मानसिक हो, वाचिक हो या शारीरिक हो, कर्म है। किन्तु जैन परम्परा में जब हम कर्म शब्द का प्रयोग करते हैं, तो वहाँ ये क्रियायें तभी कर्म बनती हैं, जब ये बन्धन का कारण हों। मीमांसादर्शन में कर्म का तात्पर्य यज्ञ-याग आदि क्रियाओं से लिया जाता है। गीता आदि में कर्म

का अर्थ अपने वर्णाश्रम के अनुसार किये जाने वाले कर्मों से लिया गया है। यद्यपि गीता एक व्यापक अर्थ में भी कर्म शब्द का प्रयोग करती है। उसके अनुसार मनुष्य जो भी करता है या करने का आग्रह रखता है, वे सभी प्रवृत्तियाँ कर्म की श्रेणी में आती हैं। बौद्धदर्शन में चेतना को ही कर्म कहा गया है। बुद्ध कहते हैं कि -- "भिक्षुओं कर्म, चेतना ही है", ऐसा मैं इसलिए कहता हूँ कि चेतना के द्वारा ही व्यक्ति कर्म को करता है, काया से, मन से या वाणी से¹⁴। इस प्रकार बौद्धदर्शन में कर्म के समुत्थान या कारक को ही कर्म कहा गया है। बौद्धदर्शन में आगे चलकर चेतना कर्म और चेतुयित्वा कर्म की चर्चा हुई है। चेतना कर्म मानसिक कर्म है, चेतयित्वा कर्म वाचिक एवं कायिक कर्म है¹⁵। किन्तु हमें ध्यान रखना चाहिए कि जैन कर्मसिद्धान्त में कर्म शब्द अधिक व्यापक अर्थ में गृहीत हुआ है। उसमें मात्र क्रिया को ही कर्म नहीं कहा गया, अपितु उसके हेतु (कारण) को भी कर्म कहा गया है। आचार्य देवेन्द्रसूरि लिखते हैं -- जीव की क्रिया का हेतु ही कर्म है¹⁶। किन्तु हम मात्र हेतु को भी कर्म नहीं कह सकते हैं। हेतु, उससे निष्पन्न क्रिया और उस क्रिया का परिणाम, सभी मिलकर जैन दर्शन में कर्म की परिभाषा को स्पष्ट करते हैं। पं. सुखलाल जी संघवी लिखते हैं कि -- मिथ्यात्व, कषाय आदि कारणों से जीव द्वारा जो किया जाता है कर्म कहलाता है। मेरी दृष्टि से इसके साथ ही साथ कर्म में उस क्रिया के विपाक को भी सम्मिलित करना होगा। इस प्रकार कर्म के हेतु, क्रिया और क्रिया-विपाक, सभी मिलकर कर्म कहलाते हैं। जैन दार्शनिकों ने कर्म के दो पक्ष माने हैं -- १. राग-द्वेष एवं कषाय -- ये सभी मनोभाव, भाव कर्म कहे जाते हैं। २. कर्म-पुद्गल द्रव्यकर्म कहे जाते हैं। ये भावकर्म के परिणाम होते हैं, साथ ही मनोजन्मकर्म की उत्पत्ति का निमित्त कारण भी होते हैं। यह भी स्मरण रखना होगा कि ये कर्म हेतु (भावकर्म) और कर्मपरिणाम (द्रव्यकर्म) भी परस्पर कार्य-कारण भाव रखते हैं।

सभी आस्तिक दर्शनों ने एक ऐसी सत्ता को स्वीकार किया है, जो आत्मा या चेतना की शुद्धता को प्रभावित करती है। उसे वेदान्त में माया, सांख्य में प्रकृति, न्यायदर्शन में अदृष्ट एवं मीमांसा में अपूर्व कहा गया है। बौद्धदर्शन में उसे ही अविद्या और संस्कार (वासना) के नाम से जाना जाता है। योगदर्शन में इसे आशय कहा जाता है, तो शैवदर्शन में यह पाश कहलाती है। जैनदर्शन इसी आत्मा की विशुद्धता को प्रभावित करने वाली शक्ति को 'कर्म' कहता है। जैन दर्शन में कर्म के निमित्त कारणों के रूप में कर्म पुद्गल को भी स्वीकार किया गया है, जबकि इसके उपादान के रूप में आत्मा को ही माना गया है। आत्मा के बन्धन में कर्म पुद्गल निमित्त कारण है और स्वयं आत्मा उपादान कारण होता है।

कर्म का भौतिक स्वरूप

जैनदर्शन में कर्म चेतना से उत्पन्न क्रिया मात्र नहीं है, अपितु यह स्वतन्त्र तत्त्व भी है। आत्मा के बन्धन का कारण क्या है ? जब यह प्रश्न जैन दार्शनिकों के समक्ष आया तो उन्होंने बताया कि आत्मा के बन्धन का कारण केवल आत्मा नहीं हो सकती। वस्तुतः कषाय (राग-द्वेष) अथवा मोह (मिथ्यात्व) आदि जो बन्धक मनोवृत्तियाँ हैं, वे भी स्वतः उत्पन्न नहीं हो सकतीं, जब तक कि वे पूर्वबद्ध कर्मवर्गणाओं के विपाक (संस्कार) के रूप में चेतना के

समक्ष उपस्थित नहीं होती है। जिस प्रकार मनोवैज्ञानिक दृष्टि से शरीर-रसायनों के परिवर्तन से संवेग (मनोभाव) उत्पन्न होते हैं और उन संवेगों के कारण ही शरीर-रसायनों में परिवर्तन होता है। यही स्थिति आत्मा की भी है। पूर्व कर्मों के कारण आत्मा में राग-द्वेष आदि मनोभाव उत्पन्न (उदित) होते हैं और इन उदय में आये मनोभावों के क्रियारूप परिणित होने पर आत्मा नवीन कर्मों का संचय करता है। बन्धन की दृष्टि से कर्मवर्गणाओं के कारण मनोभाव उत्पन्न होते हैं और उन मनोभावों के कारण जड़ कर्मवर्गणाएँ कर्म का स्वरूप ग्रहण कर आत्मा को बन्धन में डालती हैं। जैन विचारकों के अनुसार एकान्त रूप से न तो आत्मा स्वतः ही बन्धन का कारण है, न कर्मवर्गणा के पुद्गल ही। दोनों निमित्त एवं उपादान के रूप से एक दूसरे से संयुक्त होकर ही बन्धन की प्रक्रिया को जन्म देते हैं।

द्रव्यकर्म और भावकर्म

कर्मवर्गणाएँ या कर्म का भौतिक पक्ष, द्रव्यकर्म कहलाता है। जबकि कर्म की चैतसिक अवस्थाएँ अर्थात् मनोवृत्तियाँ, भावकर्म है। आत्मा के मनोभाव या चेतना की विविध विकारित अवस्थाएँ भावकर्म है और ये मनोभाव जिस निमित्त से उत्पन्न होते हैं, वह पुद्गल-द्रव्य द्रव्यकर्म है। आचार्य नेमिचन्द्र गोम्मटसार में लिखते हैं कि पुद्गल द्रव्यकर्म है और उसकी चेतना को प्रभावित करने वाली शक्ति भावकर्म है¹⁷। आत्मा में जो मिथ्यात्व और कषाय अथवा राग-द्वेष आदि भाव है, वे ही भाव कर्म हैं और उनकी उपस्थिति में कर्मवर्गणा के जो पुद्गल परमाणु ज्ञानावरण आदि कर्मप्रकृतियों के रूप में परिणत होते हैं, वे ही द्रव्यकर्म हैं। द्रव्यकर्म का कारण भावकर्म है और भावकर्म का कारण द्रव्य कर्म है। आचार्य विद्यानन्दि ने अष्टसहस्री में द्रव्यकर्म को आवरण व भावकर्म को दोष कहा है। चूंकि द्रव्यकर्म आत्मशक्ति के प्रकटन को रोकता है, इसलिए वह आवरण है और भाव कर्म स्वयं आत्मा की विभाव अवस्था है, अतः वह दोष है¹⁸। कर्मवर्गणा के पुद्गल तब तक कर्म रूप में परिणित नहीं होते हैं, जब तक ये भावकर्मों द्वारा प्रेरित नहीं होते हैं। किन्तु साथ ही यह भी स्मरण रखना होगा कि आत्मा में जो विभावदशाएँ हैं, उनके निमित्त कारण के रूप में द्रव्यकर्म भी अपना कार्य करते हैं। यह सत्य है कि दूषित मनोविकारों का जन्म आत्मा में ही होता है, किन्तु उसके निमित्त (परिवेश) के रूप में कर्मवर्गणाएँ अपनी भूमिका का अवश्य निर्वाह करती हैं। जिस प्रकार हमारे स्वभाव में परिवर्तन का कारण हमारे जैव-रसायनों एवं रक्त-रसायनों का परिवर्तन है। उसी प्रकार कर्मवर्गणाएँ हमारे मनोविकारों के सृजन में निमित्त कारण होती हैं। पुनः जिस प्रकार हमारे मनोभावों के आधार पर हमारे जैव-रसायन एवं रक्त-रसायन में परिवर्तन होता है, वैसे ही आत्मा में विकारी भावों के कारण जड़ कर्मवर्गणा के पुद्गल कर्म रूप में परिणित हो जाते हैं। अतः द्रव्यकर्म और भावकर्म भी परस्पर सापेक्ष है। पं. सुखलाल जी लिखते हैं भावकर्म के होने में द्रव्यकर्म निमित्त है और द्रव्यकर्म के होने में भावकर्म निमित्त है¹⁹। दोनों आपस में बीजांकुर की तरह सम्बद्ध हैं। जिस प्रकार बीज से वृक्ष और वृक्ष से बीज उत्पन्न होता है। उनमें किसी को पूर्वापर नहीं कहा जा सकता है, वैसे इनमें भी किसी की पूर्वापरता का निश्चय नहीं हो सकता है। प्रत्येक द्रव्यकर्म की अपेक्षा से भावकर्म पूर्व होगा तथा प्रत्येक भावकर्म की अपेक्षा से

द्रव्यकर्म पूर्व होगा।

द्रव्यकर्म एवं भावकर्म की इस आवधारणा के आधार पर जैन-कर्मसिद्धान्त अधिक युक्तिसंगत बन गया है। जैन कर्मसिद्धान्त कर्म के भावात्मक पक्ष पर समुचित बल देते हुए भी जड़ और चेतन के मध्य एक वास्तविक सम्बन्ध बनाने का प्रयास करता है। कर्म जड़-जागृ एवं चेतना के मध्य एक योजक कड़ी है। जहाँ एक ओर सांख्य-योग दर्शन के अनुसार कर्म-पूर्णतः जड़ प्रकृति से सम्बन्धित है। अतः उनके अनुसार वह प्रकृति ही है, जो बन्धन में आती है और मुक्त होती है। वहीं दूसरी ओर बौद्ध दर्शन के अनुसार कर्म संस्कार रूप है अतः वे चैतन्यिक हैं। इसलिए उन्हें मानना पड़ा कि चेतना ही बन्धन एवं मुक्ति का कारण है। किन्तु जैन विचारक इन एकांगी दृष्टिकोणों से सन्तुष्ट नहीं हो पाये। उनके अनुसार संसार का अर्थ है-- जड़ और चेतन का पारस्परिक बन्धन या उनकी पारस्परिक प्रभावशीलता तथा मुक्ति का अर्थ है-- जड़ एवं चेतन की एक दूसरे को प्रभावित करने की सामर्थ्य का समाप्त हो जाना।

भौतिक एवं अभौतिक पक्षों की पारस्परिक प्रभावकता

जिन दार्शनिकों ने चरम-सत्य के सम्बन्ध में अद्वैत की धारणा के स्थान पर द्वैत की धारणा स्वीकार की, उनके लिए यह प्रश्न बना रहा कि वे दोनों तत्त्व एक दूसरे को किस प्रकार प्रभावित करते हैं। अनेक विचारकों ने द्वैत को स्वीकारते हुए भी उनके पारस्परिक सम्बन्ध को अस्वीकार किया। किन्तु जगत् की व्याख्या इनके पारस्परिक सम्बन्ध के अभाव में सम्भव नहीं है। पश्चिम में यह समस्या देकार्त के सामने प्रस्तुत हुई थी। देकार्त ने इसका हल पारस्परिक प्रतिक्रियावाद के आधार पर किया भी, किन्तु स्पीनोजा उससे सन्तुष्ट नहीं हुए, उन्होंने प्रश्न उठाया कि दो स्वतन्त्र सत्ताओं में परस्पर प्रतिक्रिया सम्भव कैसे है ? अतः स्पीनोजा ने प्रतिक्रियावाद के स्थान पर समानान्तरवाद की स्थापना की। लाईबिनीज ने पूर्वस्थापित सामंजस्य की अवधारणा प्रस्तुत की²⁰। भारतीय चिन्तन में भी प्राचीन काल से इस सम्बन्ध में प्रयत्न हुए हैं। उसमें यह प्रश्न उठाया गया कि लिङ्गशरीर या कर्मशरीर आत्मा को कैसे प्रभावित कर सकता है ? सांख्य दर्शन पुरुष और प्रकृति के द्वैत को स्वीकार कर के भी इनको पारस्परिक सम्बन्ध को नहीं समझा पाया, क्योंकि उसने पुरुष को कूटस्थ नित्य मान लिया था, किन्तु जैन दर्शन ने अपने वस्तुवादी और परिणामवादी विचारों के आधार पर इनकी सफल व्याख्या की है। वह बताता है कि जिस प्रकार जड़ मादक पदार्थ चेतना को प्रभावित करते हैं, उसी प्रकार जड़ कर्मवर्णाओं का प्रभाव चेतन आत्मा पर पड़ता है, इसे स्वीकार किया जा सकता है। संसार का अर्थ है -- जड़ और चेतन का वास्तविक सम्बन्ध। इस सम्बन्ध की वास्तविकता को स्वीकार किये बिना जगत् की व्याख्या सम्भव नहीं है।

मूर्तकर्म का अमूर्त आत्मा पर प्रभाव

यह भी सत्य है कि कर्म मूर्त है और वे हमारी चेतना को प्रभावित करते हैं। जैसे मूर्त भौतिक विषयों का चेतन व्यक्ति से सम्बन्ध होने पर सुख-दुःख आदि का अनुभव या वेदना

होती है, वैसे ही कर्म के परिणाम स्वरूप भी वेदना होती है, अतः वे मूर्त हैं। किन्तु दार्शनिक दृष्टि से यह प्रश्न किया जा सकता है कि यदि कर्म मूर्त है तो, वह अमूर्त आत्मा पर प्रभाव कैसे डालेगा? जिस प्रकार वायु और अग्नि अमूर्त आकाश पर किसी प्रकार का प्रभाव नहीं डाल सकती है, उसी प्रकार कर्म का अमूर्त आत्मा पर भी कोई प्रभाव नहीं होना चाहिए। जैनदार्शनिक यह मानते हैं कि जैसे अमूर्त ज्ञानादि गुणों पर मूर्त मदिरादि का प्रभाव पड़ता है, वैसे ही अमूर्त जीव पर भी मूर्त कर्म का प्रभाव पड़ता है। उक्त प्रश्न का दूसरा तर्क-संगत एवं निर्दोष समाधान यह भी है कि कर्म के सम्बन्ध से आत्मा कथंचित् मूर्त भी है। क्योंकि संसारीआत्मा अनादिकाल से कर्मद्रव्य से सम्बद्ध है, इस अपेक्षा से आत्मा सर्वथा अमूर्त नहीं है, अपितु कर्म से सम्बद्ध होने के कारण स्वरूपतः अमूर्तः होते हुए भी वस्तुतः कथंचित् मूर्त है। इस दृष्टि से भी आत्मा पर मूर्तकर्म का उपघात, अनुग्रह और प्रभाव पड़ता है। वस्तुतः जिस पर कर्मसिद्धान्त का नियम लागू होता है, वह व्यक्तित्व अमूर्त नहीं है। हमारा वर्तमान व्यक्तित्व शरीर (भौतिक) और आत्मा (अभौतिक) का एक विशिष्ट संयोग है। शरीरी आत्मा भौतिक बाह्य तथ्यों से अप्रभावित नहीं रह सकता। जब तक आत्मा-शरीर (कर्म-शरीर) के बन्धन से मुक्त नहीं हो जाती, तब तक वह अपने को भौतिक प्रभावों से पूर्णतया अप्रभावित नहीं रख सकती। मूर्त शरीर के माध्यम से ही उस पर मूर्तकर्म का प्रभाव पड़ता है।

आत्मा और कर्मवर्गणाओं में वास्तविक सम्बन्ध स्वीकार करने पर यह प्रश्न उठता है कि मुक्त अवस्था में भी जड़ कर्मवर्गणाएँ आत्मा को प्रभावित किए बिना नहीं रहेंगी, क्योंकि मुक्ति-क्षेत्र में भी कर्मवर्गणाओं का अस्तित्व तो है ही। इस सन्दर्भ में जैन आचार्यों का उत्तर यह है कि जिस प्रकार कीचड़ में रहा लोहा जंग खाता है, परन्तु स्वर्ण नहीं, उसी प्रकार जड़कर्म पुद्गल उसी आत्मा को विकारी बना सकते हैं, जो राग-द्वेष से अशुद्ध है। वस्तुतः जब तक आत्मा भौतिक शरीर से युक्त होता है, तभी तक कर्मवर्गणा के पुद्गल उसे प्रभावित कर सकते हैं। आत्मा में पूर्व से उपस्थित कर्मवर्गणा के पुद्गल ही बाह्य-जगत् के कर्मवर्गणाओं को आकर्षित कर सकते हैं। मुक्त अवस्था में आत्मा अशरीरी होता है अतः उसे कर्मवर्गणा के पुद्गल प्रभावित करने में समर्थ नहीं होते हैं।

कर्म एवं उनके विपाक की परम्परा

कर्म एवं उनके विपाक की परम्परा से ही यह संसार-चक्र प्रवर्तित होता है। दार्शनिक दृष्टि से यह प्रश्न महत्त्वपूर्ण है कि कर्म और आत्मा का सम्बन्ध कब से हुआ यदि हम यह सम्बन्ध सादि अर्थात् काल विशेष में हुआ, ऐसा मानते हैं, तो यह मानना होगा कि उसके पहले आत्मा मुक्त था और यदि मुक्त आत्मा को बन्धन में आने की सम्भावना हो तो फिर मुक्ति का कोई मूल्य ही नहीं रह जाता है। यदि यह माना जाय कि आत्मा अनादिकाल से बन्धन में है, तो फिर यह मानना होगा कि यदि बन्धन अनादि है तो वह अनन्त भी होगा, ऐसी स्थिति में मुक्ति की सम्भावना ही समाप्त हो जायेगी।

जैन दार्शनिकों ने इस समस्या का समाधान इस रूप में किया कि कर्म और विपाक की यह परम्परा कर्म विशेष की अपेक्षा से तो सादि और सान्त है, किन्तु प्रवाह की अपेक्षा से

अनादि और अनन्त है। पुनः कर्म और विपाक की परम्परा का यह प्रवाह भी व्यक्ति विशेष की दृष्टि से अनादि तो है, अनन्त नहीं। क्योंकि प्रत्येक कर्म अपने बन्धन की दृष्टि से सादि हैं। यदि व्यक्ति नवीन कर्मों का आगमन रोक सके तो यह परम्परा स्वतः ही समाप्त हो जायेगी, क्योंकि कर्म-विशेष तो सादि है ही और जो सादि है, वह कभी समाप्त होगा ही।

जैन दार्शनिकों के अनुसार राग-द्वेष रूपी कर्मबीज के भून जाने पर कर्म प्रवाह की परम्परा समाप्त हो जाती है। कर्म और विपाक की परम्परा के सम्बन्ध में यही एक ऐसा दृष्टिकोण है जिसके आधार पर बन्धन का अनादित्व व मुक्ति से अनावृत्ति की समुचित व्याख्या सम्भव है।

कर्मफलसंविभाग का प्रश्न

क्या एक व्यक्ति अपने शुभाशुभ कर्मों का फल दूसरे को दे सकता है या नहीं अथवा दूसरे के कर्मों का फल उसे प्राप्त होता है या नहीं, यह दार्शनिक दृष्टि से एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न है। भारतीय चिन्तन में हिन्दूपरम्परा मानती है कि व्यक्ति के शुभाशुभ कर्मों का फल उसके पूर्वजों व सन्तानों को मिल सकता है। इस प्रकार वह इस सिद्धान्त को मानती है कि कर्मफल का संविभाग सम्भव है।²¹ इसके विपरीत बौद्ध परम्परा कहती है कि व्यक्ति के पुण्यकर्म का ही संविभाग हो सकता है, पापकर्म का नहीं। क्योंकि पापकर्म में उसकी अनुमति नहीं होती है। पुनः उनके अनुसार पाप सीमित होता है अतः इसका संविभाग नहीं हो सकता, किन्तु पुण्य के अपरिमित होने से उसका ही संविभाग सम्भव है।²² किन्तु इस सम्बन्ध में जैनों का दृष्टिकोण भिन्न है, उनके अनुसार व्यक्ति अपने कर्मों का फल विपाक न तो दूसरों को दे सकता है और न दूसरे के शुभाशुभ कर्मों का फल उसे मिल सकता है। जैन दार्शनिक स्पष्ट रूप से यह कहते हैं कि कर्म और उसका विपाक व्यक्ति का अपना स्वकृत होता है।²³

जैन कर्मसिद्धान्त में कर्मफलसंविभाग का अर्थ समझने के लिए हमें निमित्त कारण और उपादान कारण के भेद को समझना होगा। दूसरा व्यक्ति हमारे सुख-दुःख में और हम दूसरे के सुख-दुःख में निमित्त हो सकते हैं, किन्तु भोक्ता और कर्ता तो वही होता है। अतः उपादान की दृष्टि से तो कर्म और उसका विपाक अर्थात् सुख-दुःख का अनुभव स्वकृत है। निमित्त की दृष्टि से उन्हें परकृत कहा जा सकता है, किन्तु निमित्त अपने आप में महत्त्वपूर्ण नहीं है; क्योंकि कर्म संकल्प तो हमारा अपना ही होता है एवं कर्म के विपाक की अनुभूति भी हमारी ही होती है। अतः उपादान कारण की दृष्टि से तो कर्म एवं उसके विपाक में संविभाग सम्भव नहीं है। न तो दूसरा व्यक्ति हमें सुखी या दुःखी कर सकता है और न हम दूसरे को सुखी या दुःखी कर सकते हैं। हम अधिक से अधिक दूसरे के सुख-दुःख के निमित्त हो सकते हैं। लेकिन ऐसी निमित्तता तो भौतिक पदार्थों के सन्दर्भ में भी होती है। सत्य तो यह है कि कर्म और उसका विपाक दोनों ही व्यक्ति के अपने होते हैं।

कर्मविपाक की नियतता व अनियतता

कर्मसिद्धान्त की दृष्टि से यह प्रश्न भी महत्त्वपूर्ण है कि क्या जिन कर्मों का बन्ध किया गया है, उनका विपाक व्यक्ति को भोगना ही होता है। जैन कर्मसिद्धान्त में कर्मों को दो भागों में बांटा गया है -- 1. नियतविपाकी और 2. अनियतविपाकी। कुछ कर्म ऐसे होते हैं, जिनका जिस फलविपाक को लेकर बन्ध किया गया है, उसी रूप में उनके फल के विपाक का वेदन करना होता है, किन्तु इसके अतिरिक्त कुछ कर्म ऐसे भी होते हैं, जिनके विपाक का वेदन उसी रूप में नहीं करना होता, जिस रूप में उनका बन्ध होता है। जैन कर्मसिद्धान्त मानता है कि जो कर्म तीव्र कषायों से उद्भूत होते हैं उनका बन्ध भी प्रगाढ़ होता है और विपाक भी नियत होता है। पारम्परिक शब्दावली में उन्हें निकाचित कहते हैं। इसके विपरीत जिन कर्मों के सम्पादन के पीछे कषायभाव अल्प होता है, उनका बन्धन शिथिल होता है और उनके विपाक का संवेदन आवश्यक नहीं होता है। वे तप एवं पश्चाताप के द्वारा अपना फल विपाक दिये बिना ही समाप्त हो जाते हैं।

वैयक्तिक दृष्टि से सभी आत्माओं में कर्मविपाक परिवर्तन करने की क्षमता नहीं होती है। केवल वे ही व्यक्ति जो आध्यात्मिक उंचाई पर स्थित हैं, कर्मविपाक में परिवर्तन कर सकते हैं। पुनः वे भी उन्हीं कर्मों के विपाक को अन्यथा कर सकते हैं, जिनका बन्ध अनियतविपाकी कर्म के रूप में हुआ है। नियतविपाकी कर्मों का भोग तो अनिवार्य है। इस प्रकार जैन कर्मसिद्धान्त अपने को नियतिवाद और यदृच्छावाद दोनों की एकांगिकता से बचाता है।

वरन्तुतः कर्मसिद्धान्त में कर्मविपाक की नियतता और अनियतता की विरोधी धारणाओं के समन्वय के अभाव में नैतिक जीवन की यथार्थ व्याख्या सम्भव नहीं हाती है। यदि एकान्त रूप से कर्मविपाक की नियतता को स्वीकार किया जाता है, तो नैतिक आचरण का चाहे निषेधात्मक रूप में कुछ सामाजिक मूल्य बना रहे, लेकिन उसका विधायक मूल्य तो पूर्णतया समाप्त हो जाता है, क्योंकि नियत भविष्य के बदलने की सामर्थ्य नैतिक जीवन में नहीं रह पाती है। दूसरे, यदि कर्मों को पूर्णतः अनियतविपाकी माना जाये, तो नैतिक व्यवस्था का ही कोई अर्थ नहीं रह जाता है। विपाक की पूर्णनियतता मानने पर निर्धारणवाद और विपाक की पूर्ण अनियतता मानने पर अनिर्धारणवाद की सम्भावना होगी, लेकिन दोनों ही धारणाएँ ऐकान्तिक रूप में नैतिक जीवन की समुचित व्याख्या कर पाने में असमर्थ हैं। अतः कर्मविपाक की आंशिक नियतता ही एक तर्कसंगत दृष्टिकोण है, जो नैतिक दर्शन की सम्यक् व्याख्या प्रस्तुत करता है।

कर्म की विभिन्न अवस्थाएँ²⁴

जैन दर्शन में कर्मों की विभिन्न अवस्थाओं पर चिन्तन हुआ है और बताया गया है कि कर्म के बन्ध और विपाक (उदय) के बीच कौन-कौन सी अवस्थाएँ घटित हो सकती हैं, पुनः वे किस सीमा तक आत्मस्वातन्त्र्य को कुण्ठित करती हैं अथवा किसी सीमा तक आत्मस्वातन्त्र्य को अभिव्यक्त करती हैं, इसकी चर्चा भी की गयी है। ये अवस्थाएँ निम्न हैं --

1. बन्ध -- कषाय एवं योग के फलस्वरूप कर्मवर्णा के पुद्गलों का आत्मप्रदेशों से जो

सम्बन्ध स्थापित होता है, उसे बन्ध कहते हैं।

2. संक्रमण -- एक कर्म के अनेक अवान्तर भेद होते हैं। जैन कर्मसिद्धान्त के अनुसार कर्म का एक भेद अपने सजातीय दूसरे भेद में बदल सकता है। अवान्तर कर्म-प्रकृतियों का यह अदल-बदल संक्रमण कहलाता है। संक्रमण में आत्मा पूर्वबद्ध कर्म प्रकृति का नवीन कर्मप्रकृति का बन्ध करते समय रूपान्तरण करता है। उदाहरण के रूप में पूर्व बद्ध दुःखद संवेदन रूप असातावेदनीय कर्म का नवीन सातावेदनीय कर्म का बन्ध करते समय सातावेदनीय कर्म के रूप में संक्रमण किया जा सकता है। संक्रमण की यह क्षमता आत्मा की पवित्रता के साथ ही बढ़ती जाती है। जो आत्मा जितनी पवित्र होती है, उसमें संक्रमण की क्षमता भी उतनी ही अधिक होती है। आत्मा में कर्मप्रकृतियों के संक्रमण की सामर्थ्य होना यह बताता है, जहाँ अपवित्र आत्माएँ परिस्थितियों की दास होती हैं, वहीं पवित्र आत्मा परिस्थितियों की स्वामी होती हैं। यहाँ यह भी ज्ञातव्य है कि प्रथम तो मूल कर्मप्रकृतियों का एक दूसरे में कर्मा भी संक्रमण नहीं होता है जैसे ज्ञानावरण दर्शनावरण में नहीं बदलता है। मात्र यही नहीं, दर्शनमोह कर्म, चारित्रमोह कर्म और आयुष्य कर्म की आवान्तर प्रकृतियों का भी परस्पर संक्रमण नहीं होता है।

3. उद्वर्तना -- नवीन बन्ध करते समय आत्मा पूर्वबद्ध कर्मों की काल-मर्यादा (स्थिति) और तीव्रता (अनुभाग) को बढ़ा भी सकता है। काल-मर्यादा और तीव्रता को बढ़ाने की यह प्रक्रिया उद्वर्तना कहलाती है।

4. अपवर्तना -- नवीन बन्ध करते समय पूर्व बद्ध कर्मों की काल-मर्यादा (स्थिति) तीव्रता (अनुभाग) को कम भी किया जा सकता है, इसे अपवर्तना कहते हैं।

5. सत्ता -- कर्म के बद्ध होने के पश्चात् तथा उसके विपाक से पूर्व बीच की अवस्था सत्ता कहलाती है। सत्ता काल में कर्म अस्तित्व में तो रहता है, किन्तु वह सक्रिय नहीं होता।

6. उदय -- जब कर्म अपना फल देना प्रारम्भ करते हैं तो वह अवस्था उदय कहलाती है। उदय दो प्रकार का माना गया है -- 1. विपाकोदय और 2. प्रदेशोदय। कर्म का अपना अपने फल की चेतन अनुभूति कराये बिना ही निर्जरित होना प्रदेशोदय कहलाता है। जैसे अचेतन अवस्था में शल्य क्रिया की वेदना की अनुभूति नहीं होती, यद्यपि वेदना की घटना घटित होती है। इसी प्रकार बिना अपनी फलानुभूति करवाये जो कर्म परमाणु आत्मा से निर्जरित होते हैं, उनका उदय प्रदेशोदय होता है। इसके विपरीत जिन कर्मों की अपने विपाक के समय फलानुभूति होती है उनका उदय विपाकोदय कहलाता है। ज्ञातव्य है कि विपाकोदय में प्रदेशोदय अनिवार्य रूप से होता है, लेकिन प्रदेशोदय में विपाकोदय हो, यह आवश्यक नहीं है।

7. उदीरणा -- अपने नियतकाल से पूर्व ही पूर्वबद्ध कर्मों को प्रयासपूर्वक उदय में लाकर उनके फलों को भोगना, उदीरणा है। ज्ञातव्य है कि जिस कर्मप्रकृति का उदय या भोग चल रहा हो, उसकी सजातीय कर्मप्रकृति की ही उदीरणा सम्भव होती है।

8. उपशमन -- उदय में आ रहे कर्मों के फल देने की शक्ति को कुछ समय के लिए दबा देना अथवा काल-विशेष के लिए उन्हें फल देने से अक्षम बना देना उपशमन है। उपशमन में कर्म की

सत्ता समाप्त नहीं होती, मात्र उसे काल विशेष के लिए फल देने में अक्षम बना दिया जाता है। इसमें कर्म राख से दबी अग्नि के समान निष्क्रिय होकर सत्ता में बने रहते हैं।

9. निधत्ति -- कर्म की वह अवस्था निधत्ति है, जिसमें कर्म न तो अपने अवान्तर भेदों में रूपान्तरित या संक्रमित हो सकते हैं और न अपना फल प्रदान कर सकते हैं, लेकिन कर्मों की समय-मर्यादा और विपाक-तीव्रता (परिमाण) को कम अधिक किया जा सकता है अर्थात् इस अवस्था में उत्कर्षण और अपकर्षण सम्भव है, संक्रमण नहीं।

10. निकाचना -- कर्मों के बन्धन का इतना प्रगाढ़ होना कि उनकी काल-मर्यादा एवं तीव्रता में कोई भी परिवर्तन न किया जा सके, न समय से पूर्व उनका भोग ही किया जा सके, निकाचना कहलाता है। इस दशा में कर्म का जिस रूप में बन्धन हुआ होता है, उसको उसी रूप में अनिवार्यतया भोगना पड़ता है।

इस प्रकार जैन कर्मसिद्धान्त में कर्म के फल विपाक की नियतता और अनियतता को सम्यक् प्रकार से समन्वित करने का प्रयास किया गया है तथा यह बताया गया है कि जैसे-जैसे आत्मा कषायों से मुक्त होकर आध्यात्मिक विकास की दिशा में बढ़ता है, वह कर्म के फल विपाक की नियतता को समाप्त करने में सक्षम होता जाता है। कर्म कितना बलवान होगा यह बात मात्र कर्म के बल पर निर्भर नहीं है, अपितु आत्मा की पवित्रता पर भी निर्भर है। इन अवस्थाओं का चित्रण यह भी बताता है कि कर्मों का विपाक या उदय एक अलग स्थिति है तथा उनसे नवीन कर्मों का बन्ध होना या न होना यह एक अलग स्थिति है। कषाय-युक्त प्रमत्त आत्मा कर्मों के उदय में नवीन कर्मों का बन्ध करता है, इसके विपरीत कषाय-मुक्त अप्रमत्त आत्मा कर्मों के विपाक में नवीन कर्मों का बन्ध नहीं करता है, मात्र पूर्वबद्ध कर्मों को निर्जरित करता है।

कर्म का शुभत्व और अशुभत्व²⁵

कर्मों को सामान्यतया शुद्ध (अकर्म), शुभ और अशुभ, ऐसे तीन वर्गों में विभक्त किया गया है। तुलनात्मक दृष्टि से इन्हें निम्न तालिका से सपष्ट किया जा सकता है :-

कर्म	जैन	बौद्ध	गीता	पाश्चात्य
1. शुद्ध	ईर्यापथिक	अव्यक्तकर्म	अकर्म	अनैतिक कर्म
2. शुभ	पुण्यकर्म	कुशल(शुक्ल)कर्म	कर्म	नैतिक कर्म
3. अशुभ	पाप कर्म	अकुशल(कृष्ण)कर्म	विकर्म	अनैतिक कर्म

जैन दर्शन में कर्म के बन्धक होने के आधार पर मुख्य रूप से दो विभाग किये गये हैं --
1. ईर्यापथिक और 2 साम्परायिक। इनमें साम्परायिक कर्म को पुनः दो विभागों में विभाजित किया गया है -- (अ) अशुभ (पाप) और (ब) शुभ (पुण्य)। आगे हम इसी सन्दर्भ में चर्चा करेंगे।

अशुभ या पाप कर्म

जैन आचार्यों ने पाप की यह परिभाषा दी है कि -- वैयक्तिक सन्दर्भ में जो आत्मा को बन्धन में डालें जिसके कारण आत्मा का पतन हो, जो आत्मा के आनन्द का शोषण करे और आत्मशक्तियों का क्षय करे, वह पाप है²⁶। सामाजिक सन्दर्भ में जो परपीड़ा या दूसरों के दुःख का कारण है, वह पाप है (पापाय परपीडन)। वस्तुतः जिस विचार एवं आचार से अपना और पर का अहित हो और जिससे अनिष्ट फल की प्राप्ति हो वह पाप है। नैतिक जीवन की दृष्टि से वे सभी कर्म जो स्वार्थ, घृणा या अज्ञान के कारण दूसरे का अहित करने की दृष्टि से किये जाते हैं, पाप कर्म हैं। इतना ही नहीं, सभी प्रकार के दुर्विचार और दुर्भावनाएँ भी पाप कर्म हैं।

पाप या अकुशल कर्मों का वर्गीकरण

जैन दार्शनिकों के अनुसार पाप कर्म 18 प्रकार के हैं -- 1. प्राणातिपात (हिंसा), 2. मृषावाद (असत्य भाषण) 3. अदत्तादान (चौर्य कर्म), 4. मैथुन (काम-विकार), 5. परिग्रह (ममत्व, मूर्खा, तृष्णा या संचयवृत्ति), 6. क्रोध (गुस्सा), 7. मान (अहंकार), 8. माया (कपट, छल, षड्यन्त्र और कूटनीति), 9. लोभ (संचय या संग्रह की वृत्ति), 10. राग (आसक्ति), 11. द्वेष (घृणा, तिरस्कार, ईर्ष्या आदि), 12. क्लेश (संघर्ष, कलह, लड़ाई, झगड़ा आदि), 13. अभ्याख्यान (दोषारोपण), 14. पिशुनता (चुगली), 15. परपरिवाद (परनिन्दा), 16. रति-अरति (हर्ष और शोक), 17. माया-मृषा (कपट सहित असत्य भाषण), 18. मिथ्यादर्शनशल्य (अयथार्थ जीवनदृष्टि)।²⁷

पुण्य (कुशल कर्म)

पुण्य वह है जिसके कारण सामाजिक एवं भौतिक स्तर पर समत्व की स्थापना होती है। मन, शरीर और बाह्य परिवेश में सन्तुलन बनाना यह पुण्य का कार्य है। पुण्य क्या है इसकी व्याख्या में तत्त्वार्थसूत्रकार कहते हैं -- शुभासव पुण्य है²⁸, लेकिन पुण्य मात्र आसव नहीं है, वह बन्ध और विपाक भी है। वह हेय ही नहीं है, उपादेय भी है। अतः अनेक आचार्यों ने उसकी व्याख्या दूसरे प्रकार से की है। आचार्य हेमचन्द्र पुण्य की व्याख्या करते हुए कहते हैं कि-- पुण्य (अशुभ) कर्मों का लाघव है और शुभ कर्मों का उदय है।²⁹ इस प्रकार आचार्य हेमचन्द्र की दृष्टि में पुण्य अशुभ (पाप) कर्मों की अल्पता और शुभ कर्मों के उदय के फलस्वरूप प्राप्त प्रशस्त अवस्था का द्योतक है। पुण्य के निर्वाण की उपलब्धि में सहायक स्वरूप की व्याख्या आचार्य अभयदेव की स्थानांगसूत्र की टीका में मिलती है। आचार्य अभयदेव कहते हैं कि पुण्य वह है जो आत्मा को पवित्र करता है अथवा पवित्रता की ओर ले जाता है।³⁰ आचार्य की दृष्टि में पुण्य आध्यात्मिक साधना में सहायक तत्त्व है। मुनि सुशील कुमार लिखते हैं कि-- "पुण्य मोक्षार्थियों की नौका के लिए अनुकूल वायु है, जो नौका को भवसागर से शीघ्र पार करा देती है।"³¹ जैन कवि बनारसीदास जी समयसार नाटक में कहते हैं कि -- "जिससे भावों की विशुद्धि हो, जिससे आत्मा आध्यात्मिक विकास की ओर बढ़ता है और जिससे इस

संसार में भौतिक समृद्धि और सुख मिलता है, वही पुण्य है।³²

जैन तत्त्वज्ञान के अनुसार, पुण्य-कर्म वे शुभ पुद्गल-परमाणु हैं, जो शुभवृत्तियों एवं क्रियाओं के कारण आत्मा की ओर आकर्षित हो बन्ध करते हैं और अपने विपाक के अवसर पर शुभ अद्यवसायों, शुभ विचारों एवं क्रियाओं की ओर प्रेरित करते हैं तथा आध्यात्मिक, मानसिक एवं भौतिक अनुकूलताओं के संयोग प्रस्तुत कर देते हैं। आत्मा की वे मनोदशाएँ एवं क्रियाएँ भी पुण्य कहलाती हैं जो शुभ पुद्गल परमाणु को आकर्षित करती हैं। साथ ही दूसरी ओर वे पुद्गल-परमाणु जो उन शुभ वृत्तियों एवं क्रियाओं को प्रेरित करते हैं और अपने प्रभाव से आरोग्य, सम्पत्ति एवं सम्यक् श्रद्धा, ज्ञान एवं संयम के अवसर उपस्थित करते हैं, पुण्य कहे जाते हैं। शुभ मनोवृत्तियाँ भावपुण्य हैं और शुभ पुद्गल-परमाणु द्रव्यपुण्य हैं।

पुण्य या कुशल कर्मों का वर्गीकरण

भगवतीसूत्र में अनुकम्पा, सेवा, परोपकार आदि शुभ-प्रवृत्तियों को पुण्योपाजन का कारण कहा गया है।³³ स्थानांगसूत्र में नौ प्रकार के पुण्य निरूपित है³⁴ --

1. अन्नपुण्य -- भोजनादि देकर क्षुधार्त की क्षुधा-निवृत्ति करना।
2. पानपुण्य -- तृषा (प्यास) से पीड़ित व्यक्ति को पानी पिलाना।
3. लयनपुण्य -- निवास के लिए स्थान देना जैसे धर्मशालाएँ आदि बनवाना।
4. शयनपुण्य -- शय्या, बिछौना आदि देना।
5. वस्त्रपुण्य -- वस्त्र का दान देना।
6. मनपुण्य -- मन से शुभ विचार करना। जगत् के मंगल की शुभकामना करना।
7. वचनपुण्य-- प्रशस्त एवं संतोष देनेवाली वाणी का प्रयोग करना।
8. कायपुण्य -- रोगी, दुःखित एवं पूज्य जनों की सेवा करना।
9. नमस्कारपुण्य -- गुरुजनों के प्रति आदर प्रकट करने के लिए उनका अभिवादन करना।

पुण्य और पाप (शुभ और अशुभ) की कसौटी

शुभाशुभता या पुण्य-पाप के निर्णय के दो आधार हो सकते हैं -- (1) कर्म का बाह्य-स्वरूप अर्थात् समाज पर उसका प्रभाव और (2) कर्ता का अभिप्राय। इन दोनों में कौन-सा आधार यथार्थ है, यह विवाद का विषय रहा है। गीता और बौद्ध-दर्शन में कर्ता के अभिप्राय को ही कृत्यों की शुभाशुभता का सच्चा आधार माना गया। गीता स्पष्ट रूप से कहती है कि -- जिसमें कर्तृत्व भाव नहीं है, जिसकी बुद्धि निर्लिप्त है, वह इन सब लोगों को मार डाले तो भी यह समझना चाहिए कि उसने न तो किसी को मारा है और न वह उस कर्म से बन्धन को प्राप्त होता है।³⁵ धम्मपद में बुद्ध-वचन भी ऐसा ही है (नैष्कर्म्यस्थिति को प्राप्त) ब्राह्मण माता-पिता को, दो क्षत्रिय राजाओं को एवं प्रजासहित राष्ट्र को मारकर भी निष्पाप होकर जाता है।³⁶ बौद्ध दर्शन में कर्ता के अभिप्राय को ही पुण्य-पाप का आधार माना गया है। इसका प्रमाण सूत्रकृतांगसूत्र के आद्रक सम्वाद में भी मिलता है।³⁷ जहाँ तक जैन मान्यता का प्रश्न है, विद्वानों के अनुसार उसमें भी कर्ता के अभिप्राय को ही कर्म की शुभाशुभता का

आधार माना गया है। मुनि सुशीलकुमारजी जैनधर्म पृ. १६० पर लिखते हैं, "शुभ-अशुभ कर्म के बन्ध का मुख्य आधार मनोवृत्तियां ही हैं। एक डॉक्टर किसी को पीड़ा पहुंचाने के लिए उसका व्रण चीरता है। उससे चाहे रोगी को लाभ ही हो जाये परन्तु डॉक्टर तो पाप-कर्म के बन्ध का ही भागी होगा। इसके विपरीत वही डॉक्टर करुणा अपनी शुभ-भावना के कारण पुण्य का बन्ध करता है।" पंडित सुखलालजी भी यही कहते हैं, पुण्य-बन्ध और पाप-बन्ध की कसौटी केवल ऊपरी क्रिया नहीं है, किन्तु उसकी यथार्थ कसौटी कर्त्ता का आशय ही है (दर्शन और चिन्तन खण्ड २. पृ. २२६)।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि जैन धर्म में भी कर्मों की शुभाशुभता के निर्णय का आधार मनोवृत्तियां ही हैं, फिर भी उसमें कर्म का बाह्य-स्वरूप उपेक्षित नहीं है। निश्चयदृष्टि से तो मनोवृत्तियां ही कर्मों की शुभाशुभता की निर्णायक हैं, फिर भी व्यवहारदृष्टि से कर्म का बाह्य-स्वरूप भी शुभाशुभता का निश्चय करता है। सूत्रकृतांग (२/६) में आद्रककुमार बौद्धों की एकांगी धारणा का निरसन करते हुए कहते हैं कि जो मांस खाता हो -- चाहे न जानते हुए भी खाता हो -- तो भी उसको पाप लगता ही है। हम जानकर नहीं खाते, इसलिए दोष (पाप) नहीं लगता, ऐसा कहना असत्य नहीं तो क्या है ? इससे स्पष्ट है कि जैन दृष्टि में मनोवृत्ति के साथ ही कर्मों का बाह्य-स्वरूप भी शुभाशुभता की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। वास्तव में सामाजिक दृष्टि या लोक-व्यवहार में तो यही प्रमुख निर्णायक होता है। सामाजिक न्याय में तो कर्म का बाह्य स्वरूप ही उसकी शुभाशुभता का निश्चय करता है, क्योंकि आन्तरिक वृत्ति को व्यक्ति स्वयं जान सकता है, दूसरा नहीं। जैन दृष्टि एकांगी नहीं है, वह समन्वयवादी और सापेक्षवादी है। वह व्यक्ति-सापेक्ष होकर मनोवृत्ति को कर्मों की शुभाशुभता का निर्णायक मानती है और समाज-सापेक्ष होकर कर्मों के बाह्य स्वरूप पर उनकी शुभाशुभता का निश्चय करती है। उसमें द्रव्य (बाह्य) और भाव (आन्तरिक) दोनों का मूल्य है। योग (बाह्य क्रिया) और भाव (मनोवृत्ति) दोनों ही बन्धन के कारण माने गये हैं, यद्यपि उसमें मनोवृत्ति शुभ हो और क्रिया अशुभ हो, यह सम्भव नहीं। मन में शुभ भाव हो तो पापाचरण सम्भव नहीं है। वह एक समालोचक दृष्टि से कहती है कि मन में शुभ भाव हो तो पापाचरण सम्भव नहीं है। वह एक समालोचक दृष्टि से कहती है कि मन में सत्य को समझते हुए भी बाहर से दूसरी बातें (अशुभाचरण) करना क्या संयमी पुरुषों का लक्षण है ? उसकी दृष्टि में सिद्धान्त और व्यवहार में अन्तर आत्मप्रवंचना है। मानसिक हेतु पर ही जोर देने वाली धारणा का निरसन करते हुए सूत्रकृतांग (१/१/२४-२६) में कहा गया है, कर्म-बन्धन का सत्य ज्ञान नहीं बताने वाले इस वाद को मानने वाले कितने ही लोग संसार में फंसते रहते हैं कि पाप लगने के तीन स्थान हैं-- स्वयं करने से, दूसरे से कराने से, दूसरों के कार्य का अनुमोदन करने से। परन्तु यदि हृदय पाप-मुक्त हो तो इन तीनों के करने पर भी निर्वाण अवश्य मिले। यह वाद अज्ञान है, मन से पाप को पाप समझते हुए जो दोष करता है, उसे निर्दोष नहीं माना जा सकता, क्योंकि वह संयम (वासना-निग्रह) में शिथिल है। परन्तु भोगासक्त लोग उक्त बातें मानकर पाप में पड़े हैं।

पाश्चात्य आचारदर्शन में भी सुखवादी दार्शनिक कर्म की फलश्रुति के आधार पर उनकी शुभाशुभता का निश्चय करते हैं, जब कि मार्टिन्सू कर्मप्रेरक पर उनकी शुभाशुभता का निश्चय करता है। जैन दर्शन के अनुसार इन दोनों पाश्चात्य विचारणाओं में अपूर्ण सत्य है -- एक का आधार लोकदृष्टि है तथा दूसरी का आधार परमार्थ-दृष्टि या शुद्ध-दृष्टि है। एक व्यावहारिक सत्य है और दूसरा पारमार्थिक सत्य। नैतिकता व्यवहार से परमार्थ की ओर प्रयाण है, अतः उसमें दोनों का ही मूल्य है।

कर्त्ता के अभिप्राय को शुभाशुभता के निर्णय का आधार मानें, या कर्म के समाज पर होने वो परिणाम को, दोनों स्थितियों में किस प्रकार का कर्म पुण्य-कर्म या उचित कर्म कहा जायेगा, इस प्रश्न पर विचार करना आवश्यक प्रतीत होता है। सामान्यतया भारतीय चिन्तन में पुण्य-पाप की विचारणा के सन्दर्भ में सामाजिक दृष्टि ही प्रमुख है। जहां कर्म-अकर्म का विचार व्यक्ति-सापेक्ष है, तो वैयक्तिक कर्म-प्रेरक या वैयक्तिक चेतना की विशुद्धता (वीतरागता) ही हमारे निर्णय का आधार बनती है। लेकिन जब हम पुण्य-पाप का विचार करते हैं तो समाजकल्याण या लोकहित ही हमारे निर्णय का आधार होता है। वस्तुतः भारतीय चिन्तन में जीवनादर्श तो शुभाशुभत्व की सीमा से ऊपर उठना है। उस सन्दर्भ में वीतराग या अनासक्त जीवनदृष्टि का निर्माण ही व्यक्ति का परम साध्य माना गया है और वही कर्म के बन्धन या अबन्धन का आधार है, लेकिन शुभ और अशुभ दोनों में ही राग तो होता ही है, राग के अभाव में तो कर्म शुभाशुभ से ऊपर उठकर अतिनैतिक (शुद्ध) होगा। शुभाशुभ कर्मों में प्रमुखता राग की उपस्थिति या अनुपस्थिति की नहीं, वरन् उसकी प्रशस्तता या अप्रशस्तता की है। प्रशस्त-राग शुभ या पुण्यबन्ध का कारण माना गया है और अप्रशस्त-राग अशुभ या पापबन्ध का कारण है। राग की प्रशस्तता उसमें द्वेष की कमी के आधार पर निर्भर करती है। यद्यपि राग और द्वेष साथ-साथ रहते हैं, तथापि जिस राग के साथ द्वेष की मात्रा जितनी अल्प और मन्द होगी वह राग उतना प्रशस्त होगा और जिस राग के साथ द्वेष की मात्रा और तीव्रता जितनी अधिक होगी, राग उतना ही अप्रशस्त होगा।

द्वेषविहीनराग या प्रशस्तराग ही निष्काम प्रेम कहा जाता है। उस प्रेम से परार्थ या परोपकारवृत्ति का उदय होता है जो शुभ का सृजन करती है। उसी से लोक-मंगलकारी प्रवृत्तियों के रूप में पुण्य-कर्म निस्सृत होते हैं, जबकि द्वेषयुक्त अप्रशस्त राग ही घृणा को जन्म देकर स्वार्थ-वृत्ति का विकास करता है। उससे अशुभ, अमंगलकारी पापकर्म निस्सृत होते हैं। संक्षेप में जिस कर्म के पीछे प्रेम और परार्थ होता है, वह पुण्य कर्म है और जिस कर्म के पीछे घृणा और स्वार्थ होता है, वह पाप कर्म है।

जैन आचारदर्शन पुण्य कर्मों के वर्गीकरण में जिन तथ्यों पर अधिक जोर देता है वे सभी समाज-सापेक्ष हैं। वस्तुतः शुभ-अशुभ के वर्गीकरण में सामाजिक दृष्टि ही प्रधान है। भारतीय चिन्तकों की दृष्टि में पुण्य और पाप की समग्र चिन्तन का सार निम्न कथन में समाया हुआ है कि 'परोपकार पुण्य है और परपीड़न पाप है।' जैन विचारकों ने पुण्य-बन्ध के दान, सेवा आदि जिन कारणों का उल्लेख किया है उनका प्रमुख सम्बन्ध सामाजिक कल्याण या लोक

मंगल से है। इसी प्रकार पाप के रूप में जिन तथ्यों का उल्लेख किया गया है, वे सभी लोक अमंगलकारी तत्त्व हैं।³⁸ इस प्रकार जहाँ तक शुभ-अशुभ या पुण्य-पाप के वर्गीकरण का प्रश्न है, हमें सामाजिक सन्दर्भ में उसे देखना होगा, यद्यपि बन्धन की दृष्टि से विचार करते समय कर्त्ता के आशय को भुलाया नहीं जा सकता।

सामाजिक जीवन में आचरण के शुभत्व का आधार

यह सत्य है कि कर्म के शुभत्व और अशुभत्व का निर्णय अन्य प्राणियों या समाज के प्रति किये गये व्यवहार अथवा दृष्टिकोण के सन्दर्भ में होता है, लेकिन अन्य प्राणियों के प्रति हमारा कौन-सा व्यवहार या दृष्टिकोण शुभ होगा और कौन-सा अशुभ होगा इसका निर्णय किस आधार पर किया जाये ? भारतीय चिन्तन ने इस सन्दर्भ में जो कसौटी प्रदान की है, वह यही है कि जैसा व्यवहार हम अपने लिए प्रतिकूल समझते हैं वैसा आचरण दूसरे के प्रति नहीं करना और जैसा व्यवहार हमें अनुकूल है वैसा व्यवहार दूसरे के प्रति करना यही शुभाचरण है। इसके विपरीत जो व्यवहार हमें अपने लिए प्रतिकूल लगता है वैसा व्यवहार दूसरे के प्रति करना और जैसा व्यवहार हमें अपने लिए अनुकूल लगता है वैसा व्यवहार दूसरों के प्रति नहीं करना अशुभाचरण है। भारतीय ऋषियों का यही संदेश है। संक्षेप में सभी प्राणियों के प्रति आत्मवत् दृष्टि ही व्यवहार के शुभत्व का प्रमाण है।

जैन दर्शन के अनुसार जिस व्यक्ति में संसार के सभी प्राणियों के प्रति आत्मवत् दृष्टि है, वही नैतिक कर्मों का स्रष्टा है। दशवैकालिकसूत्र में कहा गया है कि समस्त प्राणियों को जो अपने समान समझता है और जिसका सभी के प्रति समभाव है, वह पाप-कर्म का बन्ध नहीं करता।³⁹ सूत्रकृतांग के अनुसार भी धर्म-अधर्म (शुभाशुभत्व) के निर्णय में अपने समान दूसरे को समझना चाहिए।⁴⁰

शुभ और अशुभ से शुद्ध की ओर

जैन दृष्टिकोण -- जैन विचारणा में शुभ-अशुभ अथवा मंगल-अमंगल की वास्तविकता स्वीकार की गयी है। उत्तराध्ययनसूत्र के अनुसार तत्त्व नौ हैं जिनमें पुण्य और पाप स्वतन्त्र तत्त्व हैं।⁴¹ तत्त्वार्थसूत्रकार उमास्वाति ने जीव, अजीव, आस्रव, संवर, निर्जरा, बन्ध और मोक्ष ये सात तत्त्व गिनाये हैं, इनमें पुण्य और पाप को नहीं गिनाया है।⁴² लेकिन यह विवाद महत्त्वपूर्ण नहीं क्योंकि जो परम्परा उन्हें स्वतंत्र तत्त्व नहीं मानती है वह भी उनको आस्रव तत्त्व के अन्तर्गत मान लेती है। यद्यपि पुण्य और पाप मात्र आस्रव नहीं हैं, वरन् उनका बन्ध भी होता है और विपाक भी होता है। अतः आस्रव के शुभास्रव और अशुभास्रव ये दो विभाग करने से काम नहीं बनता, बल्कि बन्ध और विपाक में भी दो-दो भेद करने होंगे। इस कठिनाई से बचने के लिए ही पाप एवं पुण्य को स्वतंत्र तत्त्वों के रूप में गिन लिया गया है।

फिर भी जैन विचारणा निर्वाण-मार्ग के साधक के लिए दोनों को हेय और त्याज्य मानती है, क्योंकि दोनों ही बन्धन के कारण हैं। वस्तुतः नैतिक जीवन की पूर्णता शुभाशुभ या पुण्य-पाप से ऊपर उठ जाने में है। शुभ (पुण्य) और अशुभ (पाप) का भेद जब तक बना

रहता है, नैतिक पूर्णता नहीं आती। अशुभ पर पूर्ण विजय के साथ ही व्यक्ति शुभ (पुण्य) से भी ऊपर उठकर शुद्ध दशा में स्थित हो जाता है। ऋषिभाषित सूत्र में ऋषि कहता है कि पूर्वकृत पुण्य और पाप संसार संतति के मूल है⁴³। आचार्य कुन्दकुन्द पुण्य-पाप दोनों को बन्धन का कारण कहकर दोनों के बन्धकत्व का अन्तर भी स्पष्ट कर देते हैं। समयसार में वे कहते हैं कि-- अशुभ कर्म पाप (कुशील) और शुभ कर्म पुण्य (सुशील) कहे जाते हैं, फिर भी पुण्य कर्म एवं पाप कर्म दोनों ही संसार (बन्धन) का कारण है जिस प्रकार स्वर्ण की बेड़ी भी लौह-बेड़ी के समान ही व्यक्ति को बन्धन में रखती है, उसी प्रकार जीवकृत सभी शुभाशुभ कर्म भी बन्धन के कारण हैं।⁴⁴ फिर भी आचार्य पुण्य को स्वर्ण-बेड़ी कहकर उसकी पाप से किंचित श्रेष्ठता सिद्ध कर देते हैं। आचार्य अमृतचन्द्र का कहना है कि पारमार्थिक दृष्टि से पुण्य और पाप दोनों में भेद नहीं किया जा सकता, क्योंकि अन्ततोगत्त्वा दोनों ही बन्धन हैं।⁴⁵ यही बात पं. जयचन्द्रजी भी कहते हैं --

पुण्य पाप दोऊ करम, बन्धरूप दुई मानि ।

शुद्ध आत्मा जिन लह्यो, नमूं चरन हित जानि ।।⁴⁶

जैनाचार्यों ने पुण्य को निर्वाण की दृष्टि से हेय मानते हुए भी उसे निर्वाण का सहायक तत्त्व स्वीकार किया है। निर्वाण प्राप्त करने के लिए अन्ततोगत्त्वा पुण्य को त्यागना ही होता है, फिर भी वह निर्वाण में ठीक उसी प्रकार सहायक है जैसे साबुन वस्त्र के मैल को साफ करने में सहायक है फिर भी उसे अलग करना होता है, वैसे ही निर्वाण या शुद्धात्म-दशा में पुण्य का होना भी अनावश्यक है, उसे भी छोड़ना होता है। जिस प्रकार साबुन मल को दूर करता है और मैल कूटने पर स्वयं अलग हो जाता है, वैसे ही पुण्य भी पापरूप मल को अलग करने में सहायक होता है। अतः व्यक्ति जब अशुभ (पाप) कर्म से ऊपर उठ जाता है, तब उसका शुभ कर्म भी शुद्ध कर्म बन जाता है। द्वेष पर पूर्ण विजय पा जाने पर राग भी नहीं रहता है, अतः राग-द्वेष के अभाव में उससे जो कर्म निस्सृत होते हैं, वे शुद्ध (ईर्यापथिक) होते हैं। जैनाचारदर्शन में राग-द्वेष से रहित होकर किया गया शुद्ध कार्य ही मोक्ष या निर्वाण का कारण माना गया है और आसक्तिपूर्वक किया गया शुभ कार्य भी बन्धन का कारण माना गया है। यहाँ पर गीता का अनासक्त कर्म-योग जैन दर्शन के अत्यन्त समीप आ जाता है। जैन दर्शन के अनुसार आत्मा का लक्ष्य अशुभ कर्म से शुभ कर्म की ओर और शुभकर्म से शुद्धकर्म (वीतराग दशा) की प्राप्ति है। आत्मा का शुद्धोपयोग ही जैन धर्म का अन्तिम साध्य है।

शुद्ध कर्म (अकर्म)

शुद्ध कर्म वह जीवन-व्यवहार है, जिसमें क्रियाएँ राग-द्वेष से रहित मात्र कर्तव्यबुद्धि से सम्पादित होती हैं तथा जो आत्मा को बन्धन में नहीं डालतीं। अबन्धक कर्म ही शुद्धकर्म हैं। जैन आचारदर्शन इस प्रश्न पर गहराई से विचार करती हैं कि आचरण (क्रिया) एवं बन्धन में क्या सम्बन्ध है? क्या 'कर्मणा बध्यते जन्तुः' की उक्ति सर्वांशतः सत्य है? एक तो कर्म या क्रिया के सभी रूप बन्धन की दृष्टि से समान नहीं है फिर यह भी सम्भव है कि आचरण एवं क्रिया के

होते हुए भी कोई बन्धन नहीं हो। लेकिन यह निर्णय कर पाना कि बन्धक कर्म क्या है और अबन्धक कर्म क्या है, अत्यन्त कठिन है। गीता कहती है कि कर्म (बन्धक कर्म) क्या है और अकर्म (अबन्धक कर्म) क्या है, इसके विषय में विद्वान भी मोहित हो जाते हैं।⁴⁷ कर्म के यथार्थ स्वरूप के ज्ञान का विषय अत्यन्त गहन है। यह कर्म-समीक्षा का विषय अत्यन्त गहन और दुष्कर क्यों है, इस प्रश्न का उत्तर हमें जैनागम सूत्रकृतांग में भी मिलता है। उसमें कहा गया है कि कर्म, क्रिया या आचरण समान होने पर भी बन्धन की दृष्टि से वे भिन्न-भिन्न प्रकृति के हो सकते हैं। मात्र आचरण, कर्म या पुरुषार्थ को देखकर यह निर्णय देना सम्भव नहीं कि वह नैतिक दृष्टि से किस प्रकार का है। ज्ञानी और अज्ञानी दोनों ही समान वीरता को दिखाते हुए (अर्थात् समानरूप से कर्म करते हुए) भी अधूरे ज्ञानी और सर्वथा अज्ञानी का, चाहे जितना पराक्रम (पुरुषार्थ) हो, पर वह अशुद्ध है और कर्म-बन्ध का कारण है, परन्तु ज्ञान एवं बोध सहित मनुष्य का पराक्रम शुद्ध है और उसे उसका कुछ फल नहीं भोगना पड़ता। योग्य रीति से किया हुआ तप भी यदि कीर्ति की इच्छा से किया गया हो तो शुद्ध नहीं होता।⁴⁸ बन्धन की दृष्टि से कर्म का विचार उसके बाह्य-स्वरूप के आधार पर ही नहीं किया जा सकता, उसमें कर्ता का प्रयोजन, कर्ता का विवेक एवं देशकालगत परिस्थितियाँ भी महत्त्वपूर्ण हैं और कर्मों का ऐसा सर्वांगपूर्ण विचार करने में विद्वत् वर्ग भी कठिनाई में पड़ जाता है। कर्म में कर्ता के प्रयोजन को, जो कि एक आन्तरिक तथ्य है, जान पाना सहज नहीं होता।

लेकिन, कर्ता के लिए जो कि अपनी मनोदशा का ज्ञान भी है, यह आवश्यक है कि कर्म और अकर्म का यथार्थ स्वरूप समझें, क्योंकि उसके अभाव में मुक्ति सम्भव नहीं है। कृष्ण अर्जुन से कहते हैं कि -- मैं तुझे कर्म के उस रहस्य को बताऊँगा जिसे जानकर तू मुक्त हो जायेगा।⁴⁹ नैतिक विकास के लिए बन्धक और अबन्धक कर्म के यथार्थ स्वरूप को जानना आवश्यक है। बन्धन की दृष्टि से कर्म के यथार्थ स्वरूप के सम्बन्ध में जैन, बौद्ध तथा गीता के आचारदर्शनों का दृष्टिकोण निम्नानुसार है --

जैन दर्शन में कर्म-अकर्म विचार

कर्म के यथार्थ स्वरूप को समझने के लिए उस पर दो दृष्टियों से विचार किया जा सकता है। (1) उसकी बन्धनात्मक शक्ति के आधार पर और (2) उसकी शुभाशुभता के आधार पर। बन्धनात्मक शक्ति के आधार पर विचार करने पर हम पाते हैं कि कुछ कर्म बन्धन में डालते हैं, और कुछ कर्म बन्धन में नहीं डालते हैं। बन्धक कर्मों को कर्म और अबन्धक कर्मों को अकर्म कहा जाता है। जैन दर्शन में कर्म और अकर्म के यथार्थ स्वरूप का विवेचन हमें सर्वप्रथम आचारांग एवं सूत्रकृतांग में मिलता है। सूत्रकृतांग में कहा गया है कि कुछ कर्म और अकर्म को वीर्य (पुरुषार्थ) कहते हैं।⁵⁰ इसका तात्पर्य यह है कि कुछ विचारकों की दृष्टि में सक्रियता ही पुरुषार्थ या नैतिकता है, जबकि दूसरे विचारकों की दृष्टि में निष्क्रियता ही पुरुषार्थ या नैतिकता है। इस सम्बन्ध में महावीर अपने दृष्टिकोण को प्रस्तुत करते हुए यह स्पष्ट करने का प्रयास करते हैं कि 'कर्म का अर्थ शरीरादि की चेष्टा एवं अकर्म का अर्थ शरीरादि की चेष्टा का अभाव' ऐसा नहीं मानना चाहिए। वे अत्यन्त सीमित शब्दों में कहते हैं कि प्रमाद कर्म है,

अप्रमाद अकर्म है।⁵¹ ऐसा कहकर महावीर यह स्पष्ट कर देते हैं कि अकर्म निष्क्रियता नहीं, वह तो सतत् जागस्कता है। अप्रमत्त अवस्था या आत्म-जागृति की दशा में क्रियाशीलता भी अकर्म हो जाती है, जबकि प्रमत्त दशा या आत्म-जागृति के अभाव में निष्क्रियता भी कर्म (बन्धन) बन जाती है। वस्तुतः किसी क्रिया का बन्धकत्व मात्र क्रिया के घटित होने में नहीं, वरन् उसके पीछे रहे हुए कषाय-भावों एवं राग-द्वेष की स्थिति पर निर्भर है। जैन दर्शन के अनुसार, राग-द्वेष एवं कषाय (जो कि आत्मा की प्रमत्त दशा हैं) ही किसी क्रिया को कर्म बना देते हैं, जबकि कषाय एवं आसक्ति से रहित होकर किया हुआ कर्म अकर्म बन जाता है। महावीर ने स्पष्ट रूप से कहा है कि -- जो आस्रव या बन्धन कारक क्रियाएँ हैं, वे ही अनासक्ति एवं विवेक से समन्वित होकर मुक्ति का साधन बन जाती हैं।⁵² इस प्रकार जैन विचारणा में कर्म और अकर्म अपने बाह्य-स्वरूप की अपेक्षा कर्ता के विवेक और मनोवृत्ति पर निर्भर होते हैं।

ईयापथिक कर्म और साम्प्रदायिक कर्म^{५३}

जैन दर्शन में बन्धन की दृष्टि से क्रियाओं को दो भागों में बाँटा गया है -- (1) ईयापथिक क्रियाएँ (अकर्म) और (2) साम्प्रदायिक क्रियाएँ (कर्म)। ईयापथिक क्रियाएँ निष्काम वीतरागदृष्टिसम्पन्न व्यक्ति की क्रियाएँ हैं, जो बन्धनकारक नहीं हैं और साम्प्रदायिक क्रियाएँ आसक्त व्यक्ति की क्रियाएँ हैं, जो बन्धनकारक हैं। संक्षेप में वे समस्त क्रियाएँ जो आस्रव एवं बन्ध की कारण हैं, कर्म हैं और वे समस्त क्रियाएँ जो संवर एवं निर्जरा की हेतु हैं, अकर्म हैं। जैन दृष्टि में अकर्म या ईयापथिक कर्म का अर्थ है -- राग-द्वेष एवं मोह रहित होकर मात्र कर्तव्य अथवा शरीर-निर्वाह के लिए किया जाने वाला कर्म। कर्म का अर्थ है -- राग-द्वेष और मोह से युक्त कर्म, वह बन्धन में डालता है, इसलिए वह कर्म है। जो क्रिया व्यापार राग-द्वेष और मोह से रहित होकर कर्तव्य या शरीरनिर्वाह के लिए किया जाता है, वह बन्धन का कारण नहीं है, अतः अकर्म है। जिन्हें जैन दर्शन में ईयापथिक क्रियाएँ या अकर्म कहा गया है, उन्हें बौद्ध परम्परा अनुपचित, अव्यक्त या अकृष्ण-अशुक्ल कर्म कहती हैं और जिन्हें जैन-परम्परा साम्प्रदायिक क्रियाएँ या कर्म कहती हैं, उन्हें बौद्ध परम्परा उपचित कर्म या कृष्ण-शुक्ल कर्म कहती हैं। इस सम्बन्ध में विस्तार से विचार करना आवश्यक है।

बन्धन के कारणों में मिथ्यात्व और कषाय की प्रमुखता का प्रश्न^{५४}

जैन कर्मसिद्धान्त के उद्भव व विकास की चर्चा करते हुए हमने बन्धन के पाँच सामान्य कारणों का उल्लेख किया था। वैसे जैन ग्रन्थों में भिन्न-भिन्न कर्मों के बन्धन के भिन्न-भिन्न कारणों की विस्तृत चर्चा भी उपलब्ध होती है। किन्तु सामान्य रूप से बन्धन के 5 कारण माने गए हैं -- 1. मिथ्यात्व 2. अविरति 3. प्रमाद और 4. कषाय और 5. योग।

इन पाँच कारणों में योग को अर्थात् मानसिक, वाचिक व शारीरिक क्रियाओं को बन्धन का कारण कहा गया है, किन्तु हमें स्मरण रखना चाहिए कि यदि पूर्व के चार का अभाव हो, तो मात्र योग से कर्मवर्गणाओं का असाव होकर, जो बन्ध होगा, वह ईयापथिक बन्ध कहलाता है।

उसके सन्दर्भ में कहा गया है उसका प्रथम समय में बन्ध होता है और दूसरे समय में निर्जरा हो जाती है। ईर्यापथिक बन्ध ठीक वैसा ही है, जैसे चलते समय शुभ्र आद्रता से रहित कपड़े पर गिरे हुए बालू के कण, जो गति की प्रक्रिया में ही आते हैं और फिर अलग भी हो जाते हैं। वस्तुतः यह बन्ध वास्तविक बन्ध नहीं है। अतः हम समझते हैं कि इन 5 कारणों में योग महत्त्वपूर्ण कारण नहीं है। यद्यपि अविरति, प्रमाद एवं कषाय को अलग-अलग कारण कहा गया है, किन्तु इनमें भी बहुत अन्तर नहीं है। जब हम प्रमाद को व्यापक अर्थ में लेते हैं तब कषायों का अन्तर्भाव प्रमाद में हो जाता है। दूसरे कषायों की उपस्थिति में ही प्रमाद सम्भव होता है। उनकी अनुपस्थिति में प्रमाद सामान्यतया तो रहता ही नहीं है और यदि रहे भी तो अति निर्बल होता है। इसी प्रकार अविरति के मूल में भी कषाय ही होते हैं। यदि हम कषाय को व्यापक अर्थ में लें तो अविरति और प्रमाद दोनों उसी में अन्तर्भावित हो जाते हैं। अतः बन्धन के दो ही प्रमुख कारण शेष रहते हैं -- मिथ्यात्व और कषाय।

मिथ्यात्व एवं कषाय में कौन प्रमुख कारण है, यह वर्तमान युग में एक बहुचर्चित विषय है। इस सन्दर्भ में पक्ष व प्रतिपक्ष में पर्याप्त लेख लिखे गये हैं। आचार्य विद्यासागरजी एवं उनके समर्थक विद्वत् वर्ग का कहना है कि मिथ्यात्व अकिंचितकर है और कषाय ही बन्धन का प्रमुख कारण है, क्योंकि कषाय की उपस्थिति के कारण ही मिथ्यात्व होता है। कानजीरस्वामी समर्थक दूसरे वर्ग का कहना है कि मिथ्यात्व ही बन्धन का प्रमुख कारण है। वस्तुतः यह विवाद अपने-अपने एकांगी दृष्टिकोणों के कारण है। कषाय और मिथ्यात्व ये दोनों ही अन्योन्याश्रित हैं। कषाय के अभाव में मिथ्यात्व की सत्ता नहीं रहती और न मिथ्यात्व के अभाव में कषाय ही रहते हैं। मिथ्यात्व तभी समाप्त होता है, जब अनन्तानुबन्धी कषायें समाप्त होते हैं और कषायें भी तभी समाप्त होने लगते हैं, जब मिथ्यात्व का प्रहाण होता है। वे ताप और प्रकाश के समान सहजीवी हैं। इनमें एक के अभाव में दूसरे की सत्ता क्षीण होने लगती है। वैसे मिथ्यात्व, अज्ञान एवं मोह का पर्यायवाची है। आवेगों अर्थात् कषायों की उपस्थिति में ही मोह या मिथ्यात्व सम्भव होता है। वास्तविकता यह है कि मोह (मिथ्यात्व) से कषाय उत्पन्न होते हैं और कषायों के कारण ही मोह (मिथ्यात्व) होता है। अतः कषाय और मिथ्यात्व अन्योन्याश्रित हैं और बीज एवं वृक्ष की भाँति इनमें से किसी की पूर्व कोटि निर्धारित नहीं की जा सकती है।

यदि हम इसी प्रश्न पर बौद्ध दृष्टि से विचार करें तो उसमें सामान्यतया लोभ (राग), द्वेष एवं मोह को बन्धन का कारण कहा गया है। बौद्ध परम्परा में भी इनको परस्पर सापेक्ष ही माना गया है। मोह को बौद्ध परम्परा में अविद्या भी कहा गया है। बौद्ध विचारणा यह मानती है कि अविद्या (मोह) के कारण तृष्णा (राग) होती है और तृष्णा के कारण मोह होता है। आचार्य नरेन्द्रदेव लिखते हैं लोभ एवं द्वेष का हेतु मोह है, किन्तु पर्याय से लोभ व मोह भी द्वेष के हेतु हैं। बौद्ध दर्शन में भी जैन दर्शन के समान ही अविद्या और तृष्णा को अन्योन्याश्रित माना गया है और कहा गया है कि इनमें से किसी की भी पूर्व कोटि निर्धारित करना सम्भव नहीं है। सांख्य एवं योग दर्शन में क्लेश या बन्धन के 5 कारण हैं -- अविद्या, अस्मिता (अहंकार), राग, द्वेष, अभिनिवेश। इनमें भी अविद्या प्रमुख है। शेष चारों उसी पर आधारित हैं। न्याय दर्शन भी जैन और बौद्धों के समान ही राग-द्वेष एवं मोह को बन्धन का कारण मानता है। इस प्रकार

लगभग सभी दर्शन प्रकारान्तर से राग-द्वेष एवं मोह (मिथ्यात्व) को बन्धन का कारण मानते हैं।

बन्धन के चार प्रकारों से बन्धनों के कारण का सम्बन्ध^{५५}

जैन कर्म सिद्धान्त में बन्धन के चार प्रास्प कहे गए हैं :- 1. प्रकृति बन्ध, 2. प्रदेश बन्ध, 3. स्थिति बन्ध एवं 4. अनुभाग बन्ध।

1. प्रकृतिबन्ध -- बन्धन के स्वभाव का निर्धारण प्रकृति बन्ध करता है। यह, यह निश्चय करता है कि कर्मवर्गणा के पुद्गल आत्मा की ज्ञान, दर्शन आदि किस शक्ति को आवृत्त करेगा।
2. प्रदेश बन्ध -- यह कर्मपरमाणुओं की आत्मा के साथ संयोजित होने वाली मात्रा का निर्धारण करता है। अतः यह मात्रात्मक होता है।
3. स्थितिबन्ध -- कर्मपरमाणु कितने समय तक आत्मा से संयोजित रहेंगे और कब निर्जरित होंगे, इस काल-मर्यादा का निश्चय स्थिति-बन्ध करता है। अतः यह बन्धन की समय-मर्यादा का सूचक है।
4. अनुभागबन्ध -- कर्मों के बन्धन और विपाक की तीव्रता एवं मन्दता का निश्चय करना, यह अनुभाग बन्ध का कार्य है। दूसरे शब्दों में यह बन्धन की तीव्रता या गहनता का सूचक है।

उपरोक्त चार प्रकार के बन्धनों में प्रकृति बन्ध एवं प्रदेश बन्ध का सम्बन्ध मुख्यतया योग अर्थात् कायिक, वाचिक एवं मानसिक क्रियाओं से है, जबकि बन्धन की तीव्रता (अनुभाग) एवं समयावधि (स्थिति) का निश्चय कर्म के पीछे रही हुई कषाय-वृत्ति और मिथ्यात्व पर आधारित होता है। संक्षेप में योग का सम्बन्ध प्रदेश एवं प्रकृति बन्ध से है, जबकि कषाय का सम्बन्ध स्थिति एवं अनुभाग बन्ध से है।

आठ प्रकार के कर्म और उनके बन्धन के कारण^{५६}

जिस रूप में कर्मपरमाणु आत्मा की विभिन्न शक्तियों के प्रकटन का अवरोध करते हैं और आत्मा का शरीर से सम्बन्ध स्थापित करते हैं -- उनके अनुसार उनके विभाग किये जाते हैं। जैनदर्शन के अनुसार कर्म आठ प्रकार के हैं -- 1. ज्ञानावरणीय 2. दर्शनावरणीय 3. वेदनीय 4. मोहनीय 5. आयुष्य 6. नाम 7. गोत्र और 8. अन्तराय।

1. ज्ञानावरणीय कर्म --

जिस प्रकार बादल सूर्य के प्रकाश को ढँक देते हैं, उसी प्रकार जो कर्मवर्गणाएँ आत्मा की ज्ञानशक्ति को ढँक देती हैं और ज्ञान की प्राप्ति में बाधक बनती हैं, वे ज्ञानावरणीय कर्म कही जाती हैं।

ज्ञानावरणीय कर्म के बन्धन के कारण -- जिन कारणों से ज्ञानावरणीय कर्म के परमाणु आत्मा से संयोजित होकर ज्ञान-शक्ति को कुंठित करते हैं, वे छः हैं --

1. प्रदोष -- ज्ञानी का अवर्णवाद (निन्दा) करना एवं उसके अवगुण निकालना।

2. निह्नव -- ज्ञानी का उपकार स्वीकार न करना अथवा किसी विषय को जानते हुए भी उसका अपलाप करना ।
3. अन्तराय -- ज्ञान की प्राप्ति में बाधक बनना, ज्ञानी एवं ज्ञान के साधन पुस्तकादि को नष्ट करना ।
4. मात्सर्य -- विद्वानों के प्रति द्वेष-बुद्धि रखना, ज्ञान के साधन पुस्तक आदि में अरुचि रखना ।
5. असादना -- ज्ञान एवं ज्ञानी पुरुषों के कथनों को स्वीकार नहीं करना, उनका समुचित विनय नहीं करना ।
6. उपघात -- विद्वानों के साथ मिथ्याग्रह युक्त विसंवाद करना अथवा स्वार्थवश सत्य को असत्य सिद्ध करने का प्रयत्न करना । उपर्युक्त छः प्रकार का अनैतिक आचरण व्यक्ति की ज्ञानशक्ति के कुंठित होने का कारण है ।

ज्ञानावरणीय कर्म का विपाक -- विपाक की दृष्टि से ज्ञानावरणीय कर्म के कारण पाँच रूपों में आत्मा की ज्ञान-शक्ति का आवरण होता है -- (1) मतिज्ञानावरण -- ऐन्द्रिक एवं मानसिक ज्ञान-क्षमता का अभाव, (2) श्रुतज्ञानावरण -- बौद्धिक अथवा आगमज्ञान की अनुपलब्धि, (3) अवधि ज्ञानावरण -- अतीन्द्रिय ज्ञान-क्षमता का अभाव, (4) मनःपर्याय ज्ञानावरण -- दूसरे की मानसिक अवस्थाओं का ज्ञान प्राप्त कर लेने की शक्ति का अभाव, (5) केवलज्ञानावरण -- पूर्णज्ञान प्राप्त करने की क्षमता का अभाव ।

कहीं-कहीं विपाक की दृष्टि से इसके 10 भेद भी बताये गये हैं-- 1. सुनने की शक्ति का अभाव, 2. सुनने से प्राप्त होने वाले ज्ञान की अनुपलब्धि, 3. दृष्टि शक्ति का अभाव, 4. दृश्यज्ञान की अनुपलब्धि, 5. गंधग्रहण करने की शक्ति का अभाव, 6. गन्ध सम्बन्धी ज्ञान की अनुपलब्धि, 7. स्वाद ग्रहण करने की शक्ति का अभाव, 8. स्वाद सम्बन्धी ज्ञान की अनुपलब्धि, 9. स्पर्श-क्षमता का अभाव और 10. स्पर्श सम्बन्धी ज्ञान की अनुपलब्धि ।

2. दर्शनावरणीय कर्म

जिस प्रकार द्रवरपाल राजा के दर्शन में बाधक होता है, उसी प्रकार जो कर्मवर्गीणाएँ आत्मा की दर्शन-शक्ति में बाधक होती हैं, वे दर्शनावरणीय कर्म कहलाती हैं । ज्ञान से पहले होने वाला वस्तु-तत्त्व का निर्विशेष (निर्विकल्प) बोध, जिसमें सत्ता के अतिरिक्त किसी विशेष गुण धर्म की प्राप्ति नहीं होती, दर्शन कहलाता है । दर्शनावरणीय कर्म आत्मा के दर्शन-गुण को आवृत्त करता है ।

दर्शनावरणीय कर्म के बन्ध के कारण -- ज्ञानावरणीय कर्म के समान ही छः प्रकार के अशुभ आचरण के द्वारा दर्शनावरणीय कर्म का बन्ध होता है -- (1) सम्यक् दृष्टि की निन्दा (छिद्रान्तेषण) करना अथवा उसके प्रति अकृतज्ञ होना, (2) मिथ्यात्व या असत् मान्यताओं का प्रतिपादन करना, (3) शुद्ध दृष्टिकोण की उपलब्धि में बाधक बनना, (4) सम्यक्दृष्टि का

समुचित विनय एवं सम्मान नहीं करना, (5) सम्यक्दृष्टि पर द्वेष करना (6) सम्यक्दृष्टि के साथ मिथ्याग्रह सहित विवाद करना।

दर्शनावरणीय कर्म का विपाक -- उपर्युक्त अशुभ आचरण के कारण आत्मा का दर्शन गुण नौ प्रकार से कुंठित हो जाता है -- (1) चक्षुदर्शनावरण-- नेत्रशक्ति का अवरुद्ध हो जाना। (2) अचक्षुदर्शनावरण-- नेत्र के अतिरिक्त शेष इन्द्रियों की सामान्य अनुभवशक्ति का अवरुद्ध हो जाना। (3) अवधिदर्शनावरण-- सीमित अतीन्द्रिय दर्शन की उपलब्धि में बाधा उपस्थित होना। (4) केवल दर्शनावरण-- परिपूर्ण दर्शन की उपलब्धि का नहीं होना। (5) निद्रा-- सामान्य निद्रा। (6) निद्रानिद्रा-- गहरी निद्रा। (7) प्रचला-- बैठे-बैठे आ जाने वाली निद्रा। (8) प्रचला-प्रचला-- चलते-फिरते भी आ जाने वाली निद्रा। (9) स्त्यानगृद्धि-- जिस निद्रा में प्राणी बड़े-बड़े बल-साध्य कार्य कर डालता है। अन्तिम दो अवस्थाएँ आधुनिक मनोविज्ञान के द्विविध व्यक्तित्व के समान मानी जा सकती हैं। उपर्युक्त पाँच प्रकार की निद्राओं के कारण व्यक्ति की सहज अनुभूति की क्षमता में अवरोध उत्पन्न हो जाता है।

3. वेदनीय कर्म --

जिसके कारण सांसारिक सुख-दुःख की संवेदना होती है, उसे वेदनीय कर्म कहते हैं। इसके दो भेद हैं -- 1. सातावेदनीय और 2. असातावेदनीय। सुख रूप संवेदना का कारण सातावेदनीय और दुःख रूप संवेदना का कारण असातावेदनीय कर्म कहलाता है।

सातावेदनीय कर्म के कारण -- दस प्रकार का शुभाचरण करने वाला व्यक्ति सुखद-संवेदना रूप सातावेदनीय कर्म का बन्ध करता है -- (1) पृथ्वी, पानी आदि के जीवों पर अनुकम्पा करना। (2) वनस्पति, वृक्ष, लतादि पर अनुकम्पा करना। (3) द्वैन्द्रिय आदि प्राणियों पर दया करना। (4) पंचेन्द्रिय पशुओं एवं मनुष्यों पर अनुकम्पा करना। (5) किसी को भी किसी प्रकार से दुःख न देना। (6) किसी भी प्राणी को चिन्ता एवं भय उत्पन्न हो ऐसा कार्य न करना। (7) किसी भी प्राणी को शोकाकुल नहीं बनाना। (8) किसी भी प्राणी को रुदन नहीं कराना। (9) किसी भी प्राणी को नहीं मारना और (10) किसी भी प्राणी को प्रताड़ित नहीं करना। कर्मग्रन्थों में सातावेदनीय कर्म के बन्धन का कारण गुरुभक्ति, क्षमा, कर्षणा, व्रतपालन, योग-साधना, कषायविजय, दान और दृढश्रद्धा माना गया है। तत्त्वार्थसूत्रकार का भी यही दृष्टिकोण है।

सातावेदनीय कर्म का विपाक-- उपर्युक्त शुभाचरण के फलस्वरूप प्राणी निम्न प्रकार की सुखद संवेदना प्राप्त करता है -- (1) मनोहर, कर्णप्रिय, सुखद स्वर श्रवण करने को मिलते हैं, (2) सुस्वादु भोजन-पानादि उपलब्ध होती है, (3) वांछित सुखों की प्राप्ति होती है, (4) शुभ वचन, प्रशंसादि सुनने का अवसर प्राप्त होता है, (5) शारीरिक सुख मिलता है।

असातावेदनीय कर्म के कारण-- जिन अशुभ आचरणों के कारण प्राणी को दुःखद संवेदना प्राप्त होती है। वे 12 प्रकार के हैं -- (1) किसी भी प्राणी को दुःख देना, (2) चिन्तित बनाना, (3) शोकाकुल बनाना, (4) रूलाना, (5) मारना और (6) प्रताड़ित करना, इन छः क्रियाओं

की मन्दता और तीव्रता के आधार पर इनके बारह प्रकार हो जाते हैं। तत्त्वार्थसूत्र के अनुसार-- (1) दुःख (2) शोक (3) ताप (4) आक्रन्दन (5) वध और (6) परिदेवन ये छः असातावेदनीय कर्म के बन्ध के कारण हैं, जो 'स्व' और 'पर' की अपेक्षा से 12 प्रकार के हो जाते हैं। स्व एवं पर की अपेक्षा पर आधारित तत्त्वार्थसूत्र का यह दृष्टिकोण अधिक संगत है। कर्मग्रन्थ में सातावेदनीय के बन्ध के कारणों के विपरीत गुरु का अविनय, अक्षमा, क्रूरता, अविरति, योगाभ्यास नहीं करना, कषाययुक्त होना, तथा दान एवं श्रद्धा का अभाव असातावेदनीय कर्म के कारण माने गये हैं। इन क्रियाओं के विपाक के रूप में आठ प्रकार की दुःखद संवेदनाएँ प्राप्त होती हैं -- (1) कर्ण-कटु, कर्कश स्वर सुनने को प्राप्त होते हैं (2) अमनोज्ञ एवं सौन्दर्यविहीन रूप देखने को प्राप्त होता है, (3) अमनोज्ञ गन्धों की उपलब्धि होती है, (4) स्वादविहीन भोजनादि मिलता है, (5) अमनोज्ञ, कठोर एवं दुःखद संवेदना उत्पन्न करने वाले स्पर्श की प्राप्ति होती है, (6) अमनोज्ञ मानसिक अनुभूतियों का होना, (7) निन्दा अपमानजनक वचन सुनने को मिलते हैं और (8) शरीर में विविध रोगों की उत्पत्ति से शरीर को दुःखद संवेदनाएँ प्राप्त होती हैं।

4. मोहनीय कर्म

जैसे मदिरा आदि नशीली वस्तु के सेवन से विवेक-शक्ति कुंठित हो जाती है, उसी प्रकार जिन कर्म-परमाणुओं से आत्मा की विवेक-शक्ति कुंठित होती है और अनैतिक आचरण में प्रवृत्ति होती है, उन्हें मोहनीय (विमोहित करने वाले) कर्म कहते हैं। इसके दो भेद हैं-- दर्शनमोह और चारित्रमोह।

मोहनीय कर्म के बन्ध के कारण-- सामान्यतया मोहनीय कर्म का बन्ध छः कारणों से होता है-- (1) क्रोध, (2) अहंकार, (3) कपट, (4) लोभ, (5) अशुभाचरण और (6) विवेकाभाव (विमृष्टता)। प्रथम पाँच से चारित्रमोह का और अन्तिम से दर्शनमोह का बन्ध होता है। कर्मग्रन्थ में दर्शनमोह और चारित्रमोह के बन्धन के कारण अलग-अलग बताये गये हैं। दर्शनमोह के कारण है-- उन्मार्ग देशना, सन्मार्ग का अपलाप, धार्मिक सम्पत्ति का अपहरण और तीर्थकर, मुनि, चैत्य (जिन-प्रतिमाएँ) और धर्म-संघ के प्रतिकूल आचरण। चारित्रमोह कर्म के बन्धन के कारणों में कषाय, हास्य आदि तथा विषयों के अधीन होना प्रमुख हैं। तत्त्वार्थ-सूत्र में सर्वज्ञ, श्रुत, संघ, धर्म और देव के अवर्णवाद (निन्दा) को दर्शनमोह का तथा कषायजनित आत्म-परिणाम को चारित्रमोह का कारण माना गया है। समवायांगसूत्र में तीव्रतम मोहकर्म के बन्धन के तीस कारण बताये गये हैं -- (1) जो किसी त्रस प्राणी को पानी में डुबाकर मारता है। (2) जो किसी त्रस प्राणी को तीव्र अशुभ अद्यवसाय से मस्तक को गीला चमड़ा बांधकर मारता है। (3) जो किसी त्रस प्राणी को मुँह बाँध कर मारता है। (4) जो किसी त्रस प्राणी को अग्नि के धुएँ से मारता है। (5) जो किसी त्रस प्राणी के मस्तक का छेदन करके मारता है। (6) जो किसी त्रस प्राणी को छल से मारकर हँसता है। (7) जो मायाचार करके तथा असत्य बोलकर अपना अनाचार छिपाता है। (8) जो अपने दुराचार को छिपाकर दूसरे पर कलंक लगाता है। (9) जो कलह बढ़ाने के लिए जानता हुआ मिश्र भाषा

बोलता है। (10) जो पति-पत्नी में मतभेद पैदा करता है तथा उन्हें मार्मिक वचनों से झेंपा देता है। (11) जो स्त्री में आसक्त व्यक्ति अपने-आपको कुंवारा कहता है। (12) जो अत्यन्त कामुक व्यक्ति अपने आप को ब्रह्मचारी कहता है। (13) जो चापलूसी करके अपने स्वामी को ठगता है। (14) जो जिनकी कृपा से समृद्ध बना है, ईर्ष्या से उनके ही कार्यों में विघ्न डालता है। (15) जो प्रमुख पुरुष की हत्या करता है। (16) जो संयमी को पथभ्रष्ट करता है। (17) जो अपने उपकारी की हत्या करता है। (18) जो प्रसिद्ध पुरुष की हत्या करता है। (19) जो महान् पुरुषों की निन्दा करता है। (20) जो न्यायमार्ग की निन्दा करता है। (21) जो आचार्य, उपाध्याय एवं गुरु की निन्दा करता है। (22) जो आचार्य, उपाध्याय एवं गुरु का अविनय करता है। (23) जो अबहुश्रुत होते हुए भी अपने-आपको बहुश्रुत कहता है। (24) जो तपस्वी न होते हुए भी अपने-आपको तपस्वी कहता है। (25) जो अस्वस्थ आचार्य आदि की सेवा नहीं करता। (26) जो आचार्य आदि कुशास्त्र का प्ररूपण करते हैं। (27) जो आचार्य आदि अपनी प्रशंसा के लिए मंत्रादि का प्रयोग करते हैं। (28) जो इहलोक और परलोक में भोगोपभोग पाने की अभिलाषा करता है। (29) जो देवताओं की निन्दा करता है या करवाता है। (30) जो असर्वज्ञ होते हुए भी अपने आपको सर्वज्ञ कहता है।

(अ) दर्शन-मोह -- जैन-दर्शन में दर्शन शब्द तीन अर्थों में प्रयुक्त हुआ है-- (1) प्रत्यक्षीकरण, (2) दृष्टिकोण और (3) श्रद्धा। प्रथम अर्थ का सम्बन्ध दर्शनावरणीय कर्म से है, जबकि दूसरे और तीसरे अर्थ का सम्बन्ध मोहनीय कर्म से है। दर्शन-मोह के कारण प्राणी में सम्यक् दृष्टिकोण का अभाव होता है और वह मिथ्या धारणाओं एवं विचारों का शिकार रहता है, उसकी विवेकबुद्धि असंतुलित होती है। दर्शनमोह तीन प्रकार का है-- (1) मिथ्यात्व मोह-- जिसके कारण प्राणी असत्य को सत्य तथा सत्य को असत्य समझता है। शुभ को अशुभ और अशुभ को शुभ मानना मिथ्यात्व मोह है। (2) सम्यक्-मिथ्यात्व मोह-- सत्य एवं असत्य तथा शुभ एवं अशुभ के सम्बन्ध में अनिश्चयात्मकता और (3) सम्यक्त्व मोह-- क्षायिक सम्यक्त्व की उपलब्धि में बाधक सम्यक्त्व मोह है अर्थात् दृष्टिकोण की आंशिक विशुद्धता।

(ब) चारित्र-मोह -- चारित्र-मोह के कारण प्राणी का आचरण अशुभ होता है। चारित्र-मोहजनित अशुभाचरण 25 प्रकार का है -- (1) प्रबलतम क्रोध, (2) प्रबलतम मान, (3) प्रबलतम माया (कपट), (4) प्रबलतम लोभ, (5) अति क्रोध, (6) अति मान, (7) अति माया (कपट), (8) अति लोभ, (9) साधारण क्रोध, (10) साधारण मान, (11) साधारण माया (कपट) (12) साधारण लोभ, (13) अल्प क्रोध, (14) अल्प मान, (15) अल्प माया (कपट) और (16) अल्प लोभ -- ये सोलह कषाय हैं। उपर्युक्त कषायों को उत्तेजित करने वाली नौ मनोवृत्तियाँ (उपकषाय) हैं -- (1) हास्य, (2) रति (स्नेह, राग), (3) अरति (द्वेष) (4) शोक, (5) भय, (6) जुगुप्सा (घृणा), (7) स्त्रीवेद (पुरुष-सहवास की इच्छा), (8) पुरुषवेद (स्त्री-सहवास की इच्छा), (9) नपुंसकवेद (स्त्री-पुरुष दोनों के सहवास की इच्छा)।

मोहनीय कर्म विवेकाभाव है और उसी विवेकाभाव के कारण अशुभ की ओर प्रवृत्ति की

रुचि होती है। अन्य परम्पराओं में जो स्थान अविद्या का है, वही स्थान जैन परम्परा में मोहनीय कर्म का है। जिस प्रकार अन्य परम्पराओं में बन्धन का मूल कारण अविद्या है, उसी प्रकार जैन परम्परा में बन्धन का मूल कारण मोहनीय कर्म। मोहनीय कर्म का क्षयोपशम ही आध्यात्मिक विकास का आधार है।

5. आयुष्य कर्म

जिस प्रकार बेड़ी स्वाधीनता में बाधक है, उसी प्रकार जो कर्म परमाणु आत्मा को विभिन्न शरीरों में नियत अवधि तक कैद रखते हैं, उन्हें आयुष्य कर्म कहते हैं। यह कर्म निश्चय करता है कि आत्मा को किस शरीर में कितनी समयावधि तक रहना है। आयुष्य कर्म चार प्रकार का है-- (1) नरक आयु, (2) तिर्यच आयु (वानस्पतिक एवं पशु जीवन) (3) मनुष्य आयु और (4) देव आयु।

आयुष्य-कर्म के बन्ध के कारण -- सभी प्रकार के आयुष्य-कर्म के बन्ध का कारण शील और व्रत से रहित होना माना गया है। फिर भी किस प्रकार के आचरण से किस प्रकार का जीवन मिलता है, उसका निर्देश भी जैन आगमों में उपलब्ध है। स्थानांगसूत्र में प्रत्येक प्रकार के आयुष्य-कर्म के बन्ध के चार-चार कारण माने गये हैं।

(अ) नारकीय जीवन की प्राप्ति के चार कारण -- (1) महारम्भ (भयानक हिंसक कर्म), (2) महापरिग्रह (अत्यधिक संचय वृत्ति), (3) मनुष्य, पशु आदि का वध करना, (4) मांसाहार और शराब आदि नशीले पदार्थों का सेवन।

(ब) पाशविक जीवन की प्राप्ति के चार कारण -- (1) कपट करना (2) रहस्यपूर्ण कपट करना (3) असत्य भाषण (4) कम-ज्यादा तोल-माप करना। कर्म-ग्रन्थ में प्रतिष्ठा कम होने के भय से पाप का प्रकट न करना भी तिर्यच आयु के बन्ध का कारण माना गया है। तत्त्वार्थसूत्र में माया (कपट) को ही पशुयोनि का कारण बताया है।

(स) मानव जीवन की प्राप्ति के चार कारण -- (1) सरलता, (2) विनयशीलता, (3) कर्षणा और (4) अहंकार एवं मात्सर्य से रहित होना। तत्त्वार्थसूत्र में -- (1) अल्प आरम्भ, (2) अल्प परिग्रह, (3) स्वभाव की सरलता और (4) स्वभाव की मृदुता को मनुष्य आयु के बन्ध का कारण कहा गया है।

(द) दैवीय जीवन की प्राप्ति के चार कारण -- (1) सराग (सकाम) संयम का पालन, (2) संयम का आंशिक पालन, (3) सकाम-तपस्या (बाल-तप) (4) स्वाभाविक रूप में कर्मों के निर्जरित होने से। तत्त्वार्थसूत्र में भी यही कारण माने गये हैं। कर्मग्रन्थ के अनुसार अविरत सम्यक्दृष्टि मनुष्य या तिर्यच, देशविरत श्रावक, सरागी-साधु, बाल-तपस्वी और इच्छा नहीं होते हुए भी परिस्थिति वश भूख-प्यास आदि को सहन करते हुए अकाम-निर्जरा करने वाले व्यक्ति देवायु का बन्ध करते हैं।

आकस्मिकमरण -- प्राणी अपने जीवनकाल में प्रत्येक क्षण आयु कर्म को भोग रहा है और

प्रत्येक क्षण में आयु कर्म के परमाणु भोग के पश्चात् पृथक् होते रहते हैं। जिस समय वर्तमान आयुकर्म के पूर्वबद्ध समस्त परमाणु आत्मा से पृथक् हो जाते हैं उस समय प्राणी को वर्तमान शरीर छोड़ना पड़ता है। वर्तमान शरीर छोड़ने के पूर्व ही नवीन शरीर के आयुकर्म का बन्ध हो जाता है। लेकिन यदि आयुष्य का भोग इस प्रकार नियत है तो आकस्मिकमरण की व्याख्या क्या ? इसके प्रत्युत्तर में जैन-विचारको ने आयुकर्म का भोग दो प्रकार का माना -- (1) क्रमिक, (2) आकस्मिक। क्रमिक भोग में स्वाभाविक रूप से आयु का भोग धीरे-धीरे होता रहता है, जबकि आकस्मिक भोग में किसी कारण के उपस्थित हो जाने पर आयु एक साथ ही भोग ली जाती है। इसे ही आकस्मिकमरण या अकाल मृत्यु कहते हैं। स्थानांगसूत्र में इसके सात कारण बताये गये हैं -- (1) हर्ष-शोक का अतिरेक, (2) विष अथवा शस्त्र का प्रयोग, (3) आहार की अत्यधिकता अथवा सर्वथा अभाव (4) व्याधिजनित तीव्र वेदना, (5) आघात (6) सर्पदंशादि और (7) श्वासनिरोध।

6. नाम कर्म

जिस प्रकार चित्रकार विभिन्न रंगों से अनेक प्रकार के चित्र बनाता है, उसी प्रकार नाम-कर्म विभिन्न कर्म परमाणुओं से जगत् के प्राणियों के शरीर की रचना करता है। मनोविज्ञान की भाषा में नाम-कर्म को व्यक्तित्व का निर्धारक तत्त्व कह सकते हैं। जैन-दर्शन में व्यक्तित्व के निर्धारक तत्त्वों को नामकर्म की प्रकृति के रूप में जाना जाता है, जिनकी संख्या 103 मानी गई है लेकिन विस्तारभय से उनका वर्णन सम्भव नहीं है। उपर्युक्त सारे वर्गीकरण का संक्षिप्त रूप है -- 1. शुभनामकर्म (अच्छा व्यक्तित्व) और 2. अशुभनामकर्म (बुरा व्यक्तित्व)। प्राणी जगत् में, जो आश्चर्यजनक वैचित्र्य दिखाई देता है, उसका आधार नामकर्म है।

शुभनाम कर्म के बन्ध के कारण

जैनागमों में अच्छे व्यक्तित्व की उपलब्धि के चार कारण माने गये हैं -- 1. शरीर की सरलता, 2. वाणी की सरलता, 3. मन या विचारों की सरलता, 4. अहंकार एवं मात्सर्य से रहित होना या सामंजस्यपूर्ण जीवन।

शुभनामकर्म का विपाक

उपर्युक्त चार प्रकार के शुभाचरण से प्राप्त शुभ व्यक्तित्व का विपाक 14 प्रकार का माना गया है -- (1) अधिकारपूर्ण प्रभावक वाणी (इष्ट-शब्द) (2) सुन्दर सुगठित शरीर (इष्ट-रूप) (3) शरीर से निःसृत होने वाले मलों में भी सुगंधि (इष्ट-गंध) (4) जैवीय-रसों की समुचितता (इष्ट-रस) (5) त्वचा का सुकोमल होना (इष्ट-स्पर्श) (6) अचपल योग्य गति (इष्ट-गति) (7) अंगों का समुचित स्थान पर होना (इष्ट-स्थिति) (8) लावण्य (9) यशःकीर्ति का प्रसार (इष्ट-यशःकीर्ति) (10) योग्य शारीरिक शक्ति (इष्ट-उत्थान, कर्म, बलवीर्य, पुरुषार्थ और पराक्रम) (11) लोगों को सचिकर लगे ऐसा स्वर

(12) कान्त स्वर (13) प्रिय स्वर और (14) मनोज्ञ स्वर।

अशुभ नाम कर्म के कारण -- निम्न चार प्रकार के अशुभाचरण से व्यक्ति (प्राणी) को अशुभ व्यक्तित्व की उपलब्धि होती है -- (1) शरीर की वक्रता, (2) वचन की वक्रता (3) मन की वक्रता और (4) अहंकार एवं मात्सर्य वृत्ति या असामंजस्य पूर्ण जीवन।

अशुभनाम कर्म का विपाक -- 1. अप्रभावक वाणी (अनिष्ट-शब्द), 2. असुन्दर शरीर (अनिष्ट-स्पर्श), 3. शारीरिक मलों का दुर्गन्धयुक्त होना (अनिष्ट-गंध), 4. जैवीयरसों की असमुचितता (अनिष्टरस), 5. अप्रिय स्पर्श, 6. अनिष्ट गति, 7. अंगों का समुचित स्थान पर न होना (अनिष्ट स्थिति), 8. सौन्दर्य का अभाव, 9. अपयश, 10. पुरुषार्थ करने की शक्ति का अभाव, 11. हीन स्वर, 12. दीन स्वर, 13. अप्रिय स्वर और 14 अकान्त स्वर।

7. गोत्र कर्म

जिसके कारण व्यक्ति प्रतिष्ठित और अप्रतिष्ठित कुलों में जन्म लेता है, वह गोत्र कर्म है। यह दो प्रकार का माना गया है -- 1. उच्च गोत्र (प्रतिष्ठित कुल) और 2. नीच गोत्र (अप्रतिष्ठित कुल)। किस प्रकार के आचरण के कारण प्राणी का अप्रतिष्ठित कुल में जन्म होता है और किस प्रकार के आचरण से प्राणी का प्रतिष्ठित कुल में जन्म होता है, इस पर जैनाचार-दर्शन में विचार किया गया है। अहंकारवृत्ति ही इसका प्रमुख कारण मानी गई है।

उच्च-गोत्र एवं नीच-गोत्र के कर्म-बन्ध के कारण -- निम्न आठ बातों का अहंकार न करने वाला व्यक्ति भविष्य में प्रतिष्ठित कुल में जन्म लेता है -- 1. जाति, 2. कुल, 3. बल (शारीरिक शक्ति), 4. रूप (सौन्दर्य), 5. तपस्या (साधना), 6. ज्ञान (श्रुत), 7. लाभ (उपलब्धियाँ) और 8. स्वामित्व (अधिकार)। इसके विपरीत जो व्यक्ति उपर्युक्त आठ प्रकार का अहंकार करता है, वह नीच कुल में जन्म लेता है। कर्मग्रन्थ के अनुसार भी अहंकार रहित गुणग्राही दृष्टि वाला, अध्ययन-अध्यापन में रुचि रखने वाला तथा भक्त उच्च-गोत्र को प्राप्त करता है। इसके विपरीत आचरण करने वाला नीच-गोत्र को प्राप्त करता है। तत्त्वार्थसूत्र के अनुसार पर-निन्दा, आत्मप्रशंसा, दूसरों के सद्गुणों का आच्छादन और असद्गुणों का प्रकाशन ये नीच गोत्र के बन्ध के हेतु हैं। इसके विपरीत पर-प्रशंसा, आत्म-निन्दा, सद्गुणों का प्रकाशन, असद्गुणों का गोपन और नम्रवृत्ति एवं निरभिमानता ये उच्च-गोत्र के बन्ध के हेतु हैं।

गोत्र-कर्म का विपाक -- विपाक (फल) दृष्टि से विचार करते हुए यह ध्यान रखना चाहिए कि जो व्यक्ति अहंकार नहीं करता, वह प्रतिष्ठित कुल में जन्म लेकर निम्नोक्त आठ क्षमताओं से युक्त होता है -- 1. निष्कलंक मातृ-पक्ष (जाति), 2. प्रतिष्ठित पितृ-पक्ष (कुल), 3. सबल शरीर, 4. सौन्दर्ययुक्त शरीर, 5. उच्च साधना एवं तप-शक्ति, 6. तीव्र बुद्धि एवं विपुलज्ञान राशि पर अधिकार, 7. लाभ एवं विविध उपलब्धियाँ और 8. अधिकार, स्वामित्व एवं ऐश्वर्य की प्राप्ति। लेकिन अहंकारी व्यक्तित्व उपर्युक्त समग्र क्षमताओं से अथवा इनमें से किन्हीं विशेष क्षमताओं से वंचित रहता है।

8. अन्तराय कर्म

अभीष्ट की उपलब्धि में बाधा पहुँचाने वाले कारण को अन्तराय कर्म कहते हैं। यह पाँच प्रकार का है--

1. दानान्तराय -- दान की इच्छा होने पर भी दान नहीं किया जा सके,
2. लाभान्तराय -- कोई प्राप्ति होने वाली हो लेकिन किसी कारण से उसमें बाधा आ जाना,
3. भोगान्तराय -- भोग में बाधा उपस्थित होना. जैसे व्यक्ति सम्पन्न हो, भोजनगृह में अच्छा सुस्वादु भोजन भी बना हो लेकिन अस्वस्थता के कारण उसे मात्र खिचड़ी ही खानी पड़े,
4. उपभोगान्तराय -- उपभोग की सामग्री के होने पर भी उपभोग करने में असमर्थता,
5. वीर्यान्तराय -- शक्ति के होने पर भी पुष्पार्थ में उसका उपयोग नहीं किया जा सकना।
(तत्त्वार्थसूत्र, 8.14)

जैन नीति-दर्शन के अनुसार जो व्यक्ति किसी भी व्यक्ति के दान, लाभ, भोग, उपभोग-शक्ति के उपयोग में बाधक बनता है, वह भी अपनी उपलब्ध सामग्री एवं शक्तियों का समुचित उपयोग नहीं कर पाता है। जैसे कोई व्यक्ति किसी दान देने वाले व्यक्ति को दान प्राप्त करने वाली संस्था के बारे में गलत सूचना देकर या अन्य प्रकार से दान देने से रोक देता है अथवा किसी भोजन करते हुए व्यक्ति को भोजन पर से उठा देता है, तो उसकी उपलब्धियों में भी बाधा उपस्थित होती है अथवा भोग-सामग्री के होने पर भी वह उसके भोग से वंचित रहता है। कर्मग्रन्थ के अनुसार जिन-पूजा आदि धर्म-कार्यों में विघ्न उत्पन्न करने वाला और हिंसा में तत्पर व्यक्ति भी अन्तराय कर्म का संचय करता है। तत्त्वार्थसूत्र के अनुसार भी विघ्न या बाधा डालना ही अन्तराय-कर्म के बन्ध का कारण है।

घाती और अघाती कर्म

कर्मों के इस वर्गीकरण में ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अन्तराय -- इन चार कर्मों को 'घाती' और नाम, गोत्र, आयुष्य और वेदनीय -- इन चार कर्मों को 'अघाती' माना जाता है। घाती कर्म आत्मा के ज्ञान, दर्शन, सुख और शक्ति नामक गुणों का आवरण करते हैं। ये कर्म आत्मा की स्वभावदशा को विकृत करते हैं, अतः जीवन-मुक्ति में बाधक होते हैं। इन घाती कर्मों में अविद्या रूप मोहनीय कर्म ही आत्मस्वरूप की आवरण-क्षमता, तीव्रता और स्थितिकाल की दृष्टि से प्रमुख हैं। वस्तुतः मोहकर्म ही एक ऐसा कर्म-संस्कार है, जिसके कारण कर्म-बन्ध का प्रवाह सतत् बना रहता है। मोहनीय कर्म उस बीज के समान है, जिसमें अंकुरण की शक्ति है। जिस प्रकार उगने योग्य बीज हवा, पानी आदि के सहयोग से अपनी परम्परा को बढ़ाता रहता है, उसी प्रकार मोहनीय रूपी कर्म-बीज, ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय रूप हवा, पानी आदि के सहयोग से कर्म-परम्परा को सतत् बनाये रखता है। मोहनीय कर्म ही जन्म-मरण, संसार या बन्धन का मूल है, शेष घाती कर्म उसके सहयोगी मात्र हैं। इसे

कर्मी का सेनापति कहा गया है। जिस प्रकार सेनापति के पराजित होने पर सारी सेना हतप्रभ हो शीघ्र ही पराजित हो जाती है, उसी प्रकार मोह कर्म पर विजय प्राप्त कर लेने पर शेष सारे कर्मी को आसानी से पराजित कर आत्मशुद्धता की उपलब्धि की जा सकती है। जैसे ही मोह नष्ट हो जाता है, वैसे ही ज्ञानावरण और दर्शनावरण का पर्दा हट जाता है, अन्तराय या बाधकता समाप्त हो जाती है और व्यक्ति (आत्मा) जीवन-मुक्त बन जाता है।

अघाती कर्म वे हैं जो आत्मा के स्वभाव दशा की उपलब्धि और विकास में बाधक नहीं होते। अघाती कर्म भुने हुए बीज के समान हैं, जिनमें नवीन कर्मी की उत्पादन-क्षमता नहीं होती। वे कर्म-परम्परा का प्रवाह बनाये रखने में असमर्थ होते हैं और समय की परिपक्वता के साथ ही अपना फल देकर सहज ही अलग हो जाते हैं।

सर्वघाती और देशघाती कर्म-प्रकृतियाँ -- आत्मा के स्व-लक्षणों का आवरण करने वाले घाती कर्मी की 45 कर्म-प्रकृतियाँ भी दो प्रकार की हैं -- 1. सर्वघाती और 2. देशघाती। सर्वघाती कर्म प्रकृति किसी आत्मगुण को पूर्णतया आवरित करती है और देशघाती कर्म-प्रकृति उसके एक अंश को आवरित करती है।

आत्मा के स्वाभाविक सत्यानुभूति नामक गुण को मिथ्यात्व (अशुद्ध दृष्टिकोण) सर्वरूपेण आच्छादित कर देता है। अनन्तज्ञान (केवलज्ञान) और अनन्तदर्शन (केवलदर्शन) नामक आत्मा के गुणों का आवरण भी पूर्ण रूप से होता है। पाँचों प्रकार की निद्राएँ भी आत्मा की सहज अनुभूति की क्षमता को पूर्णतया आवरित करती हैं। इसी प्रकार चारों कषायों के पहले तीनों प्रकार, जो कि संख्या में 12 होते हैं, भी पूर्णतया बाधक बनते हैं। अनन्तानुबन्धी कषाय सम्यक्त्व का, प्रत्याख्यानी कषाय देशव्रती चारित्र (गृहस्थ धर्म) का और प्रत्याख्यानी कषाय सर्वव्रती चारित्र (मुनिधर्म) का पूर्णतया बाधक बनता है। अतः ये 20 प्रकार की कर्मप्रकृतियाँ सर्वघाती कही जाती हैं। शेष ज्ञानावरणीय कर्म की 4, दर्शनावरणीय कर्म की 3, मोहनीय कर्म की 13, अन्तराय कर्म की 5, कुल 25 कर्मप्रकृतियाँ देशघाती कही जाती हैं। सर्वघात का अर्थ मात्र इन गुणों के पूर्ण प्रकटन को रोकना है, न कि इन गुणों का अनस्तित्व। क्योंकि ज्ञानादि गुणों के पूर्ण अभाव की स्थिति में आत्म-तत्त्व और जड़-तत्त्व में अन्तर ही नहीं रहेगा। कर्म तो आत्मगुणों के प्रकटन में बाधक तत्त्व हैं, वे आत्मगुणों को विनष्ट नहीं कर सकते। नन्दिसूत्र में तो कहा गया है कि जिस प्रकार बादल सूर्य के प्रकाश को चाहे कितना ही आवरित क्यों न कर लें, फिर भी वह न तो उसकी प्रकाश-क्षमता को नष्ट कर सकता है और न उसके प्रकाश के प्रकटन को पूर्णतया रोक सकता है। उसी प्रकार चाहे कर्म ज्ञानादि आत्मगुणों को कितना ही आवृत क्यों न कर ले, फिर भी उनका एक अंश हमेशा ही अनावृत रहता है।

कर्म बन्धन से मुक्ति

जैन कर्मसिद्धान्त की यह मान्यता है कि प्रत्येक कर्म अपना विपाक या फल देकर आत्मा से अलग हो जाता है। इस विपाक की अवस्था में यदि आत्मा राग-द्वेष अथवा मोह से अभिभूत होता है, तो वह पुनः नये कर्म का संचय कर लेता है। इस प्रकार यह परम्परा सतत् रूप से

चलती रहती है। व्यक्ति के अधिकार क्षेत्र में यह नहीं है कि वह कर्म के विपाक के परिणाम स्वरूप होने वाली अनुभूति से इंकार कर दे। अतः यह एक कठिन समस्या है कि कर्म के बन्धन व विपाक की इस प्रक्रिया से मुक्ति कैसे हो, यदि कर्म के विपाक के फलस्वरूप हमारे अन्दर क्रोधादि कषाय भाव अथवा कामादि भोग भाव उत्पन्न होना ही है तो फिर स्वाभाविक रूप से प्रश्न उठता है कि हम विमुक्ति, की दिशा में आगे कैसे बढ़ें ? इस हेतु जैन आचार्यों ने दो उपायों का प्रतिपादन किया है-- (1) संवर और (2) निर्जरा। संवर का तात्पर्य है कि विपाक की स्थिति में प्रतिक्रिया से रहित रहकर नवीन कर्मास्रव एवं बन्ध को नहीं होने देना और निर्जरा का तात्पर्य है पूर्व कर्मों के विपाक की समभाव पूर्वक अनुभूति करते हुए उन्हें निर्जरित कर देना या फिर तप साधना द्वारा पूर्वबद्ध अनियत विपाकी कर्मों को समय से पूर्व उनके विपाक को प्रदेशोदय के माध्यम से निर्जरित करना।

यह सत्य है कि पूर्वबद्ध कर्मों के विपाकोदय की स्थिति में क्रोधादि आवेग अपनी अभिव्यक्ति के हेतु चेतना के स्तर पर आते हैं, किन्तु यदि आत्मा उस समय अपने को राग-द्वेष से ऊपर उठाकर साक्षीभाव में स्थित रखे और उन उदय में आ रहे क्रोधादि भावों के प्रति मात्र द्रष्टा भाव रखे, तो वह भावी बन्धन से बचकर पूर्वबद्ध कर्मों की निर्जरा कर देता है और इस प्रकार वह बन्धन से विमुक्ति की ओर अपनी यात्रा प्रारम्भ कर देता है। वस्तुतः विवेक व अप्रमत्तता ऐसे तथ्य हैं जो हमें नवीन बन्धन से बचाकर विमुक्ति की ओर अभिमुख करते हैं। व्यक्ति में जितनी अप्रमत्तता या आत्म चेतना होगी, उसका विवेक उतना जागृत रहेगा। वह बन्धन से विमुक्ति की दिशा में आगे बढ़ेगा। जैन कर्म सिद्धान्त बताता है कि कर्मों के विपाक के सम्बन्ध में हम विवश या परतन्त्र होते हैं, किन्तु उस विपाक की दशा में भी हममें इतनी स्वतन्त्रता अवश्य होती है कि हम नवीन कर्म परम्परा का संघय करें या न करें, ऐसा निश्चय कर सकते हैं। वस्तुतः कर्म विपाक के सन्दर्भ में हम परतन्त्र होते हैं, किन्तु नवीन कर्म बन्ध के सन्दर्भ में हम आंशिक रूप में स्वतन्त्र हैं। इसी आंशिक स्वतन्त्रता द्वारा हम मुक्ति अर्थात् पूर्ण स्वतन्त्रता प्राप्त कर सकते हैं। जो साधक विपाकोदय के समय साक्षी भाव या ज्ञाता-द्रष्टा भाव में जीवन जीना जानता है, वह निश्चय ही कर्म-विमुक्ति को प्राप्त कर लेता है।

सन्दर्भ-सूची

1. जैन, डॉ. सागरमल - जैनकर्म सिद्धान्त का तुलनात्मक अध्ययन, प्राकृत भारतीय संस्थान, जयपुर, 1982, पृ. 4
2. श्वेत श्वतरोपनिषद् (गीता प्रेस, गोरखपुर) 1 11-2
3. The Philosophical Quarterly, April 1932, p. 72.
4. Maxmullar - Three Lecturers on Vedanta Philosophy, p. 165.

5. मालवणिया, पं. दलसुखभाई - आत्ममीमांसा (जैन संस्कृति संशोधन मण्डल)
6. मिश्रा, रविन्द्रनाथ, जैन कर्म सिद्धान्त का उद्भव एवं विकास (पार्श्वनाथ शोधपीठ, वाराणसी-5, 1985), पृ.8
7. वही, पृ. 9-10
8. रागो य दोस्रो वि य कम्मबीयं, उत्तराध्ययनसूत्र 32/7
9. (अ) समवायांग 5।4 (ब) इसिभासियाई 9/5 (स) तत्त्वार्थसूत्र 8/1
10. कुन्दकुन्द, समयसार 171
11. (अ) अट्ठविहं कम्मगंथि -- इसिभासियाई 31
(ब) अट्ठविहकम्मरयमलं -- इसिभासियाई 23
12. उत्तराध्ययनसूत्र (सं. मधुकरमुनि), 33/2-3
13. वही, 33/4-15
14. अगुत्तर निकायउद्घृत उपाध्याय भरत सिंह, बौद्ध दर्शनव अन्य भारतीय दर्शन, पृ.463
15. देखें - आचार्य नरेन्द्रदेव, बौद्ध धर्म दर्शन, पृ.250
16. देवेन्द्र सूरि, कर्मग्रन्थ प्रथम, कर्म विपाक
17. संघवी पं. सुखलाल, दर्शन व चिन्तन, पृ.225
18. आचार्य नेमिचन्द्र, गोम्मतसार, कर्मकाण्ड - 6
19. आचार्य विद्यानन्दी, अष्टसहस्त्री, पृ.51, उद्घृत-- Tatia N.M., Studies in Jaina Philosophy (P.V. Research Institute, Varanasi-5), p.227
20. कर्मग्रन्थ - प्रथम, कर्म विपाक - भूमिका पं. सुखलाल संघवी, पृ.24
21. जैन सागरमल - जैन कर्म सिद्धान्त का तुलनात्मक अध्ययन पृ.17-18
22. (अ) महाभारत : शान्तिपर्व (गीता प्रेस, गोरखपुर) पृ.129
(ब) तिलक, लोकमान्य बालगंगाधर, गीतारहस्य, पृ.268
23. आचार्य नरेन्द्र देव, बौद्ध धर्म दर्शन, पृ.277
24. (अ) देखें-- उत्तराध्ययनसूत्र-- सम्पादक मधुकरमुनि 4।4।13, 23।1।30
(ब) भगवतीसूत्र 1।2।64
25. देखें-- (अ) Tatia, N.M., Studies in Jaina Philosophy (P.V.R.I.), p.254.
(ब) जैन सागरमल-- जैन कर्मसिद्धान्त का तुलनात्मक अध्ययन, पृ. 24-27
26. जैन सागरमल -- जैन कर्मसिद्धान्त का तुलनात्मक अध्ययन, पृ. 35-36
27. वही, पृ. 36-40
28. ज्ञातव्य है कि प्रस्तुत विवरण तत्त्वार्थसूत्र अध्याय 6 एवं 8, कर्म ग्रन्थ प्रथम कर्मविपाक, पृ. 54-61, समवायांग 30/1 तथा स्थानांग 1/4/4/373 पर आधारित है।
29. योगशास्त्र (हेमचन्द्र), ४/१०७.
30. स्थानांग, टीका (अभयदेव), 1/11-12
31. जैनधर्म, मुनिस्वामीलकुमार, पृ. 84

32. समयसारनाटक, बनारसीदास, उत्थानिका 28
33. भगवतीसूत्र, 7/10/121
34. स्थानांगसूत्र स्थान, 9
35. भगवद्गीता, 18/17
36. धम्मपद, 249
37. सूत्रकृतांग, द्वितीय श्रुतस्कन्ध, आद्रकसंवाद 2/6
38. जैनकर्मसिद्धान्त का तुलनात्मक अध्ययन, सागरमल जैन, पृ.
39. दशवौकलिकसूत्र, 4/9
40. सूत्रकृतांगसूत्र, 2/2/4
41. उत्तराध्ययनसूत्र, 28/14
42. तत्त्वार्थसूत्र, 1/4
43. इसिभासियाइं (ऋषिभाषित), 9/2
44. समयसार (कुन्दकुन्द), 145-146
45. प्रवचनसार टीका (अमृतचन्द्र), 1/72 की टीका
46. समयसार वचनिका, जयचन्द छाबड़ा, गाथा 145-146 की वचनिका पृ.207
47. भगवद्गीता, 4/16
48. सूत्रकृतांग, 1/8/22-24
49. भगवद्गीता, 4/16
50. सूत्रकृतांगसूत्र, 1/8/1-2
51. वही, 1/8/3
52. आचारांगसूत्र, 1/4/2/1
53. जैन कर्मसिद्धान्त का तुलनात्मक अध्ययन, डॉ. सागरमल जैन, पृ. 52-55
54. वही, पृ. 61-67
55. वही, पृ. 57
56. (अ) वही, पृ. 67-79
 (ब) प्रस्तुत विवरण तत्त्वार्थसूत्र अध्याय 6 एवं 8, कर्मग्रन्थ प्रथम, (कर्मविपाक)
 पृ. 54-62, समवायांग 30/1 तथा स्थानांग 1/4/4/373 पर आधारित है।

भारतीय संस्कृति का समन्वित स्वरूप

- प्रो. सागरमल जैन

भारतीय संस्कृति एक संश्लिष्ट संस्कृति है। उसे हम विभिन्न चहारदीवारियों में अवरुद्ध कर कभी भी सम्यक् प्रकार से नहीं समझ सकते हैं, उसको खण्ड-खण्ड में विभाजित करके देखने में उसकी आत्मा ही मर जाती है। जैसे शरीर को खण्ड-खण्ड कर देखने से शरीर की क्रिया-शक्ति को नहीं समझा जा सकता है, वैसे ही भारतीय संस्कृति को खण्ड-खण्ड करके उसकी मूल आत्मा को नहीं समझा जा सकता है। भारतीय संस्कृति को हम तभी सम्पूर्ण रूप से समझ सकते हैं, जब उसके विभिन्न घटकों अर्थात् जैन, बौद्ध और हिन्दू धर्म-दर्शन का समन्वित एवं सम्यक् अध्ययन न कर लिया जाय। बिना उसके संयोजित घटकों के ज्ञान के उसका सम्पूर्णता में ज्ञान सम्भव ही नहीं है। एक इंजन की प्रक्रिया को भी सम्यक् प्रकार से समझने के लिए न केवल उसके विभिन्न घटकों अर्थात् कल-पुर्जों का ज्ञान आवश्यक होता है, अपितु उनके परस्पर संयोजित रूप को भी देखना होता है। अतः हमें स्पष्ट रूप से इस तथ्य को समझ लेना चाहिए कि भारतीय संस्कृति के अध्ययन एवं शोध के क्षेत्र में अन्य सहवर्ती परम्पराओं और उनके पारस्परिक सम्बन्धों के अध्ययन के बिना कोई भी शोध परिपूर्ण नहीं हो सकती है। धर्म और संस्कृति शून्य में विकसित नहीं होते, वे अपने देशकाल और सहवर्ती परम्पराओं से प्रभावित होकर ही अपना स्वरूप ग्रहण करते हैं। यदि हमें जैन, बौद्ध, वैदिक या अन्य किसी भी भारतीय सांस्कृतिक धारा का अध्ययन करना है, उसे सम्यक् प्रकार से समझना है, तो उसके देश, काल एवं परिवेशगत पक्षों को भी प्रामाणिकता पूर्वक तटस्थ बुद्धि से समझना होगा। चाहे जैन विद्या के शोध एवं अध्ययन का प्रश्न हो या अन्य किसी भारतीय विद्या का, हमें उसकी दूसरी सहवर्ती परम्पराओं को अवश्य ही जानना होगा और यह देखना होगा कि वह उन दूसरी सहवर्ती परम्पराओं से किस प्रकार प्रभावित हुयी है और उसने उन्हें किस प्रकार प्रभावित किया है। पारस्परिक प्रभावकता के अध्ययन के बिना कोई भी अध्ययन पूर्ण नहीं होता है।

यह सत्य है कि भारतीय संस्कृति के इतिहास के आदिकाल से ही हम उसमें श्रमण और वैदिक संस्कृति का अस्तित्व साथ-साथ पाते हैं; किन्तु हमें यह भी स्मरण रखना होगा कि भारतीय संस्कृति में इन दोनों स्वतन्त्र धाराओं का संगम हो गया है और अब इन्हें एक दूसरे से पूर्णतया अलग नहीं किया जा सकता। भारतीय इतिहास के प्रारम्भिक काल से ही ये दोनों धारायें परस्पर एक दूसरे से प्रभावित होती रही हैं। अपनी-अपनी विशेषताओं के आधार पर विचार के क्षेत्र में हम चाहे उन्हें अलग-अलग देख लें, किन्तु व्यावहारिक स्तर पर उन्हें एक दूसरे से पृथक् नहीं कर सकते। भारतीय वाङ्मय में ऋग्वेद प्राचीनतम माना जाता है। उसमें

जहाँ एक ओर वैदिक समाज एवं वैदिक क्रिया-काण्डों का उल्लेख है, वहीं दूसरी ओर उसमें न केवल व्रात्यों, श्रमणों एवं अर्हतों की उपस्थिति के उल्लेख उपलब्ध हैं, अपितु ऋषभ, अरिष्टनेमि आदि, जो जैन परम्परा में तीर्थंकर के रूप में मान्य हैं, के प्रति समादर भाव भी व्यक्त किया गया है। इससे यह प्रतीत होता है कि ऐतिहासिक युग के प्रारम्भ से ही भारत में ये दोनों संस्कृतियाँ साथ-साथ प्रवाहित होती रही हैं।

मोहनजोदड़ो और हड़प्पा के उत्खनन से जिस प्राचीन भारतीय संस्कृति की जानकारी हमें उपलब्ध होती है; उससे सिद्ध होता है, कि वैदिक संस्कृति के पूर्व भी भारत में एक उच्च संस्कृति अस्तित्व रखती थी। जिसमें ध्यान, साधना आदि पर बल दिया जाता था। उस उत्खनन में ध्यानस्थ योगियों की सीलें आदि मिलना तथा यज्ञशाला आदि का न मिलना यही सिद्ध करना है कि वह संस्कृति तप, योग एवं ध्यान प्रधान व्रात्य संस्कृति का प्रतिनिधित्व करती थी। किन्तु इतना निश्चित है कि आर्यों के आगमन के साथ प्रारम्भ हुए वैदिक युग से दोनों ही धाराएँ साथ-साथ प्रवाहित हो रही हैं और उन्होंने एक दूसरे को पर्याप्त रूप से प्रभावित भी किया है। ऋग्वेद में व्रात्यों के प्रति जो तिरस्कार भाव था, वह अथर्ववेद में समादर भाव में बदल जाता है, जो दोनों धाराओं के समन्वय का प्रतीक है। तप, त्याग, संन्यास, ध्यान, समाधि, मुक्ति और अहिंसा की अवधारणायें, जो प्रारम्भिक वैदिक ऋचाओं और कर्मकाण्डीय ब्राह्मण ग्रन्थों में अनुपलब्ध थी, वे आरण्यक आदि परवर्ती वैदिक साहित्य में और विशेष रूप से उपनिषदों में अस्तित्व में आ गयी हैं। इससे लगता है कि ये अवधारणाएँ संन्यासमार्गीय श्रमणधारा के प्रभाव से ही वैदिक धारा में प्रविष्ट हुयी हैं। उपनिषदों, महाभारत और गीता में एक ओर वैदिक कर्मकाण्ड की समालोचना और उन्हें आध्यात्मिकता से समन्वित कर नये रूप में परिभाषित करने का प्रयत्न तथा दूसरी ओर तप, संन्यास और मुक्ति आदि की स्पष्ट रूप से स्वीकृति, यही सिद्ध करती है कि ये ग्रन्थ श्रमण और वैदिक धारा के बीच हुए समन्वय या संगम के ही परिचायक हैं। हमें यह स्मरण रखना होगा कि उपनिषद् और महाभारत, जिसका एक अंग गीता है, शुद्ध रूप से वैदिक कर्मकाण्डात्मक धर्म के प्रतिनिधि नहीं है। वे निवृत्ति प्रधान श्रमणधारा और प्रवृत्तिमार्गी वैदिक धारा के समन्वय का परिणाम है। उपनिषदों में और महाभारत, गीता आदि में जहाँ एक ओर श्रमणधारा के आध्यात्मिक और निवृत्ति प्रधान तत्त्वों को स्थान दिया गया, वहीं दूसरी ओर यज्ञ आदि वैदिक कर्मकाण्डों की श्रमण परम्परा के समान आध्यात्मिक दृष्टि से नवीन परिभाषाएँ भी प्रस्तुत की गईं, उनमें यज्ञ का अर्थ पशुबलि न होकर स्वहितों की बलि या समाजसेवा हो गया। हमें यह स्मरण रखना होगा कि हमारा हिन्दू धर्म वैदिक और श्रमण धाराओं के समन्वय का परिणाम है। वैदिक कर्मकाण्ड के विरोध में, जो आवाज औपनिषदिक युग के ऋषि मुनियों ने उठाई थी, जैन, बौद्ध और अन्य श्रमण परम्पराओं ने मात्र उसे मुखर ही किया है। हमें यह नहीं भूलना चाहिये कि वैदिक कर्मकाण्ड के प्रति यदि किसी ने पहली आवाज उठाई तो वे औपनिषदिक ऋषि ही थे। उन्होंने ही सबसे पहले कहा था कि ये यज्ञरूपी नौकायें अदृढ़ हैं, ये आत्मा के विकास में सक्षम नहीं हैं। यज्ञ आदि कर्मकाण्डों की नयी आध्यात्मिक व्याख्यायें देने और उन्हें श्रमणधारा की आध्यात्मिक दृष्टि के अनुरूप बनाने का कार्य औपनिषदिक ऋषियों और गीता के प्रवक्ता का है। जैन और बौद्ध परम्परायें तो

औपनिषदिक ऋषियों के द्वारा प्रशस्त किये गये पथ पर गतिशील हुयी हैं। वे वैदिक कर्मकाण्ड, जन्मना जातिवाद और मिथ्या विश्वासों के विरोध में उठे हुए औपनिषदिक ऋषियों के स्वर का ही मुखरित रूप है। जैन और बौद्ध परम्पराओं में औपनिषदिक ऋषियों की अर्हत् ऋषि के रूप में स्वीकृति इसका स्पष्ट प्रमाण है।

यह सत्य है कि श्रमणों ने यज्ञों में पशुबलि, जन्मना वर्णव्यवस्था और वेदों की प्रामाण्यता से इन्कार किया और इस प्रकार से वे भारतीय संस्कृति के समुद्धारक के रूप में ही सामने आये; किन्तु हमें यह नहीं भूलना चाहिये कि भारतीय संस्कृति की इस विकृति का परिमार्जन करने की प्रक्रिया में वे स्वयं ही कहीं न कहीं उन विकृतियों से प्रभावित हो गये। वैदिक कर्मकाण्ड अब तन्त्रसाधना के नये रूप में बौद्ध, जैन और अन्य श्रमण परम्पराओं में प्रविष्ट हो गया और उनकी साधना पद्धति का एक अंग बन गया। आध्यात्मिक विशुद्धि के लिये किया जाने वाला ध्यान अब भौतिक सिद्धियों के निमित्त किया जाने लगा। जहां एक ओर भारतीय श्रमण परम्परा ने वैदिक परम्परा को आध्यात्मिक जीवन दृष्टि के साथ-साथ तप, त्याग, संन्यास और मोक्ष की अवधारणायें प्रदान की वहीं दूसरी ओर वैदिक परम्परा के प्रभाव से तान्त्रिक साधनायें जैन और बौद्ध परम्पराओं में भी प्रविष्ट हो गयीं। अनेक हिन्दू देव-देवियां प्रकारान्तर से जैनधर्म एवं बौद्धधर्म में स्वीकार कर ली गईं। जैनधर्म में यक्ष-यक्षियों एवं शासनदेवता की अवधारणाएँ हिन्दू देवताओं का जैनीकरण मात्र हैं। अनेक हिन्दू देवियां जैसे-- काली, महाकाली, ज्वालामालिनी, अम्बिका, चकेश्वरी, पद्मावती, सिद्धायिका तीर्थकरों की शासन रक्षक देवियों के रूप में जैनधर्म में स्वीकार कर ली गयीं। श्रुत-देवता के रूप में सरस्वती और सम्पत्ति प्रदाता के रूप में लक्ष्मी की उपासना जैन जीवन पद्धति का अंग बन गई। हिन्दू परम्परा का गणेश पार्श्व-यक्ष के रूप में लोकमंगल का देवता बन गया। वैदिक परम्परा के प्रभाव से जैन मन्दिरों में भी अब यज्ञ होने लगे और पूजा में हिन्दू देवताओं की तरह तीर्थकरों का भी आवाहन एवं विसर्जन किया जाने लगा। हिन्दुओं की पूजाविधि को भी मन्त्रों में कुछ शाब्दिक परिवर्तनों के साथ जैनों ने स्वीकार कर लिया। इस प्रकार जैन और बौद्ध परम्पराओं में तप, ध्यान और समाधि की साधना गौण होकर कर्मकाण्ड प्रमुख हो गया। इस पारस्परिक प्रभाव का एक परिणाम यह भी हुआ कि जहां हिन्दू परम्पराओं में ऋषभ और बुद्ध को ईश्वर के अवतार के रूप में स्वीकार कर लिया गया, वहीं जैन परम्परा में राम और कृष्ण को शलाका पुरुष के रूप में मान्यता मिली। इस प्रकार दोनों धारायें एक दूसरे से समन्वित हुयीं।

आज जब रामकृष्ण संस्कृति संस्थान जैसी संस्थाएँ जैन विद्या के शोध-कार्य को अपने हाथों में ले रही हैं तो मैं कहना चाहूंगा कि उन्हें इस पारस्परिक प्रभावशीलता को तटस्थ दृष्टि से स्पष्ट करने का प्रयास करना चाहिए, ताकि धर्मों के बीच जो दूरियां पैदा कर दी गयीं हैं, उन्हें समाप्त किया जा सके और उनकी निकटता को सम्यक् रूप से समझा जा सके। यह कार्य वैसे भी इस संस्था का विशेष दायित्व बनता है, क्योंकि इसकी स्थापना स्वामी रामकृष्ण और विवेकानन्द के स्वप्न को साकार करने हेतु हुई है। आज हमें तटस्थ बुद्धि से धर्मों की इस पारस्परिक प्रभावशीलता एवं निकटता को समझना होगा।

दुर्भाग्य से इस देश में विदेशी तत्त्वों के द्वारा न केवल हिन्दू और मुसलमानों के बीच अपितु जैन, बौद्ध, हिन्दू और सिक्खों -- जो कि बृहद् हिन्दू परम्परा के ही अंग हैं, के बीच भी खाईयाँ खोदने का कार्य किया जाता रहा है और सामान्य रूप से यह प्रसारित किया जाता रहा है कि जैन और बौद्ध धर्म न केवल स्वतन्त्र धर्म हैं, अपितु वे वैदिक हिन्दू परम्परा के विरोधी भी हैं। सामान्यतया जैन और बौद्ध धर्म को वैदिक धर्म के प्रति एक विद्रोह (Revolt) के रूप में चित्रित किया जाता रहा है। यह सत्य है कि वैदिक और श्रमण परम्पराओं में कुछ मूल-भूत प्रश्नों को लेकर मतभेद है, यह भी सत्य है कि जैन और बौद्ध परम्परा ने वैदिक परम्परा की उन विकृतियों को जो कर्मकाण्ड, पुरोहितवाद, जातिवाद और ब्राह्मण वर्ग के द्वारा निम्न वर्गों के धार्मिक शोषण के रूप में उभर रही थी, खूनकर विरोध किया था, किन्तु हमें उसे विद्रोह के रूप में नहीं, अपितु भारतीय संस्कृति के परिष्कार के रूप में ही समझना होगा। जैन और बौद्ध धर्मों ने भारतीय संस्कृति में आ रही विकृतियों का परिशासन कर उसे स्वस्थ बनाने हेतु एक चिकित्सक का कार्य किया और चिकित्सक कभी भी शत्रु नहीं, मित्र ही होता है। दुर्भाग्य से पाश्चात्य चिंतकों के प्रभाव से भारतीय चिन्तक और किसी सीमा तक कुछ जैन एवं बौद्ध चिन्तक भी यह मानने लगे हैं कि जैन धर्म और वैदिक (हिन्दू) धर्म परस्पर विरोधी धर्म हैं किन्तु यह एक भ्रांत अवधारणा है चाहे अपने मूल रूप में वैदिक एवं श्रमण संस्कृति-प्रवर्तक और निवर्तक धर्म परम्पराओं के रूप में भिन्न-भिन्न रही हो किन्तु आज न तो हिन्दू परम्परा ही उस अर्थ में पूर्णतः वैदिक है और न ही जैन व बौद्ध परम्परा पूर्णतः श्रमण। आज चाहे हिन्दू धर्म हो, अथवा जैन और बौद्ध धर्म हों, ये सभी अपने वर्तमान स्वरूप में वैदिक और श्रमण संस्कृति के समन्वित रूप हैं। यह बात अलग है कि उनमें प्रवृत्ति और निवृत्ति में से कोई एक पक्ष अभी भी प्रमुख हो, उदाहरण के रूप में हम कह सकते हैं कि जहाँ जैन धर्म आज भी निवृत्ति प्रधान है वहाँ हिन्दू धर्म प्रवृत्ति प्रधान। फिर भी यह मानना उचित नहीं है कि जैन धर्म में प्रवृत्ति एवं हिन्दू धर्म में निवृत्ति के तत्त्व नहीं हैं। वस्तुतः सम्पूर्ण भारतीय संस्कृति प्रवृत्ति और निवृत्ति के समन्वय में ही निर्मित हुई है। इस समन्वय का प्रथम प्रयत्न हमें ईशावास्योपनिषद् में स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर होता है। आज जहाँ उपनिषदों को प्राचीन श्रमण परम्परा के परिप्रेक्ष्य में समझने की आवश्यकता है, वहीं जैन और बौद्ध परम्परा को भी औपनिषदिक परम्परा के परिप्रेक्ष्य में समझने की आवश्यकता है। जिस प्रकार वासना और विवेक, श्रेय और प्रेय, परस्पर भिन्न-भिन्न होकर भी मानव व्यक्तित्व के ही अंग हैं उसी प्रकार निवृत्ति प्रधान श्रमणधारा और प्रवृत्ति प्रधान वैदिक धारा दोनों भारतीय संस्कृति के ही अंग हैं। वस्तुतः कोई भी संस्कृति एकान्त निवृत्ति या एकान्त प्रवृत्ति के आधार पर प्रतिष्ठित नहीं हो सकती है। जैन और बौद्ध परम्परायें भारतीय संस्कृति का वैसे ही अभिन्न अंग हैं, जैसे हिन्दू परम्परा। यदि औपनिषदिक धारा को वैदिक धारा से भिन्न होते हुए भी वैदिक या हिन्दू परम्परा का अभिन्न अंग माना जाता है, तो फिर जैन और बौद्ध परम्पराओं को उसका अभिन्न अंग क्यों नहीं माना जा सकता। यदि सांख्य और मीमांसक अनीश्वरवादी होते हुए भी आस्तिक हिन्दू धर्म दर्शन के अंग माने जाते हैं, तो फिर जैन व बौद्ध धर्म को अनीश्वरवादी

कहकर उससे कैसे भिन्न किया जा सकता है ? हिन्दू धर्म और दर्शन एक व्यापक परम्परा है या कहें कि वह विभिन्न विचार परम्पराओं का समूह है उसमें ईश्वरवाद, अनीश्वरवाद, द्वैतवाद-अद्वैतवाद, प्रवृत्ति-निवृत्ति, ज्ञान-कर्म सभी कुछ तो समाहित हैं। उसमें प्रकृति पूजा जैसे धर्म के प्रारम्भिक लक्षणों से लेकर अद्वैत की उच्च गहराइयाँ तक सभी कुछ सन्निविष्ट है।

अतः जैन और बौद्ध धर्म को हिन्दू परम्परा से भिन्न नहीं माना जा सकता। जैन व बौद्ध भी उसी अध्यात्म-पथ के अनुयायी हैं, जिसका प्रवर्तन औपनिषदिक ऋषियों ने किया था। उनकी विशेषता यह है कि उन्होंने भारतीय समाज के दलित वर्ग के उत्थान तथा जन्मनाजातिवाद, कर्मकाण्ड व पुरोहितवाद से मुक्ति का मार्ग प्रशस्त किया। उन्होंने उस धर्म का प्रतिपादन किया जो जनसामान्य का धर्म था और जिसे कर्मकाण्डों की अपेक्षा नैतिक सद्गुणों पर अधिष्ठित किया गया था। चाहे उन्होंने भारतीय समाज को पुरोहित वर्ग के धार्मिक शोषण से मुक्त किया हो, फिर भी वे विदेशी नहीं हैं, इसी माटी की संतान हैं, वे शत-प्रतिशत भारतीय हैं। उनकी भूमिका एक शल्य-चिकित्सक की भूमिका है जो मित्र की भूमिका है, शत्रु की नहीं। जैन और बौद्ध धर्म औपनिषदिक धारा का ही एक विकास है और आज उन्हें उसी परिप्रेक्ष्य में समझने की आवश्यकता है।

भारतीय धर्मों, विशेषरूप से औपनिषदिक, बौद्ध और जैन धर्मों की जिस पारस्परिक प्रभावशीलता के अध्ययन की आज विशेष आवश्यकता है, उसे समझने में प्राचीन स्तर के जैन आगम यथा -- आचारांग, सूत्रकृतांग, ऋषिभाषित और उत्तराध्ययन आदि हमारे दिशा निर्देशक सिद्ध हो सकते हैं। मुझे विश्वास है कि इन ग्रन्थों के अध्ययन से भारतीय विद्या के अध्येताओं को एक नई दिशा मिलेगी और यह मिथ्या विश्वास दूर हो जायेगा कि जैन धर्म, बौद्ध धर्म और हिन्दू धर्म परस्पर विरोधी धर्म हैं। आचारांग में हमें ऐसे अनेक सूत्र उपलब्ध होते हैं जो अपने भाव, शब्दयोजना और भाषाशैली की दृष्टि से औपनिषदिक सूत्रों के निकट हैं। आचारांग में आत्मा के स्वरूप के सन्दर्भ में जो विवरण प्रस्तुत किया गया है वह माण्डूक्योपनिषद् से यथावत् मिलता है। आचारांग में श्रमण और ब्राह्मण का उल्लेख परस्पर प्रतिस्पर्धियों के रूप में नहीं, अपितु सहगामियों के रूप में ही मिलता है। चाहे आचारांग, उत्तराध्ययन आदि जैन आगम हिंसक यज्ञीय कर्मकाण्ड का निषेध करते हैं, किन्तु वे ब्राह्मणों को भी उसी नैतिक एवं आध्यात्मिक पथ का अनुगामी मानते हैं जिस पथ पर श्रमण चल रहे थे। उनकी दृष्टि में ब्राह्मण वह है जो सदाचार का जीवन्त प्रतीक है। उसमें अनेक स्थलों पर श्रमणों और ब्राह्मणों (समणा-माहणा) का साथ-साथ उल्लेख हुआ है।

इसी प्रकार सूत्रकृतांग में यद्यपि तत्कालीन दार्शनिक मान्यताओं की समीक्षा है किन्तु उसके साथ ही उसमें औपनिषदिक युग के अनेक ऋषियों यथा -- विदेहनभि बाहुक, असितदेवल, द्वैपायन, पाराशर आदि का समादर पूर्वक उल्लेख हुआ है। सूत्रकृतांग स्पष्ट रूप से यह स्वीकार करता है कि यद्यपि इन ऋषियों के आचार-नियम उसकी आचार परम्परा से भिन्न थे, फिर भी वह उन्हें अपनी अर्हत परम्परा का ही पूज्य पुरुष मानता है। वह उन्हें महापुरुष और

तपोधना के रूप में उल्लेखित करता है और यह मानता है कि उन्होंने सिद्धि अर्थात् जीवन के चरम् साध्य मोक्ष को प्राप्त कर लिया था। सूत्रकृतांगकार की दृष्टि में ये ऋषिगण भिन्न आचारमार्ग का पालन करते हुए भी उसकी अपनी ही परम्परा के ऋषि थे। सूत्रकृतांग में इन ऋषियों को सिद्धि प्राप्त कहना तथा उत्तराध्ययन में अन्य लिंग सिद्धों का अस्तित्व मानना यही सूचित करता है कि प्राचीन काल में जैन परम्परा अत्यन्त उदार थी और यह मानती थी कि मुक्ति का अधिकार केवल उसके आचार नियमों का पालन करने वाले को ही नहीं है, अपितु भिन्न आचार मार्ग का पालन करने वाला भी मुक्ति का अधिकारी हो सकता है।

इसी संदर्भ में यहा ऋषिभाषित (इसिभासियाई) का उल्लेख करना भी आवश्यक है, जो जैन आगम साहित्य का प्राचीनतम ग्रन्थ (ई.पू. चौथी शती) है। जैन परम्परा में इस ग्रन्थ का निर्माण उस समय हुआ होगा जब जैन धर्म एक सम्प्रदाय के रूप में विकसित नहीं हुआ था। इस ग्रन्थ में नारद, असितदेवल, अंगीरस, पाराशर, अरुण नारायण, याज्ञवल्क्य, उदालक, विदुर, सारिपुत्त, महाकश्यप, मंखलिगोसाल, संजय (वेल्ठिठपुत्त) आदि पैतालिस ऋषियों का उल्लेख है और इन सभी को अर्हत्तृषि, बुद्ध-ऋषि एवं ब्राह्मणऋषि कहा गया है। ऋषिभाषित में इनके अध्यात्मिक और नैतिक उपदेशों का संकलन है। जैन परम्परा में इस ग्रन्थ की रचना इस तथ्य का स्पष्ट संकेत है कि औपनिषदिक ऋषियों की परम्परा और जैन परम्परा का उद्गम स्रोत एक ही है। यह ग्रन्थ न केवल जैन धर्म की धार्मिक उदारता का सूचक है, अपितु यह भी बताता है कि सभी भारतीय आध्यात्मिक परम्पराओं का मूल स्रोत एक ही है। औपनिषदिक, बौद्ध, जैन, आजीवक, सांख्य, योग आदि सभी उसी मूल स्रोत से निकली हुई धारायें हैं। जिस प्रकार जैन धर्म में ऋषिभाषित में विभिन्न परम्पराओं के उपदेश संकलित हैं, उसी प्रकार बौद्ध परम्परा की थेरगाथा में भी विभिन्न परम्पराओं के जिन-स्थविरों के उपदेश संकलित हैं, उनमें भी अनेक औपनिषदिक एवं अन्य श्रमण परम्परा के आचार्यों के उल्लेख हैं। जिनमें एक वर्धमान (महावीर) भी हैं। यह सब इस तथ्य का सूचक है कि भारतीय परम्परा प्राचीनकाल से ही उदार और सहिष्णु रही है और उसकी प्रत्येक धारा में यही उदारता और सहिष्णुता प्रवाहित होती रही है। आज जब हम साम्प्रदायिक अभिनिवेशों से जकड़ कर परस्पर संघर्षों में उलझ गये हैं इन ग्रन्थों का अध्ययन हमें एक नयी दृष्टि प्रदान कर सकता है। यदि भारतीय सांस्कृतिक चिंतन की इन धाराओं को एक दूसरे से अलग कर देखने का प्रयत्न किया जायेगा तो हम उन्हें सम्यक् रूप से समझने में सफल नहीं हो सकेंगे। उत्तराध्ययन, सूत्रकृतांग, ऋषिभाषित और आचारांग को समझने के लिए औपनिषदिक साहित्य का अध्ययन आवश्यक है। इसी प्रकार उपनिषदों और बौद्ध साहित्य को भी जैन परम्परा के अध्ययन के अभाव में सम्यक् प्रकार से नहीं समझा जा सकता है। आज साम्प्रदायिक अभिनिवेशों से ऊपर उठकर तटस्थ एवं तुलनात्मक रूप से सत्य का अन्वेषण ही एक ऐसा विकल्प है जो साम्प्रदायिक अभिनिवेश से ग्रस्त मानव को मुक्ति दिला सकता है।

पर्यावरण के प्रदूषण की समस्या और जैनधर्म*

- प्रो. सागरमल जैन

तीव्रता से बढ़ती हुई जनसंख्या और उपभोक्तावादी संस्कृति के कारण प्रदूषित होते पर्यावरण की रक्षा का प्रश्न आज मानव समाज की एक ज्वलन्त समस्या है, क्योंकि प्रदूषित होते हुए पर्यावरण के कारण न केवल मानवजाति अपितु पृथ्वी पर स्वयं जीवन के अस्तित्व को भी खतरा उत्पन्न हो गया है। उपभोक्तावादी संस्कृति के कारण जीवन के लिये आवश्यक स्रोतों का इतनी तीव्रता से और इतनी अधिक मात्रा में दोहन हो रहा है कि प्राकृतिक तेल एवं गैस की बात तो दूर रही, अगली शताब्दी में पेयजल और सिंचाई हेतु पानी मिलना भी दुष्कर होगा। यही नहीं, शहरों में शुद्ध प्राणवायु के थैले लगाकर चलना होगा। अतः मानवजाति के भावी अस्तित्व के लिये यह आवश्यक हो गया है कि पर्यावरण को प्रदूषण से मुक्त करने के प्रयत्न अविलम्ब प्रारम्भ हो। यह शुभ-लक्षण है कि पर्यावरण को प्रदूषण से मुक्त करने की चेतना आज समाज के सभी वर्गों में जागी है और इसी क्रम में यह विचार भी उभर कर सामने आया है कि विभिन्न धार्मिक परम्पराओं में पर्यावरण को प्रदूषण से मुक्त रखने के ऐसे कौन से निर्देश हैं जिनको उजागर करके पर्यावरण को प्रदूषण से मुक्त रखने के सन्दर्भ में मानव समाज के विभिन्न वर्गों की चेतना को जागृत किया जा सके। इस सन्दर्भ में यहाँ मैं जैनधर्म की दृष्टि से ही आप लोगों के समक्ष अपने विचार रखूँगा।

यह एक निर्विवाद तथ्य है कि जैनधर्म में भोगवृत्ति के प्रति संयम, अहिंसा और असंग्रह (अपरिग्रह) पर सर्वाधिक बल दिया गया है। उसके इन्हीं मूलभूत सिद्धान्तों के आधार पर जैनधर्म में ऐसे अनेक आचार नियमों का निर्देश हुआ है, जिनका परिपालन आज पर्यावरण को प्रदूषण से मुक्त रखने के लिये आवश्यक है। जैनधर्म के प्रवर्तक आचार्यों ने आज से ढाई हजार वर्ष पूर्व यह उद्घोषणा की थी कि न केवल प्राणीय जगत् एवं वनस्पति जगत् में जीवन की उपस्थिति है, अपितु उन्होंने यह भी कहा था कि पृथ्वी, पानी, वायु और अग्नि में भी जीवन है।¹ एक ओर तो वे यह मानते थे कि पृथ्वी, पानी एवं वनस्पति के आश्रित होकर अनेकानेक प्राणी अपना जीवन जीते हैं, अतः इनके दुरुपयोग, विनाश या हिंसा से उनका भी विनाश होता है।² दूसरे ये स्वयं भी जीवन है, क्योंकि इनके अभाव में जीवन की कल्पना भी सम्भव नहीं है। क्या हम जल, वायु, पृथ्वीतत्त्व एवं ऊर्जा (अग्नि-तत्त्व) के अभाव में जीवन की कोई कल्पना भी कर सकते हैं ? ये तो स्वयं जीवन के अधिष्ठान हैं। अतः इनका दुरुपयोग या विनाश स्वयं जीवन का ही विनाश है। इसीलिये जैनधर्म में उसे हिंसा या पाप कहा गया है।

* आकाशवाणी वाराणसी से प्रसारित वार्ता, नवम्बर 1993

हिन्दू धर्म में पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु को जो देव रूप माना गया है, उसका आधार भी इनका जीवन के अधिष्ठान रूप होना ही है। जैन परम्परा में भगवान महावीर से पूर्व भगवान पार्श्व के काल में भी पृथ्वी, जल, वायु, अग्नि और वनस्पति में जीवन होने की यह अवधारणा उपस्थित थी। पृथ्वीकायिक, जलकायिक, वायुकायिक, अग्निकायिक, वनस्पतिकायिक और त्रसकायिक -- ऐसे षट्जीवनिकायों की चर्चा प्राचीन जैन आगमों का प्रमुख विषय रहा है। आचारांगसूत्र (ई.पू. पाँचवी शती) का तो प्रारम्भ ही इन षट्जीवनिकायों के निरूपण से तथा उनकी हिंसा के कारणों एवं उनकी हिंसा से बचने के निर्देशों की चर्चा से ही होता है। इन षट्जीवनिकायों की हिंसा नहीं करने के सन्दर्भ में जैन आचार्यों के जो निर्देश हैं, वे पर्यावरण को प्रदूषण से मुक्त रखने की दृष्टि से आज सर्वाधिक मूल्यवान बन गये हैं। आगे हम उन्हीं की चर्चा करेंगे।

यह एक अनुभूत प्राकृतिक तथ्य है एक जीवन की अभिव्यक्ति और अवस्थिति दूसरे शब्दों में उसका जन्म, विकास और अस्तित्व दूसरे जीवनों के आश्रित है -- इससे हम इंकार भी नहीं कर सकते हैं। किन्तु इस सत्य को समझने की जीवन-दृष्टियाँ भिन्न-भिन्न रही हैं। एक दृष्टिकोण यह रहा है कि यदि एक जीवन दूसरे जीवन पर आश्रित है तो हमें यह अधिकार है कि हम जीवन के दूसरे रूपों का विनाश करके भी हमारे अस्तित्व को बनाये रखें। पूर्व में 'जीवोजीवस्य भोजनम्' और पश्चिम में 'अस्तित्व के लिये संघर्ष' (Struggle for existence) के सिद्धान्त इसी दृष्टिकोण के कारण अस्तित्व में आये। इनकी जीवन-दृष्टि हिंसक रही। इन्होंने विनाश से विकास का मार्ग चुना। आज पूर्व से पश्चिम तक इसी जीवन-दृष्टि का बोल-बाला है। जीवन के दूसरे रूपों का विनाश करके मानव के अस्तित्व को बचाने के प्रयत्न होते रहे हैं। किन्तु अब विज्ञान की सहायता से इस जीवन-दृष्टि का खोखलापन सिद्ध हो चुका है अब विज्ञान यह बताता है कि जीवन के दूसरे रूपों का अनवरत विनाश करके हम मानव का अस्तित्व भी नहीं बचा सकते हैं। इस सम्बन्ध में दूसरी जीवन दृष्टि यह रही कि एक जीवन, जीवन के दूसरे रूपों के सहयोग पर आधारित है-- जैनाचार्यों ने इसी जीवन-दृष्टि का उद्घोष किया था। आज से लगभग अठारह सौ वर्ष पूर्व आचार्य उमास्वाति ने एक सूत्र प्रस्तुत किया -- 'परस्परोपग्रहो जीवानाम्'⁴ अर्थात् जीवन एक दूसरे के सहयोग पर आधारित है। विकास का मार्ग हिंसा या विनाश नहीं परस्पर सहकार है। एक-दूसरे के पारस्परिक सहकार या सहयोग पर ही जीवन-यात्रा चलती है। जीवन के दूसरे रूपों के सहकारी बनकर ही हम अपना जीवन जी सकते हैं। प्राणी-जगत् पारस्परिक सहयोग पर आश्रित है। हमें अपना जीवन जीने के लिये दूसरे प्राणियों के सहयोग की और दूसरे प्राणियों को अपना जीवन जीने के लिये हमारे सहयोग की आवश्यकता है। हमें जीवन जीने (भोजन, प्राणवायु आदि) के लिये वनस्पति जगत् की आवश्यकता है तो वनस्पति को अपना जीवन जीने के लिये जल, वायु, खाद आदि की आवश्यकता है। वनस्पति से निरृत आवशीजन, फल, अन्न आदि से हमारा जीवन चलता है तो हमारे द्वारा निरृत कार्बनडाईआक्साईड एवं मल-मूत्र आदि से उनका जीवन चलता है। अतः जीवन जीने के लिये जीवन के दूसरे रूपों का सहयोग तो हम ले सकते हैं, किन्तु उनके विनाश का हमें अधिकार नहीं है, क्योंकि उनके विनाश

में हमारा भी विनाश निहित है। दूसरे की हिंसा वस्तुतः हमारी ही हिंसा है, इसलिये आचारांग में कहा गया था -- जिसे तू मारना चाहता है, वह तो तू ही है -- क्योंकि यह तो तेरे अस्तित्व का आधार है।⁵ सहयोग लेना और दूसरों को सहयोग करना यही प्राणी जगत् की आदर्श स्थिति है। जीवन कभी भी दूसरों के सहयोग के बिना नहीं चलता है। जिसे हम दूसरों के सन्दर्भ में अपना अधिकार मानते हैं, वहीं दूसरों के प्रति हमारा कर्तव्य भी है। इसे हमें नहीं भूलना है। सर्वत्र जीवन की उपस्थिति की कल्पना, उसके प्रति अहिंसक दृष्टि का परिणाम यह हुआ कि जैन आचार्यों ने जीवन के विविध रूपों की हिंसा और उनके दुरुपयोग को रोकने हेतु आचार के अनेक विधि-निषेधों का प्रतिपादन किया। आगे हम जल प्रदूषण, वायुप्रदूषण, खाद्य-सामग्री के प्रदूषण से बचने के लिये जैनाचार्यों ने किन आचार नियमों का प्रतिपादन किया है, इसकी चर्चा करेंगे।

जल प्रदूषण और जल-संरक्षण

जल को प्रदूषण से मुक्त रखने के लिये एवं उसके सीमित उपयोग के लिये जैन ग्रन्थों में अनेक निर्देश उपलब्ध हैं। यद्यपि, प्राचीन काल में ऐसे बड़े उद्योग नहीं थे, जिनसे बड़ी मात्रा में जल प्रदूषण हो, फिर भी जल में अल्प मात्रा में भी प्रदूषण न हो इसका ध्यान जैन परम्परा में रखा गया है। जैन परम्परा में प्राचीन काल से अवधारणा रही है कि नदी, तालाब, कुएँ आदि में प्रवेश करके स्नान, दातौन तथा मलमूत्र आदि का विसर्जन नहीं करना चाहिये, क्योंकि जल में शारीरिक-मलों के उत्सर्ग के परिणामस्वरूप जो विजातीय तत्त्व जल में मिलते हैं, उनसे बहुतायत से जलीय जीवों की हिंसा होती है और जल प्रदूषित होता है। जैन परम्परा में आज भी यह लोकोक्ति है कि पानी का उपयोग घी से भी अधिक सावधानी से करना चाहिये। मुझे स्वयं वे दिन याद हैं, जब घी के गिरने पर उतनी प्रताड़ना नहीं मिलती थी, जितनी एक गिलास पानी के गिर जाने पर। आज से 20-25 वर्ष पूर्व तक जैन मुनि यह नियम या प्रतिज्ञा दिलाते थे कि नदी, कुएँ आदि में प्रवेश करके स्नान नहीं करना, स्नान में एक घड़े से अधिक जल का व्यय नहीं करना आदि। उनके ये उपदेश हमारी आज की उपभोक्ता संस्कृति को हास्यास्पद लगते हों, किन्तु भविष्य में जो पीने योग्य पानी का संकट आने वाला है उसे देखते हुए, ये नियम कितने उपयोगी एवं महत्त्वपूर्ण हैं, इसे कोई भी व्यक्ति सरलता से समझ सकता है। जैन परम्परा में मुनियों के लिये तो सचित्तजल (जीवन युक्त जल) के प्रयोग का ही निषेध है। जैन मुनि केवल उबला हुआ गर्म पानी या अन्य किन्हीं साधनों से जीवाणु रहित हुआ जल ही ग्रहण कर सकता है। सामान्य उपयोग के लिये वह ऐसा जल भी ले लेता है, जिसका उपयोग गृहस्थ कर चुका हो और उसे बेकार मानकर फेंक रहा हो। गृहस्थ उपासक के लिये भी जल के उपयोग से पूर्व उसका छानना और सीमित मात्रा में ही उसका उपयोग करना आवश्यक माना गया है। बिना छाना पानी पीना जैनों के लिए पापाचरण माना गया है। जल को छानना अपने को प्रदूषित जल ग्रहण से बचाना है और इस प्रकार वह स्वारथ के संरक्षण का भी अनुपम साधन है। जल के अपव्यय का मुख्य कारण आज हमारी उपभोक्ता संस्कृति है। जल का मूल्य हमें इस लिये पता नहीं लगता है, कि प्रथम तो वह प्रकृति का निःशुल्क उपहार है दूसरे आज

नल की टोटी खोलकर हम उसे बिना परिश्रम के पा लेते हैं। यदि कुओं से स्वयं जल निकाल कर और उसे दूरी से घर पर लाकर इसका उपयोग करना हो तो जल का मूल्य क्या है, इसका हमें पता लगे। चाहे इस युग में जीवनोपयोगी सब वस्तुओं के मूल्य बढ़े हों, किन्तु जल तो सस्ता ही हुआ है। जल का अपव्यय न हो इसलिये प्रथम आवश्यकता यह है कि हम उपभोक्ता संस्कृति से विमुख हो। जहाँ पूर्व काल में जंगल में जाकर मल विसर्जन, दातौन, स्नान आदि किया जाता, वहाँ जल का कितना कम उपयोग होता यह किसी से छिपा नहीं है। पुनः वह मल एवं जल भी जंगल के छोटे पौधों के लिये खाद व पानी के रूप में उपयोगी होता था। आज की पाँच सितारा होटलों की संस्कृति में प्रत्येक व्यक्ति पहले से पचास गुना अधिक जल का उपयोग करता है। जो लोग जंगल में मल-मूत्र विसर्जन एवं नदी किनारे स्नान करते थे उनका जल का वास्तविक व्यय दो लिटर से अधिक नहीं था और उपयोग किया गया जल भी या तो पौधों के उपयोग में आता था फिर मिट्टी और रेत से छनकर नदी में मिलता, किन्तु आज पाँच सितारा होटल में एक व्यक्ति कम से कम पाँच सौ लिटर जल का अपव्यय कर देता है। यह अपव्यय हमें कहीं ले जायेगा, यह विचारणीय है।

वायुप्रदूषण का प्रश्न

वायुप्रदूषण के प्रश्न पर भी जैन-आचार्यों का दृष्टिकोण स्पष्ट था। यद्यपि प्राचीन काल में वे अनेक साधन, जो आज वायुप्रदूषण के कारण बने हैं, नहीं थे मात्र अधिक मात्रा में धूम्र उत्पन्न करने वाले व्यवसाय ही थे। धूम्र की अधिक मात्रा न केवल फलदार पेड़-पौधों के लिये अपितु अन्य प्राणियों और मनुष्यों के लिए किस प्रकार हानिकारक है, यह बात वैज्ञानिक गवेषणाओं और अनुभवों से सिद्ध हो गयी है। जैन आचार्यों ने उपासकदशासूत्र में जैन गृहस्थों के लिये स्पष्टतः उन व्यवसायों का निषेध किया है, जिनमें अधिक मात्रा में धूम्र उत्पन्न होकर वातावरण को प्रदूषित करता हो। वायुप्रदूषण का एक कारण फलों आदि को सड़ाकर उनसे शराब आदि मादक पदार्थ बनाने का व्यवसाय भी है। जिसका जैन गृहस्थ के लिए निषेध है। वायुप्रदूषण को रोकने और प्रदूषित वायु, सूक्ष्म कीटाणुओं एवं रजकण से बचने के लिये जैनों में मुख वस्त्रिका बाँधने या रखने की जो परम्परा है, वह इस तथ्य का प्रमाण है कि जैन आचार्य इस सम्बन्ध में कितने सजग थे कि प्रदूषित वायु और कीटाणु शरीर में मुख एवं नासिका के माध्यम से प्रवेश न करें और हमारा दूषित श्वास वायुप्रदूषण न करें।

पर्यावरण के प्रदूषण में आज धूम्र छोड़ने वाले वाहनों का प्रयोग भी एक प्रमुख कारण है। यद्यपि वैज्ञानिक प्रगति के इस युग में यह बात हास्यास्पद लगेगी, कि हम पुनः बैलगाड़ी की दिशा में लौट जायें, किन्तु यदि वातावरण को प्रदूषण से मुक्त रखना है तो हमें हमारे नगरों और सड़कों को इस धूम्र प्रदूषण से मुक्त रखने का प्रयास करना होगा। जैन मुनि के लिये आज भी जो पदयात्रा करने और कोई भी वाहन प्रयोग नहीं करने का नियम है वह चाहे हास्यास्पद लगे, किन्तु पर्यावरण को प्रदूषण से बचाने और मानव स्वास्थ्य की दृष्टि से वह कितना उपयोगी है, इसे छुठलाया नहीं जा सकता। आज की हमारी उपभोक्ता संस्कृति में हम एक ओर एक फर्लांग भी जाना हो तो वाहन की अपेक्षा रखते हैं तो दूसरी ओर डाक्टरों के

निर्देश पर प्रतिदिन पाँच-सात कि.मी. टहलते भी हैं। यह कैसी आत्मप्रवंचना है, एक ओर समय की बचत के नाम पर वाहनों का प्रयोग करना तो दूसरी ओर प्रातःकालीन एवं सायंकालीन भ्रमणों में अपने समय का अपव्यय करना। यदि मनुष्य मध्यम आकार के शहरों तक अपने दैनान्दिन कार्यों में वाहन का प्रयोग न करें तो उससे दोहरा लाभ हो। एक ओर ईंधन एवं तत्सम्बन्धी खर्च बचे, तो दूसरी ओर पर्यावरण प्रदूषण से बचे। साथ ही उसका स्वास्थ्य भी अनुकूल रहेगा। प्रकृति की ओर लौटने की बात आज चाहे परम्परावादी लगती हो, किन्तु एक दिन ऐसा आयेगा जब यह मानव अस्तित्व की एक अनिवार्यता होगी। आज भी यू.एस.ए. जैसे विकसित देशों में यह प्रवृत्ति प्रारम्भ हो गयी है।

वनस्पति जगत् और पर्यावरण

आचारांगसूत्र में वानस्पतिक जीवन की प्राणीय जीवन से तुलना करते हुए कहा गया है कि जिस प्रकार हम जीवन युक्त हैं और अनुकूल-प्रतिकूल, सुख-दुःखादि विविध संवेदनाओं की अनुभूति करते हैं, उसी प्रकार से वनस्पति जगत् आदि को भी अनुभूति होती है।⁶ किन्तु जिस प्रकार एक अंधा, पंगु, मूक एवं बधिर व्यक्ति पीड़ा का अनुभव करते हुए भी उसे अभिव्यक्त नहीं कर पाता है, उसी प्रकार वनस्पति आदि अन्य जीव-निकाय भी पीड़ा का अनुभव तो करते हैं किन्तु उसे व्यक्त करने में समर्थ नहीं होते। अतः व्यक्ति का प्रथम कर्तव्य यही है कि वह उनकी हिंसा एवं उनके अनावश्यक दुरुपयोग से बचे। जिस प्रकार हमें अपना जीवन-जीने का अधिकार है उसी प्रकार उन्हें भी अपना जीवन-जीने का अधिकार है। अतः जीवन जहाँ कहीं भी और जिस किसी भी रूप में हो उनका सम्मान करना हमारा कर्तव्य है। प्रकृति की दृष्टि में एक पौधे का जीवन भी उतना ही मूल्यवान है, जितना एक मनुष्य का। पेड़-पौधे पर्यावरण को प्रदूषण से मुक्त करने में जितने सहायक हैं, उतना मनुष्य नहीं है, वह तो पर्यावरण को प्रदूषित ही करता है। वृक्षों एवं वनों के संरक्षण तथा वनस्पति के दुरुपयोग से बचने के सम्बन्ध में भी प्राचीन जैन साहित्य में अनेक निर्देश हैं। जैन परम्परा में मुनि के लिए तो हरित-वनस्पति को तोड़ने व काटने की बात तो दूर उसे स्पर्श करने का भी निषेध था। गृहस्थ उपासक के लिये भी हरित वनस्पति के उपयोग को यथा शक्ति सीमित करने का निर्देश है। आज भी पर्व-तिथियों में हरित-वनस्पति नहीं खाने के नियम का पालन अनेक जैन गृहस्थ करते हैं। कंद और मूल का भक्षण जैन-गृहस्थ के लिए निषिद्ध ही है। इसके पीछे यह तथ्य रहा कि यदि मनुष्य जड़ों का ही भक्षण करेगा तो पौधों का अस्तित्व ही खतरे में हो जायेगा और उनका जीवन समाप्त हो जायेगा। इसी प्रकार से उस पेड़ को जिसका तना मनुष्य की बाँहों में न आ सकता हो, काटना मनुष्य की हत्या के बराबर दोष माना गया है। गृहस्थ उपासक के लिए जिन पन्द्रह निषिद्ध व्यवसायों का उल्लेख है उसमें वनों को काटना भी निषिद्ध है।⁷ आचारांग में वनस्पति के शरीर की मानव शरीर से तुलना करके यही बतलाया गया है कि वनस्पति की हिंसा भी प्राणी हिंसा के समान है। इसी प्रकार वनों में आग लगाना, वनों को काटना आदि को गृहस्थ के लिए सबसे बड़ा पाप (महारम्भ) माना गया है, क्योंकि उसमें न केवल वनस्पति की हिंसा होती है, अपितु अन्य वन्य जीवों की भी हिंसा होती है और पर्यावरण प्रदूषित होता है। क्योंकि वन वर्षा और

पर्यावरण को प्रदूषण से मुक्त रखने के अनुपम साधन है।

कीटनाशकों का प्रयोग

आज खेती में जो रासायनिक उर्वरकों और कीटनाशक दवाओं का उपयोग बढ़ता जा रहा है वह भी हमारे भोजन में होने वाले प्रदूषण का कारण है। जैन परम्परा में गृहस्थ-उपासक के लिए खेती की अनुमति तो है, किन्तु किसी भी स्थिति में कीटनाशक दवाओं का उपयोग करने की अनुमति नहीं है, क्योंकि उससे छोटे-छोटे जीवों की उद्देश्य पूर्ण हिंसा होती है, जो उसके लिए निषिद्ध है। इसी प्रकार गृहस्थ के लिए निषिद्ध पन्द्रह व्यवसायों में विशैले पदार्थ का व्यवसाय भी वर्जित है।⁸ अतः वह न तो कीटनाशक दवाओं का प्रयोग कर सकता है और न ही उनका क्रय-विक्रय कर सकता है। महाराष्ट्र के एक जैन किसान ने प्राकृतिक पत्तों, गोबर आदि की खाद से तथा कीटनाशकों के उपयोग बिना ही अपने खेतों में रिकार्ड उत्पादन करके सिद्ध कर दिया है कि रासायनिक उर्वरकों के उपयोग न तो आवश्यक है और न ही वांछनीय, क्योंकि इससे न केवल पर्यावरण का संतुलन भंग होता है और वह प्रदूषित होता है, अपितु हमारे खाद्यान् भी विषयुक्त बनते हैं जो हमारे स्वास्थ्य के लिये हानिकर होते हैं।

रात्रिभोजन निषेध और प्रदूषणमुक्तता

इसी प्रकार जैन परम्परा में जो रात्रिभोजन निषेध की मान्यता है⁹, वह भी प्रदूषण मुक्तता की दृष्टि से एक वैज्ञानिक मान्यता है, जिससे प्रदूषित आहार शरीर में नहीं पहुँचता और स्वास्थ्य की रक्षा होती है। सूर्य के प्रकाश में जो भोजन पकाया और खाया जाता है वह जितना प्रदूषण मुक्त एवं स्वास्थ्य-वर्द्धक होता है, उतना रात्रि के अंधकार या कृत्रिम प्रकाश में पकाया गया भोजन नहीं होता है। यह तथ्य न केवल मनो-कल्पना है, बल्कि एक वैज्ञानिक सत्य है। जैनों ने रात्रिभोजन-निषेध के माध्यम से पर्यावरण और मानवीय स्वास्थ्य दोनों के संरक्षण का प्रयत्न किया है। दिन में भोजन पकाना और खाना उसे प्रदूषण से मुक्त रखना है, क्योंकि रात्रि में एवं कृत्रिम प्रकाश में भोजन में विषाक्त सूक्ष्म प्राणियों के गिरने की सम्भावना प्रबल होती है, पुनः देर रात में किये गये भोजन का परिपाक भी सम्यक् रूपेण नहीं होता है।

शिकार और मांसाहार

आज जो पर्यावरण का संकट बढ़ता जा रहा है उसमें वन्य-जीवों और जलीय- जीवों का शिकार भी एक कारण है। आज जलीय जीवों की हिंसा के कारण जल में प्रदूषण बढ़ता है। यह तथ्य सुस्पष्ट है कि मछलियाँ आदि जलीय-जीवों का शिकार जल-प्रदूषण का कारण बनता जा रहा है। इसी प्रकार कीट-पतंग एवं वन्य-जीव भी पर्यावरण के सन्तुलन का बहुत बड़ा आधार है। आज एक ओर वनों के कट जाने से उनके संरक्षण के क्षेत्र समाप्त होते जा रहे हैं, वहीं दूसरी ओर फर, चमड़े, मांस आदि के लिए वन्य-जीवों का शिकार बढ़ता जा रहा है। जैन परम्परा में कोई व्यक्ति तभी प्रवेश पा सकता है जबकि वह शिकार व मांसाहार नहीं करने का व्रत लेता है। शिकार व मांसाहार नहीं करना जैन गृहस्थ धर्म में प्रवेश की प्रथम शर्त है। मत्स्य, मांस, अण्डे एवं शहद का निषेध कर जैन आचार्यों ने जीवों के संरक्षण के लिए भी

प्राचीन काल से ही महत्त्वपूर्ण प्रयत्न किये हैं।

रासायनिक शस्त्रों का प्रयोग

आज विश्व में आणविक एवं रासायनिक शस्त्रों में वृद्धि हो रही है और उनके परीक्षणों तथा युद्ध में उनके प्रयोगों के माध्यम से भी पर्यावरण में असंतुलन उत्पन्न होता है तथा वह प्रदूषित होता है। इनका प्रयोग न केवल मानवजाति के लिए, अपितु समस्त प्राणि-जाति के अस्तित्व के लिए खतरा है। आज शस्त्रों की इस अंधी दौड़ में हम न केवल मानवता की, अपितु इस पृथ्वी पर प्राणी-जगत् की अन्त्येष्टि हेतु चिंता तैयार कर रहे हैं। भगवान महावीर ने इस सत्य को पहले ही समझ लिया था कि यह दौड़ मानवता की सर्व विनाशक होगी। आचारांग में उन्होंने कहा -- 'अत्थि सत्थं परेणपरं-नत्थि असत्थं परेणपरं'¹⁰ अर्थात् शस्त्रों में एक से बढ़कर एक हो सकते हैं, किन्तु अशस्त्र (अहिंसा) से बढ़कर कुछ नहीं है। निःशस्त्रीकरण का यह आदेश आज कितना सार्थक है यह बतलाना आवश्यक नहीं है। यदि हमें मानवता के अस्तित्व की चिन्ता है तो पर्यावरण के सन्तुलन का ध्यान रखना होगा एवं आणविक तथा रासायनिक शस्त्रों के प्रयोग पर प्रतिबन्ध लगाना होगा।

इस प्रकार हम देखते हैं कि जैनधर्म में पर्यावरण के संरक्षण के लिए पर्याप्त रूप से निर्देश उपलब्ध है। उसकी दृष्टि में प्राकृतिक साधनों, असीम दानन जिनमें बड़ी मात्रा में भू-खनन, जल-अवशोषण, वायुप्रदूषण, वनों के काटने आदि के कार्य होते हैं, वे महारम्भ की कोटि में आते हैं, जिसको जैनधर्म में नरक-गति का कारण बताया गया है। जैनधर्म का संदेश है प्रकृति एवं प्राणियों का विनाश करके नहीं, अपितु उनका सहयोगी बनकर जीवन-जीना ही मनुष्य का कर्तव्य है। प्रकृति विजय के नाम पर हमने जो प्रकृति के साथ अन्याय किया है, उसका दण्ड हमारी सन्तानों को न भुगतना पड़े इसलिए आवश्यक है कि हम न केवल वन्य प्राणियों, पेड़-पौधों, अपितु जल, प्राणवायु, जीवन-ऊर्जा (अग्नि) और जीवन अधिष्ठान (पृथ्वी) के साथ भी सहयोगी बनकर जीवन जीना सीखें, उनके संहारक बनकर नहीं, क्योंकि उनका संहार प्रकारान्तर से अपना ही संहार है।

जैन आचार्यों की पर्यावरण के प्रति विशेष रूप से वनस्पति जगत के प्रति कितनी सजगता रही है, इसका पता इस तथ्य से चलता है कि उन्होंने अपने प्रत्येक तीर्थंकर के साथ एक चैत्य-वृक्ष को जोड़ दिया और इस प्रकार वे चैत्य-वृक्ष भी जैनों के लिए प्रतीक रूप पूज्य बन गये। समवायांगसूत्र के अनुसार तीर्थंकरों के चैत्यवृक्षों की सूची इस प्रकार है¹¹ --

- | | |
|-------------------------|---------------------------|
| 1. ऋषभ -- न्यग्रोध (वट) | 7. सुपार्श्व -- शिरीष |
| 2. अजित -- सप्तपर्ण | 8. चन्द्रप्रभ -- नागवृक्ष |
| 3. रामभव -- शाल | 9. पुण्यदन्त -- साली |
| 4. अभिनन्दन -- प्रियाल | 10. शीतल -- पिल्लंबुवृक्ष |
| 5. सुमति -- प्रियंगु | 11. श्रेयान्स -- तिन्दुक |
| 6. पद्मप्रभ -- छत्राह | 12. वासुपूज्य -- पाटल |

- | | |
|-------------------------------|------------------------------------|
| 13. विमल -- जम्बु | 19. मल्ली -- अशोक |
| 14. अनन्त -- अश्वत्थ (पीपल) | 20. मुनिसुव्रत -- चम्पक |
| 15. धर्म -- दधिपर्ण | 21. नमि -- बकुल |
| 16. शान्ति -- नन्दीवृक्ष | 22. नेमि -- वेत्रसवृक्ष |
| 17. कुन्धु -- तिलक | 23. पार्श्व -- धातकीवृक्ष |
| 18. अर -- आम्रवृक्ष | 24. महावीर (वर्धमान) -- शालवृक्ष |

इस प्रकार हम यह भी देखते हैं कि जैन परम्परा के अनुसार प्रत्येक तीर्थंकर ज्ञान प्राप्ति के पश्चात् अशोक वृक्ष की छाया में बैठकर ही अपना उपदेश देते हैं इससे भी उनकी प्रकृति और पर्यावरण के प्रति सजगता प्रगट होती है। प्राचीनकाल में जैन मुनियों को वनों में ही रहने का निर्देश था, फलतः वे प्रकृति के अति निकट होते थे। कालान्तर जब कुछ जैन मुनि चैत्यों या बस्तियों में रहने लगे तो उनके दो विभाग हो गये --

1. चैत्यवासी 2. वनवासी

किन्तु इसमें भी चैत्यवासी की अपेक्षा वनवासी मुनि ही अधिक आदरणीय बने। जैन परम्परा में वनवास को सदैव ही आदर की दृष्टि से देखा गया।

इसीप्रकार हम यह भी हैं कि जैन तीर्थंकर प्रतिमाओं को एक-दूसरे से पृथक् करने के लिए जिन प्रतीक चिन्हों (लांछनों) को प्रयोग किया गया है उनमें भी वन्य जीवों या जल-जीवों को ही प्राथमिकता मिली है। यथा --

तीर्थंकर -- लांछन	विमल -- वराह
ऋषभ -- बैल	अनन्त -- श्येनपक्षी
अजित -- गज	अनन्त -- रीछ
सम्भव -- अश्व	शान्तिनाथ -- मृग
अभिनन्दन -- कपि	कुन्धु -- ह्याग
सुमतिनाथ -- कौच	सुव्रत -- कूर्म
पुष्पदंत -- मकर	पार्श्वनाथ -- सर्प
वासुपूज्य -- महिष	महावीर -- सिंह

इन सभी तथ्यों से यह फलित है कि जैन आचार्य प्रकृति और पर्यावरण के प्रति सजग रहे हैं तथा उनके द्वारा प्रतिपादित आचार सम्बन्धी विधिनिषेध पर्यावरण को प्रदूषण मुक्त रखने में पर्याप्त रूप से सहायक है।

सन्दर्भ

1. तं परिण्णाय मेहावी णेव संय ह्ज्जीव-णिकाय-सत्थं समारंभेज्जा,
णेवण्णेहिं ह्ज्जीव-णिकाय-सत्थं समारभावेज्जा, णेवण्णे
ह्ज्जीव-णिकाय-सत्थं समारंभेति समणुजाणेज्जा ।
- आयारो, आचार्य तुलसी, १/१७६
2. से बेमि -- संति पाणा उदय-निस्सिया जीवा अणेगा ।
- आयारो, आचार्य तुलसी, 1/54
3. देखिये -- आयारो, द्वितीय उद्देशक से सप्तम उद्देशक तक
4. परस्परोपग्रहो जीवानाम्, तत्त्वार्थसूत्र, उमास्वाति, 5/21
5. तुमंसि नाम सच्चवेव जं 'हंतत्वं' ति मन्नसि,
तुमंसि नाम सच्चवेव जं 'अज्जावेयव्वं' ति मन्नसि,
तुमंसि नाम सच्चवेव जं 'परितावेयव्वं' ति मन्नसि,
तुमंसि नाम सच्चवेव जं 'परिघेतव्वं' ति मन्नसि,
तुमंसि नाम सच्चवेव जं 'उद्दवेयव्वं' ति मन्नसि ।
- आयारो, 5/10
6. वणस्सइजीवाणं माणुस्सेण तुलणा पदं
से बेमि -- इमंपि जाइधम्मयं, एयंपि जाइधम्मयं ।
इमंपि बुद्धिधम्मयं, एयंपि बुद्धिधम्मयं ।
इमंपि चित्तमंतयं, एयंपि चित्तमंतयं ।
इमंपि छिन्नं मिलाति, एयंपि छिन्नं मिलाति ।
इमंपि आहारगं, एयंपि आहारगं ।
इमंपि अणिच्चयं, एयंपि अणिच्चयं ।
इमंपि असासयं, एयंपि असासयं ।
इमंपि चयावचइयं, एयंपि चयावचइयं ।
इमंपि विपरिणामधम्मयं, एयंपि विपरिणामधम्मयं ।
- आयारो, सं. आचार्य तुलसी, 1/32
7. तं जहा -- इंगालकम्मे, वणकम्मे, साडीकम्मे, भाडीकम्मे, फोडीकम्मे, दंतवाणिज्जे,
लक्खावाणिज्जे, रसवाणिज्जे, विसवाणिज्जे, केसवाणिज्जे, जंतपीलणकम्मे,
निल्लंछणकम्मे, दवगिदावणया, सरदहतलायसोसणया, असईजणपोसणया ।
- उपासकदशासूत्र, सं. मधुकर मुनि, 1/5
8. वही, 1/5
9. से वारिया इत्थि सरायभत्तं 1
- सूत्रकृतांगसूत्र, मधुकरमुनि, 1/6/379
10. समवायांगसूत्र, मधुकरमुनि, परिशिष्ट 646 .

जैनधर्म और सामाजिक समता

(वर्ण एवं जाति व्यवस्था के विशेष सन्दर्भ में)

- प्रो. सागरमल जैन

मानव समाज में स्त्री-पुरुष, सुन्दर-असुन्दर, बुद्धिमान-मूर्ख, आर्य-अनार्य, कुलीन-अकुलीन, स्पर्श्य-अस्पर्श्य, धनी-निर्धन आदि के भेद प्राचीनकाल से ही पाये जाते हैं। इनमें कुछ भेद तो नैसर्गिक हैं और कुछ मानव सृजित। ये मानव सृजित भेद ही सामाजिक विषमता के कारण हैं। यह सत्य है कि सभी मनुष्य, सभी बातों में एक दूसरे से समान नहीं होते, उनमें रूप-सौन्दर्य, धन-सम्पदा, बौद्धिक-विकास, कार्य-क्षमता, व्यवसायिक-योग्यता आदि के दृष्टि से विषमता या तरतमता होती है। किन्तु इन विषमताओं या तरतमताओं के आधार पर अथवा मानव समाज के किसी व्यक्ति विशेष को वर्ग-विशेष में जन्म लेने के आधार पर निम्न, पतित, दलित या अस्पर्श्य मान लेना उचित नहीं है। यह सत्य है कि मनुष्यों में विविध दृष्टियों से विभिन्नता या तरतमता पायी जाती है और वह सदैव बनी भी रहेगी, किन्तु इसे मानव समाज में वर्ग-भेद या वर्ण-भेद का आधार नहीं माना जा सकता, क्योंकि एक ही पिता के दो पुत्रों में ऐसी भिन्नता या तरतमता देखने में आती है। हम यह भी देखते हैं कि जो व्यक्ति गरीब होता है, वही कालक्रम में धनवान या सम्पत्तिशाली हो जाता है। एक मूर्ख पिता का पुत्र भी बुद्धिमान अथवा प्राज्ञ हो सकता है। एक पिता के दो पुत्रों में एक बुद्धिमान तो दूसरा मूर्ख अथवा एक सुन्दर तो दूसरा कुरूप हो सकता है। अतः इस प्रकार की तरतमताओं के आधार पर मनुष्यों को सदैव के लिए मात्र जन्मना आधार पर विभिन्न वर्गों या वर्णों में बाँट कर नहीं रखा जा सकता है। चाहे वह धनोपार्जन हेतु चयनित विभिन्न व्यावसायिक क्षेत्र हो, चाहे कला, विद्या अथवा साधना के क्षेत्र हो, हम मानव समाज के किसी एक वर्ग विशेष को जन्मना आधार पर उसका ठेकेदार नहीं मान सकते हैं। यह सत्य है कि नैसर्गिक-योग्यताओं एवं कार्यों के आधार पर मानव समाज में सदैव ही वर्णभेद या वर्णभेद बने रहेंगे, फिर भी उनका आधार वर्ग या जाति विशेष में जन्म न होकर व्यक्ति की अपनी स्वाभाविक योग्यता के आधार पर अपनाये गये व्यवसाय या कार्य होंगे। व्यवसाय या कर्म के सभी क्षेत्र सभी व्यक्तियों के लिए समान रूप से खुले होने चाहिए और किसी भी वर्ग विशेष में जन्मे व्यक्ति को भी किसी भी क्षेत्र विशेष में प्रवेश पाने के अधिकार से वंचित नहीं किया जाना चाहिये -- यही सामाजिक समता का आधार है। यह सत्य है मानव समाज में सदैव ही कुछ शासक या अधिकारी और कुछ शासित या कर्मचारी होंगे, किन्तु यह अधिकार कभी मान्य नहीं हो सकता कि अधिकारी का अयोग्य पुत्र शासक और कर्मचारी या शासित का योग्य पुत्र शासित ही बना रहे। सामाजिक समता का तात्पर्य यह नहीं है कि मानव समाज में कोई भिन्नता या तरतमता ही नहीं हो। उसका तात्पर्य है

मानव समाज के सभी सदस्यों को विकास के समान अवसर उपलब्ध हो तथा प्रत्येक व्यक्ति अपनी क्षमता और योग्यता के आधार पर अपना कार्य क्षेत्र निर्धारित कर सके। इस सामाजिक समता के सन्दर्भ में जहाँ तक जैन आचार्यों के चिन्तन का प्रश्न है, उन्होंने मानव में स्वाभाविक-योग्यता जन्य अथवा पूर्व कर्म-संस्कार जन्य तरतमता को स्वीकारते हुए भी यह माना है कि चाहे विद्या का क्षेत्र हो, चाहे व्यवसाय या साधना का उसमें प्रवेश का द्वार सभी के लिए बिना भेद-भाव के खुले रहना चाहिए। जैन धर्म स्पष्ट रूप से इस बात को मानता है कि किसी जाति या वर्ण-विशेष में जन्म लेने से कोई व्यक्ति श्रेष्ठ या हीन नहीं होता। उसे जो हीन या श्रेष्ठ बनाता है, वह है उसका अपना पुरुषार्थ, उसकी अपनी साधना, सदाचार और कर्म। हम जैनों के इसी दृष्टिकोण को अग्रिम पृष्ठों में सप्रमाण प्रस्तुत करने का प्रयत्न करेंगे।

जन्मना वर्ण-व्यवस्था एक असमीचीन अवधारणा

जैन आचार्य श्रुति के इस कथन को स्वीकार नहीं करते हैं कि ब्राह्मणों की उत्पत्ति ब्रह्मा के मुख से, क्षत्रिय की बाहु से, वैश्यों की जंघा से और शूद्र की पैरों से हुई है। चूँकि मुख श्रेष्ठ अंग है, अतः इन सबमें ब्राह्मण ही श्रेष्ठ है।¹ ब्रह्मा के शरीर के विभिन्न अंगों से जन्म के आधार पर ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य एवं शूद्र ऐसी वर्ण-व्यवस्था जैन चिन्तकों को स्वीकार नहीं है। उनका कहना है कि सभी मनुष्य स्त्री-योनि से ही उत्पन्न होते हैं। अतः सभी समान है।² पुनः इन अंगों में से किसी को श्रेष्ठ एवं उत्तम और किसीमेंनिकृष्ट या हीन मानकर वर्ण-व्यवस्था में श्रेष्ठता एवं हीनता का विधान नहीं किया जा सकता है, क्योंकि शरीर के सभी अंग समान महत्त्व के हैं। इसी प्रकार शारीरिक वर्णों की भिन्नता के आधार पर किया गया ब्राह्मण आदि जातियों का वर्गीकरण भी जैनों को मान्य नहीं है।

आचार्य जटासिंह नन्दि ने अपने वंराग-चरित में इस बात का विस्तार से विवेचन किया है कि शारीरिक विभिन्नताओं या वर्णों के आधार पर किया जाने वाला जाति सम्बन्धी वर्गीकरण मात्र पशु-पक्षी आदि के विषय में ही सत्य हो सकता है, मनुष्यों के सन्दर्भ में नहीं। वनस्पति एवं पशु-पक्षी आदि में जाति का विचार सम्भव है, किन्तु मनुष्य के विषय में यह विचार संभव नहीं है, क्योंकि सभी मनुष्य समान हैं। मनुष्यों की एक ही जाति है। न तो सभी ब्राह्मण शुभ वर्ण के होते हैं, न सभी क्षत्रिय रक्त वर्ण, न सभी वैश्य पीत वर्ण के और न सभी शूद्र कृष्ण वर्ण के होते हैं। अतः जन्म के आधार पर जाति व वर्ण का निश्चय सम्भव नहीं है।³

समाज में ऊँच-नीच का आधार किसी वर्ण विशेष या जाति विशेष में जन्म लेना नहीं माना जा सकता। न केवल जैन परम्परा, अपितु हिन्दू परम्परा में भी अनेक उदाहरण हैं जहाँ निम्न वर्णों से उत्पन्न व्यक्ति भी अपनी प्रतिभा और आचार के आधार पर श्रेष्ठ कहलाये। ब्राह्मणों की श्रेष्ठता पर प्रश्न चिन्ह लगाते हुए वंराग-चरित⁴ में जटासिंह नन्दि कहते हैं कि "जो ब्राह्मण स्वयं राजा की कृपा के आकांक्षी हैं और उनके द्वारा अनुशासित होकर उनके अनुग्रह की अपेक्षा रखते हैं, ऐसे दीन ब्राह्मण नृपों (क्षत्रियों) से कैसे श्रेष्ठ कहे जा सकते हैं! द्विज ब्रह्मा के मुख से निर्गत हुए अतः श्रेष्ठ हैं -- यह वचन केवल अपने स्वार्थों की पूर्ति के लिए

कहा गया है। ब्राह्मण प्रतिदिन राजाओं की स्तुति करते हैं और उनके लिए स्वस्ति पाठ एवं शान्ति पाठ करते हैं, लेकिन वह सब भी धन की आशा से ही किया जाता है, अतः ऐसे ब्राह्मण आप्तकाम नहीं माने जा सकते हैं। फलतः इनका अपनी श्रेष्ठता का दावा मिथ्या है। जिस प्रकार नट रंगशाला में कार्य स्थिति के अनुरूप विचित्र वेशभूषा को धारण करता है उसी प्रकार यह जीव भी संसार रूपी रंगमंच पर कर्मों के अनुसार भिन्न-भिन्न रूपों को प्राप्त होता है। तत्त्वतः आत्मा न ब्राह्मण है, न क्षत्रिय, न वैश्य और न शूद्र ही। वह तो अपने ही पूर्व कर्मों के वश में होकर संसार में विभिन्न रूपों में जन्म ग्रहण करता है। यदि शरीर के आधार पर ही किसी को ब्राह्मण, क्षत्रिय कहा जाय, तो यह भी उचित नहीं है। विज्ञ-जन देह को नहीं, ज्ञान (योग्यता) को ही ब्रह्म कहते हैं। अतः निकृष्ट कहा जाने वाला शूद्र भी ज्ञान या प्रज्ञा-क्षमता के आधार पर वेदाध्ययन करने का पात्र हो सकता है। विद्या, आचरण एवं सद्गुण से रहित व्यक्ति जाति विशेष में जन्म लेने मात्र से ब्राह्मण नहीं हो जाता, अपितु अपने ज्ञान, सद्गुण आदि से युक्त होकर ही ब्राह्मण होता है। व्यास, वशिष्ठ, कमठ, कंठ, द्रोण, पाराशर आदि अपने जन्म के आधार पर नहीं, अपितु अपने सदाचरण एवं तपस्या से ही ब्राह्मणत्व को प्राप्त हुए थे। अतः ब्राह्मणत्व आदि सदाचार और कर्तव्यशीलता पर आधारित है -- जन्म पर नहीं।

सच्चा ब्राह्मण कौन ?

जैन परम्परा ने सदाचरण को ही मानवीय जीवन में उच्चता और निम्नता का प्रतिमान माना है। उत्तराध्ययन सूत्र के पच्चीसवें अध्याय एवं धम्म-पद के ब्राह्मण वर्ग नामक अध्याय में सच्चा ब्राह्मण कौन है, इसका विस्तार से विवेचन उपलब्ध है। विस्तार भय से उसकी समग्र चर्चा में न जाकर केवल कुछ गाथाओं को प्रस्तुत कर ही विराम लेंगे। उसमें कहा गया है कि "जिसे लोक में कुशल पुरुषों ने ब्राह्मण कहा है, जो अग्नि के समान सदा पूज्यनीय है और जो प्रियजनों के आने पर आसक्त नहीं होता और न उनके जाने पर शोक करता है। जो सदा आर्य-वचन में रमण करता है, उसे ब्राह्मण कहते हैं।"

"कसौटी पर कसे हुए और अग्नि के द्वारा दग्धमल हुए, शूद्र किये गए जात रूप सोने की तरह जो विशुद्ध है, जो राग द्वेष और भय से मुक्त है, तथा जो तपस्वी है, कृश है, दान्त है, जिसका मांस और रक्त अपचित (कम) हो गया है, जो सुव्रत है, शांत है, उसे ही ब्राह्मण कहा जाता है।"

"जो त्रस और स्थावर जीवों को सम्यक् प्रकार से जानकर उनकी मन, वचन और काया से हिंसा नहीं करता है, जो क्रोध, हास्य, लोभ अथवा भय से झूठ नहीं बोलता, जो सचित्त या अचित्त, थोड़ा या अधिक अदत्त नहीं लेता है, जो देव, मनुष्य और तिर्य्यक सम्बन्धी मैथुन का मन, वचन और शरीर से सेवन नहीं करता है, जिस प्रकार जल में उत्पन्न हुआ कमल जल से लिप्त नहीं होता, उसी प्रकार जो कामभोगों से अलिप्त रहता है, उसे हम ब्राह्मण कहते हैं।"

इसी प्रकार जो रसादि में लोलुप नहीं है, जो निर्दोष भिक्षा से जीवन का निर्वाह करता है,

जो गृह त्यागी है, जो अंकिचन है, पूर्वजातिजनों एवं बन्धु-बान्धवों में आसक्त नहीं रहता है, उसे ही ब्राह्मण कहते हैं।" ⁵

धम्मपद में भी कहा गया है कि "जैसे कमल पत्र पर पानी होता है, जैसे आरे की नोक पर सरसों का दाना होता है, वैसे ही जो कामों में लिप्त नहीं होता, जिसने अपने दुःखों के क्षय को यहीं पर देख लिया है, जिसने जन्म-मरण के भार को उतार दिया है, जो सर्वथा अनासक्त है, जो भेदावी है, स्थितप्रज्ञ है, जो सन्मार्ग तथा कुमार्ग को जानने में कुशल है और जो निर्वाण की उत्तम स्थिति को पहुँच चुका है -- उसे ही मैं ब्राह्मण कहता हूँ।" ⁶ इस प्रकार हम देखते हैं कि जैन एवं बौद्ध दोनों परम्पराओं ने ही सदाचार के आधार पर ब्राह्मणत्व की श्रेष्ठता का स्वीकार करते हुए, ब्राह्मण की एक नई परिभाषा प्रस्तुत की, जो सदाचार और सामाजिक समता की प्रतिष्ठापक थी। न केवल जैन परम्परा एवं बौद्ध-परम्परा में, वरन् महाभारत में भी ब्राह्मणत्व की यही परिभाषा है। जैन परम्परा के उत्तराध्ययन-सूत्र, बौद्ध-परम्परा के धम्मपद और महाभारत के शान्तिपर्व में सच्चे ब्राह्मण के स्वरूप का जो विवरण मिलता है, वह न केवल वैचारिक साम्यता रखता है, वरन् उसमें शाब्दिक साम्यता भी अधिक है, जो कि तुलनात्मक अध्ययन की दृष्टि से बहुत महत्त्वपूर्ण है।

सच्चा ब्राह्मण कौन है ? इस विषय में 'कुमारपाल प्रबोध-प्रबन्ध' में मनुस्मृति एवं महाभारत से कुछ श्लोक उद्धृत करके यह बताया गया है कि -- "शील सम्पन्न शूद्र भी ब्राह्मणत्व को प्राप्त हो जाता है और सदाचार रहित ब्राह्मण भी शूद्र के समान हो जाता है। अतः सभी जातियों में चाण्डाल और सभी जातियों में ब्राह्मण होते हैं। हे अर्जुन ! जो ब्राह्मण कृषि, वाणिज्य, गोरक्षा एवं राज्य की सेवा करते हैं, वे वस्तुतः ब्राह्मण नहीं हैं। जो भी द्विज हिंसक, असत्यवादी, चौर्यकर्म में लिप्त, परदार सेवी हैं। वे सभी पतित (शूद्र) हैं। इसके विपरीत ब्रह्मचर्य और तप से युक्त लौह व स्वर्ण में समान भाव रखने वाले, प्राणियों के प्रतिदयावान सभी जाति के व्यक्ति ब्राह्मण ही हैं।"

सच्चे ब्राह्मण के लक्षण बताते हुए कहा गया है -- "जो व्यक्ति क्षमाशील आदि गुणों से युक्त हो, जिसने सभी दण्डों (परपीडन) का परित्याग कर दिया है, जो निरामिष-भोजी है और किसी भी प्राणि की हिंसा नहीं करता -- यह किसी व्यक्ति के ब्राह्मण होने का प्रथम लक्षण है। इसी प्रकार जो कभी असत्य नहीं बोलता, मिथ्यावचनों से दूर रहता है -- यह ब्राह्मण का द्वितीय लक्षण है। पुनः जिसने परद्रव्य का त्याग कर दिया है तथा जो अदत्त को ग्रहण नहीं करता, यह उसके ब्राह्मण होने का तृतीय लक्षण है। जो देव, असुर, मनुष्य तथा पशुओं के प्रति मैथुन का सेवन नहीं करता -- वह उसके ब्राह्मण होने का चतुर्थ लक्षण है। जिसने कुटुम्ब का वास अर्थात् गृहस्थाश्रम का त्याग कर दिया हो, जो परिग्रह और आसक्ति से रहित है, यह ब्राह्मण होने का पंचम लक्षण है। जो इन पाँच लक्षणों से युक्त है वही ब्राह्मण है, द्विज है और महान है, शेष तो शूद्रवत् है। केवट की पुत्री के गर्भ से उत्पन्न व्यास नामक महामुनि हुए हैं। इसी प्रकार हरिणी के गर्भ से उत्पन्न श्रृंग ऋषि, शुनकी के गर्भ से शुक, माण्डूकी के गर्भ से मांडव्य तथा उर्वशी के गर्भ से उत्पन्न वशिष्ठ महामुनि हुए। न तो इन सभी

ऋषियों की माता ब्राह्मणी हैं, न ये संस्कार से ब्राह्मण हुए थे; अपितु ये सभी तप साधना या सदाचार से ब्राह्मण हुए हैं। इसलिए ब्राह्मण होने में जाति विशेष में जन्म कारण नहीं है, अपितु तप या सदाचार ही कारण है।⁷"

कर्मणा वर्ण-व्यवस्था जैनों को भी स्वीकार्य

जैन परम्परा में वर्ण का आधार जन्म नहीं, अपितु कर्म माना गया है। जैन विचारणा जन्मना जातिवाद की विरोधी है, किन्तु कर्मणा वर्णव्यवस्था से उसका कोई सैद्धान्तिक विरोध नहीं है। उत्तराध्ययनसूत्र⁸ में कहा गया है कि -- "मनुष्य कर्म से ब्राह्मण, कर्म से क्षत्रिय एवं कर्म से ही वैश्य एवं शूद्र होता है। महापुराण में कहा गया है कि जातिनाम कर्म के उदय से तो मनुष्य जाति एक ही है। फिर भी आजीविका भेद से वह चार प्रकार की कही गई है। व्रतों के संस्कार से ब्राह्मण, शस्त्रों को धारण करने से क्षत्रिय, न्यायपूर्वक अर्थ का उपार्जन करने से वैश्य और निम्न श्रेणी की आजीविका का आश्रय लेने से शूद्र कहे जाते हैं। धन-धान्य आदि सम्पत्ति एवं मकान मिल जाने पर गुरु की आज्ञा से अलग से आजीविका अर्जन करने से वर्ण की प्राप्ति या वर्ण लाभ होता है [38/45-46,137]। इस का तात्पर्य यही है कि वर्ण या जाति सम्बन्धी भेद जन्म पर नहीं, आजीविका या वृत्ति पर आधारित है। भारतीय वर्ण व्यवस्था के पीछे एक मनोवैज्ञानिक आधार रहा है कि वह वैयक्तिक- योग्यता अर्थात् स्वभाव के आधार पर ही व्यक्ति के सामाजिक दायित्वों (कर्मों) का निर्धारण करती है। जिससे इकार नहीं किया जा सकता है।

अपनी स्वाभाविक योग्यता के आधार पर सामाजिक दायित्वों का निर्वाह करने का समर्थन डॉ. राधाकृष्णन् और पाश्चात्य विचारक श्री गैरल्ड हर्ड ने भी किया है।¹⁰ मानवीय स्वभाव में ज्ञानात्मकता या जिज्ञासा- वृत्ति, साहस या नेतृत्व-वृत्ति, संग्रहात्मकता और शासित होने की प्रवृत्ति या सेवा भावना पायी जाती है। सामान्यतः मनुष्यों में इन वृत्तियों का समान रूप से विकास नहीं होता है। प्रत्येक मनुष्य में इनमें से किसी एक का प्रधान्य होता है। दूसरी ओर सामाजिक दृष्टि से समाज-व्यवस्था में चार-प्रमुख कार्य हैं -- 1. शिक्षण 2. रक्षण 3. उपार्जन और 4. सेवा। अतः यह आवश्यक माना गया है कि व्यक्ति अपने स्वभाव में जिस वृत्ति का प्रधान्य हो, उसके अनुसार सामाजिक व्यवस्था में अपना कार्य चुनें। जिसमें बुद्धि नैर्मल्य और जिज्ञासावृत्ति हो, वह शिक्षण का कार्य करे, जिसमें साहस और नेतृत्व वृत्ति हो वह रक्षण का कार्य करे, जिसमें विनियोग तथा संग्रह-वृत्ति हो वह उपार्जन का कार्य करें और जिसमें दैन्यवृत्ति या सेवावृत्ति हो वह सेवा कार्य करे। इस प्रकार जिज्ञासा, नेतृत्व, विनियोग और दैन्य की स्वाभाविक वृत्तियों के आधार पर शिक्षण, रक्षण उपार्जन और सेवा के सामाजिक कार्यों का विभाजन किया गया और इसी आधार पर क्रमशः ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र ये वर्ण बने। अतः वर्ण व्यवस्था जन्म पर नहीं, अपितु स्वभाव (गुण) एवं तदनुसार कर्म पर आधारित है।

वास्तव में हिन्दू आचार-दर्शन में भी वर्ण-व्यवस्था जन्म पर नहीं, वरन् कर्म पर ही

आधारित है। गीता में श्री कृष्ण स्पष्ट कहते हैं कि "चातुर्वर्ण्य-व्यवस्था का निर्माण गुण और कर्म के आधार पर ही किया गया है।"¹¹ डॉ. राधाकृष्णन, इसकी व्याख्या में लिखते हैं, "यहाँ जोर गुण और कर्म पर दिया गया है, जाति (जन्म) पर नहीं। हम किस वर्ण के हैं, यह बात लिंग या जन्म पर निर्भर नहीं है अपितु स्वभाव और व्यवसाय द्वारा निर्धारित होती है।"¹² युधिष्ठिर कहते हैं, "तत्त्वज्ञानियों की दृष्टि में केवल आचरण (सदाचार) ही जाति का निर्धारक तत्त्व है। ब्राह्मण न जन्म से होता है, न संस्कार से, न कुल से और न वेद के अध्ययन से, ब्राह्मण केवल व्रत (आचरण) से होता है।"¹³

प्राचीनकाल में वर्ण-व्यवस्था कठोर नहीं थी, अपितु लचीली थी। वर्ण परिवर्तन का अधिकार व्यक्ति के अपने हाथ में था, क्योंकि आचरण या कर्म के चयन द्वारा परिवर्तित हो जाता था। उपनिषदों में वर्णित सत्यकाम जाबाल की कथा इसका उदाहरण है। सत्यकाम जाबाल की सत्यवादिता के आधार पर ही उसे ब्राह्मण मान लिया गया था।¹⁴ मनुस्मृति में भी वर्ण परिवर्तन का विधान है, उसमें लिखा है कि सदाचार के कारण शूद्र ब्राह्मण हो जाते हैं और दुराचार के कारण ब्राह्मण शूद्र हो जाता है। यही बात क्षत्रिय और वैश्य के सम्बन्ध में भी है।¹⁵ आध्यात्मिक दृष्टि से कोई एक वर्ण दूसरे वर्ण से श्रेष्ठ नहीं है, क्योंकि आध्यात्मिक विकास वर्ण पर निर्भर नहीं होता है। व्यक्ति स्वभावानुकूल किसी भी वर्ण के नियत कर्मों का सम्पादन करते हुए आध्यात्मिक पूर्णता या सिद्धि को प्राप्त कर सकता है।

कोई भी कर्तव्य कर्म-हीन नहीं है

समाज व्यवस्था में अपने कर्तव्य के निर्वाह हेतु और आजीविका के उपार्जन हेतु व्यक्ति को कौन सा व्यवसाय या कर्म चुनना चाहिए, यह बात उसकी योग्यता अथवा स्वभाव पर ही निर्भर करती है। यदि व्यक्ति अपने गुणों या योग्यताओं के प्रतिकूल व्यवसाय या सामाजिक कर्तव्य को चुनता है, तो उसके इस चयन से जहाँ उसके जीवन की सफलता धूमिल होती है वहीं समाज-व्यवस्था भी अस्त-व्यस्त होती है। आध्यात्मिक श्रेष्ठता इस बात पर निर्भर नहीं है कि व्यक्ति क्या कर रहा है या किन सामाजिक कर्तव्यों का पालन कर रहा है, वरन् इस बात पर निर्भर है कि वह उनका पालन किस निष्ठा और योग्यता के साथ कर रहा है। यदि एक शूद्र अपने कर्तव्यों का पालन पूर्ण निष्ठा और कुशलता से करता है, तो वह अनैष्टिक और अकुशल ब्राह्मण की अपेक्षा आध्यात्मिक दृष्टि से श्रेष्ठ है। गीता भी स्पष्टतया यह स्वीकार करती है कि व्यक्ति सामाजिक दृष्टि से स्वस्थान के निम्नस्तरीय कर्मों का सम्पादन करते हुए भी आध्यात्मिक विकास की दृष्टि से ऊँचाइयों पर पहुँच सकता है। विशिष्ट सामाजिक कर्तव्यों के परिपालन से व्यक्ति श्रेष्ठ या हीन नहीं बन जाता है, उसकी श्रेष्ठता और हीनता का सम्बन्ध तो उसके सदाचरण एवं आध्यात्मिक विकास से है। दिगम्बर जैन आचार्य समन्तभद्र रत्नकरण्ड श्रावकाचार में लिखते हैं -- सम्यक्-दर्शन से युक्त चाण्डाल शरीर में उत्पन्न व्यक्ति भी तीर्थकरों के द्वारा ब्राह्मण ही कहा गया है।¹⁵

इसी प्रकार आचार्य रविवेण भी पद्मचरित में लिखते हैं कि -- कोई भी जाति गहिँत नहीं

है वस्तुतः गुण ही कल्याण कारक होते हैं। जाति से कोई व्यक्ति चाहे चाण्डाल कुल में ही उत्पन्न क्यों न हो, व्रत में स्थित होने पर ऐसे चाण्डाल को भी तीर्थकरों ने ब्राह्मण ही कहा है।¹⁷ अतः ब्राह्मणत्व जन्म पर नहीं कर्म/सदाचार पर आधारित है।

जैन मुनि चौथमल जी निर्ग्रन्थ प्रवचन भाष्य¹⁷ में लिखते हैं कि " एक व्यक्ति दुःशील, अज्ञानी व प्रकृति से तमोगुणी होने पर भी अमुक वर्ण में जन्म के कारण समाज में ऊँचा व आदरणीय समझा जाय व दूसरा व्यक्ति सुशील, ज्ञानी व सतोगुणी होने पर भी केवल जन्म के कारण नीच व तिरस्कृत समझा जाय, यह व्यवस्था समाज घातक है और मनुष्य की गरिमा व विवेकशीलता पर प्रश्न चिन्ह लगाती है। इतना ही नहीं ऐसा मानने से न केवल समाज के बहुसंख्यक भाग का अपमान होता है, प्रत्युत सदाचार व सद्गुण का भी अपमान होता है। इस व्यवस्था को अंगीकार करने से दुराचारी, सदाचारी से ऊपर उठ जाता है। अज्ञान-ज्ञान पर विजयी होता है तथा तमोगुण सतोगुण के सामने आदरास्पद बन जाता है। यह ऐसी स्थिति है जो गुण ग्राहक विवेकीजनों को सह्य नहीं हो सकती है।¹⁸ वास्तविकता तो यह है कि किसी जाति विशेष में जन्म ग्रहण करने का महत्त्व नहीं है, महत्त्व है व्यक्ति के नैतिक सदाचरण और वासनाओं पर संयम का। जैन विचारणा यह तो स्वीकार करती है कि लोक व्यवहार या आजीविका हेतु प्रत्येक व्यक्ति को रुचि व योग्यता के आधार पर किसी न किसी कार्य का चयन तो करना होगा। यह भी ठीक है कि विभिन्न प्रकार के व्यवसायों या कार्यों के आधार पर सामाजिक वर्गीकरण भी होगा। इस व्यवसायिक या सामाजिक व्यवस्था के क्षेत्र में होने वाले वर्गीकरण में न किसी को श्रेष्ठ, न किसी को हीन कहा जा सकता है। जैनाचार्यों के अनुसार मनुष्य या प्राणीवर्ग की सेवा का कोई भी कार्य हीन नहीं है। यहाँ तक मल-मूत्र की सफाई करने वाला कहीं अधिक श्रेष्ठ है। जैन परम्परा में नन्दिपेणमुनि के सेवाभाव की गौरव- गाथा लोक-विश्रुत है। जैन परम्परा में किसी व्यवसाय या कर्म को तभी हीन माना गया है, जब वह व्यवसाय या कर्म-हिसक या क्रूरतापूर्ण कार्यों से युक्त हो। जैनाचार्यों ने जिन जातियों या व्यवसायों को हीन कहा है वे हैं -- शिकारी, बधिक, चिड़ीमार, मच्छीमार आदि। किसी व्यक्ति की श्रेष्ठता का आधार आजीविका हेतु चुना गया व्यवसाय न होकर उसका आध्यात्मिक विकास या सद्गुणों का विकास है। उत्तराध्ययनसूत्र¹⁹ में कहा है कि साक्षात् तप (साधना) का ही महत्त्व दिखायी देता है, जाति का कुछ भी नहीं। चाण्डाल- पुत्र हरकेशी मुनि को देखो जिनकी प्रभावशाली ऋद्धि है। मानवीय समता जैनधर्म का मुख्य आधार है। उसमें हरकेशीबल जैसे चाण्डाल, अर्जुनमाली जैसे मालाकार, पूनिया जैसे धूनिया और शकडाल पुत्र जैसे कुम्भकार का भी वही स्थान है, जो स्थान उरुमें इन्द्रभूति जैसे वेदपाठी ब्राह्मण पुत्र, दशार्णभद्र एवं श्रेणिक जैसे क्षत्रिय नरेश, धन्ना व शालिभद्र जैसे समृद्ध श्रेष्ठी रत्नों का है।

आत्मदर्शी साधक जैसे पुण्यवान व्यक्ति को धर्म उपदेश करता है, वैसे ही तुच्छ (विपन्न दरिद्र) को भी धर्म उपदेश करता है।²⁰ सन्मार्ग की साधना में सभी मानवों को समान अधिकार प्राप्त है। धनी-निर्धन, राजा-प्रजा और ब्राह्मण-शूद्र का भेद जैन धर्म को मान्य नहीं है।

जैनधर्म में वर्ण एवं जाति व्यवस्था का ऐतिहासिक विकासक्रम

मूलतः जैनधर्म वर्णव्यवस्था एवं जातिव्यवस्था के विरुद्ध खड़ा हुआ था, किन्तु कालक्रम में बृहत् हिन्दू-समाज के प्रभाव से उसमें भी वर्ण एवं जाति सम्बन्धी अवधारणायें प्रविष्ट हो गईं। जैन परम्परा में जाति और वर्ण व्यवस्था के उद्भव एवं ऐतिहासिक विकास का विवरण सर्वप्रथम आचारांगनिर्वृक्ति (लगभग ईस्वी सन् ११११ शती) में प्राप्त होता है उसके अनुसार प्रारम्भ में मनुष्य जाति एक ही थीं। ऋषभ के द्वारा राज्य-व्यवस्था का प्रारम्भ होने पर उसके दो विभाग हो गये -- 1. शासक (स्वामी) और 2. शासित (सेवक)। उसके पश्चात् शिल्प और वाणिज्य के विकास के साथ उसके तीन विभाग हुए -- 1. क्षत्रिय (शासक), 2. वैश्य (कृषक एवं व्यवसायी) और 3. शूद्र (सेवक)। उसके पश्चात् श्रावक धर्म की स्थापना होने पर अहिंसक, सदाचारी और धर्मनिष्ठ व्यक्तियों को ब्राह्मण (माहण) कहा गया। इसप्रकार क्रमशः चार वर्ण अस्तित्व में आये। इन चार वर्णों के स्त्री-पुरुषों के समवर्णीय तथा अन्तर्वर्णीय अनुलोम एवं प्रतिलोम संयोगों से सोलहवर्ण बने, जिनमें सातवर्ण और नौ अन्तरवर्ण कहलाए। सात वर्ण में समवर्णीय स्त्री-पुरुष के संयोग से चार मूल वर्ण तथा ब्राह्मण पुरुष एवं क्षत्रिय स्त्री के संयोग से उत्पन्न, क्षत्रिय पुरुष और वैश्य स्त्री के संयोग से उत्पन्न और वैश्य पुरुष और शूद्र स्त्री के संयोग से उत्पन्न ऐसे अनुलोम संयोग से उत्पन्न तीनवर्ण आचारांगमूर्च्छि (ईसा की 7वीं शती) में इसे स्पष्ट करते हुए बताया गया है कि ब्राह्मण पुरुष एवं क्षत्रिणी के संयोग से जो सन्तान होती है वह उत्तम क्षत्रिय, शूद्र क्षत्रिय या संकर क्षत्रिय कही जाती है, यह पाँचवा वर्ण है। इसी प्रकार क्षत्रिय पुरुष और वैश्य स्त्री से उत्पन्न सन्तान उत्तम वैश्य, शूद्र वैश्य या संकर वैश्य कही जाती है, यह छठा वर्ण है तथा वैश्य पुरुष एवं शूद्र-स्त्री के संयोग से उत्पन्न सन्तान शूद्र शूद्र या संकरशूद्र कही जाती है, यह सातवाँ वर्ण है। पुनः अनुलोम और प्रतिलोम सम्बन्धों के आधार पर निम्न नौ अन्तर-वर्ण बने। ब्राह्मण पुरुष और वैश्य स्त्री से 'अम्बाष्ठ' नामक आठवाँ वर्ण उत्पन्न हुआ। क्षत्रिय पुरुष और शूद्रा स्त्री से 'उग्र' नामक नवाँ वर्ण हुआ। ब्राह्मण पुरुष और शूद्रा स्त्री से 'निषाद' नामक दसवाँ वर्ण उत्पन्न हुआ। शूद्र पुरुष और वैश्य स्त्री से 'अयोग' नामक ग्यारहवाँ वर्ण उत्पन्न हुआ। क्षत्रिय और ब्राह्मणी से 'सूत' नामक तेरहवाँ वर्ण हुआ। शूद्र पुरुष और क्षत्रिय स्त्री से 'क्षत्र' (खत्ता) नामक चौदहवाँ वर्ण उत्पन्न हुआ। वैश्य पुरुष और ब्राह्मण स्त्री के संयोग से 'वैदेह' नामक पन्द्रहवाँ वर्ण उत्पन्न हुआ और शूद्र पुरुष तथा ब्राह्मण स्त्री के से 'चाण्डाल' नामक सोलहवाँ वर्ण हुआ। इसके पश्चात् इन सोलह वर्णों में परस्पर अनुलोम एवं प्रतिलोम संयोग से अनेक जातियाँ अस्तित्व में आयीं।²¹

उपरोक्त विवरण में हम यह देखते हैं कि जैन धर्म के आचार्यों ने भी काल-क्रम में जाति और वर्ण की उत्पत्ति के सन्दर्भ में हिन्दू परम्परा की व्यवस्थाओं को अपने ढंग से संशोधित कर स्वीकार कर लिया। लगभग सातवीं सदी में दक्षिण भारत में हुए आचार्य जिन्सेन ने लोकापवाद के भय से तथा जैन धर्म का अस्तित्व और सामाजिक सम्मान बनाये रखने के लिए हिन्दू वर्ण एवं जातिव्यवस्था को इस प्रकार आत्मसात कर लिया कि इस सम्बन्ध में जैनों का जो वैशिष्ट्य था, वह प्रायः समाप्त हो गया। जिन्सेन ने सर्वप्रथम यह बताया कि आदि ब्रह्मा

ऋषभभेदेव ने षट्कर्मों का उपदेश देने के पश्चात् तीन वर्णों (क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र) की सृष्टि की। इसी ग्रन्थ में आगे यह भी कहा गया है कि जो क्षत्रिय और वैश्य वर्ण की सेवा करते हैं वे शूद्र हैं। इनके दो भेद हैं -- कारु और अकारु। पुनः कारु के भी दो भेद हैं -- स्पृश्य और अस्पृश्य है। घोबी, नापित आदि स्पृश्य शूद्र हैं और चण्डाल आदि जो नगर के बाहर रहते हैं वे अस्पृश्य शूद्र हैं (आदिपुराण 16/184-186)। शूद्रों के कारु और अकारु तथा स्पृश्य एवं अस्पृश्य ये भेद सर्वप्रथम केवल पुराणकार जिनसेन किये हैं।²² उनके पूर्ववर्ती अन्य किसी जैन आचार्य ने इस प्रकार के भेदों को मान्य नहीं किया है। किन्तु हिन्दू समाज व्यवस्था से प्रभावित हो बाद के जैन आचार्यों ने इसे प्रायः मान्य किया। षट्प्राभृत के टीकाकार श्रुतसागर ने भी इस स्पृश्य-अस्पृश्य की चर्चा की है। यद्यपि पुराणकार ने शूद्रों को एकशाटकव्रत अर्थात् क्षुल्लकदीक्षा का अधिकार मान्य किया था, किन्तु बाद के दिग्म्बर जैन आचार्यों ने उसमें भी कमी कर दी। श्वेताम्बर परम्परा में स्थानांगसूत्र (3/202) के मूलपाठ में तो केवल रोगी, भयार्त और नपुंसक की मुनि दीक्षा का निषेध था, किन्तु परवर्ती टीकाकारों, चण्डालादि जाति जुगित और व्याधादि कर्मजुगित लोगों को दीक्षा देने का निषेध कर दिया।²⁴ फिर भी यह सब जैन धर्म की मूल परम्परा के तो विरुद्ध ही था।

जातीय अहंकार मिथ्या है

जैनधर्म में जातीय मद और कुल मद को निन्दित माना गया है। भगवान महावीर के पूर्व-जीवनों की कथा में यह चर्चा आती है कि मारीचि के भव में उन्होंने अपने कुल का अहंकार किया था, फलतः उन्हें निम्न भिक्षुक कुल अर्थात् ब्राह्मणी माता के गर्भ में आना पड़ा है। आचारांग में वे स्वयं कहते हैं कि यह आत्मा अनेक बार उच्चगोत्र को और अनेक बार नीच गोत्र को प्राप्त हो चुका है। इसलिए वस्तुतः न तो कोई हीन/ नीच है, और न कोई अतिरिक्त/ विशेष/ उच्च है। साधक इस तथ्य को जानकर उच्चगोत्र की स्पृहा न करें। उक्त तथ्य को जान लेने पर भला कौन गोत्रवादी होगा ? कौन उच्चगोत्र का अहंकार करेगा ? और कौन किस गोत्र/जाति विशेष में आसक्त चित्त होगा ?²⁵

इसलिये विवेकशील मनुष्य उच्चगोत्र प्राप्त होने पर हर्षित न हों और न नीचगोत्र प्राप्त होने पर कुपित/दुःखी हो। यद्यपि जैनधर्म में उच्चगोत्र एवं निम्नगोत्र की चर्चा उपलब्ध है। किन्तु गोत्र का सम्बन्ध परिवेश के अच्छे या बुरे होने से है। गोत्र का सम्बन्ध जाति अथवा स्पृश्यता-अस्पृश्यता के साथ जोड़ना भ्रान्ति है। जैन कर्म सिद्धान्त के अनुसार देवगति में उच्च गोत्र का उदय होता है और तिर्य्यग मात्र में नीच गोत्र का उदय होता है, किन्तु देवयोनि में भी किन्त्विषिक देव नीच एवं अस्पृश्यवत् होते हैं। इसके विपरीत अनेक निम्न गोत्र में उत्पन्न पशु जैसे -- गाय, घोड़ा, हाथी बहुत की सम्मान की दृष्टि से देखे जाते हैं। वे अस्पृश्य नहीं माने जाते। अतः उच्चगोत्र में उत्पन्न व्यक्ति भी हीन और नीचगोत्र में उत्पन्न व्यक्ति भी उच्च हो सकता है। अतः गोत्रवाद की धारणा को प्रचलित जातिवाद तथा स्पृश्यास्पृश्य की धारणा के साथ नहीं जोड़ना चाहिए। भगवान महावीर ने प्रस्तुत सूत्र में जाति-मद, गोत्र-मद आदि को निरस्त करते हुए यह स्पष्ट कह दिया है कि " जब आत्मा अनेक बार उच्च- नीच गोत्र का

स्पर्श कर चुका है, कर रहा है तब फिर कौन ऊँचा है ? कौन नीचा ? ऊँच-नीच की भावना मात्र एक अहंकार है, और अहंकार 'मद' है। मद नीचगोत्र के बन्धन का मुख्य कारण है। अतः इस गोत्रवाद व मानवाद की भावना से मुक्त होकर जो उनमें तटस्थ रहता है, वही समत्वशील है, वही पण्डित है।

मथुरा से प्राप्त अभिलेखों का जब हम अध्ययन करते हैं तो हमें ज्ञात होता है कि न केवल प्राचीन आगमों से अपितु इन अभिलेखों से भी यही फलित होता है कि जैन धर्म ने सदैव ही सामाजिक समता पर बल दिया है और जैनधर्म में प्रवेश का द्वार सभी जातियों के व्यक्तियों के लिये समान रूप से खुला है। मथुरा के जैन अभिलेख इस तथ्य के स्पष्ट प्रमाण हैं कि जैन मन्दिरों के निर्माण और जिन प्रतिमाओं की प्रतिष्ठा में धनी-निर्धन, ब्राह्मण-शूद्र सभी वर्गों, जातियों एवं वर्णों के लोग समान रूप से भाग लेते थे। मथुरा के अभिलेखों में हम यह पाते हैं कि लोहार, सुनार, गन्धी, केवट, लौहवणिक, नर्तक और यहां तक कि गणिकायें भी जिन मन्दिरों का निर्माण व जिन प्रतिमाओं की प्रतिष्ठा करवाती थीं।²⁶ ज्ञातव्य है कि मथुरा के इन अभिलेखों में लगभग 60% दानदाता उन जातियों से हैं, जिन्हें सामान्यतया निम्न माना जाता है। स्थूलिभद्र की प्रेयसी कोशा वेश्या द्वारा जैनधर्म अंगीकार करने की कथा तो लोक-विश्रुत है ही।²⁷ मथुरा के अभिलेखों में भी गणिका नादा द्वारा देव कुलिका की स्थापना भी इसी तथ्य को सूचित करती है कि एक गणिका भी श्राविका के व्रतों को अंगीकार करके उतनी ही आदरणीय बन जाती थी, जितनी कोई राज-महिषी। आवश्यकदृष्टि और तित्थोगाली-प्रकीर्णक में वर्णित कोशा वेश्या का कथानक और मथुरा में नादा नामक गणिका द्वारा स्थापित देव कुलिका, आगपट्ट आदि इस तथ्य के स्पष्ट प्रमाण हैं। जैन धर्म यह भी मानता है कि कोई दुष्कर्मा व दुराचारी व्यक्ति भी अपने दुष्कर्म का परित्याग करके सदाचार पूर्ण नैतिक-जीवन व व्यवसाय को अपना कर समाज में प्रतिष्ठित बन सकता है। जैन साधना का राजमार्ग तो उसका है जो उस पर चलता है; वर्ण, जाति या वर्ग विशेष का उस पर एकाधिकार नहीं है। जैन धर्म साधना का उपदेश तो वर्षा ऋतु के जल के समान हो, जो ऊँचे पर्वतों, नीचे खेत-खलिहानों पर, सुन्दर महल व झोपड़ी पर समान रूप से बरसता है। जिस प्रकार बादल बिना भेद-भाव के सर्वत्र जल की वृष्टि करते हैं उसी प्रकार मुनि को भी ऊँच-नीच, धनी-निर्धन का विचार किये वगैर सर्वत्र सन्मार्ग का उपदेश करना चाहिए।²⁸ यह बात भिन्न है कि उसमें से कौन कितना ग्रहण करता है। जैन धर्म में जन्म के आधार पर किसी को निम्न या उच्च नहीं कहा जा सकता, हाँ वह इतना अवश्य मानता है कि अनैतिक आचरण करना अथवा क्रूर कर्म द्वारा अपनी आजीविका अर्जन करना योग्य नहीं है, ऐसे व्यक्ति अवश्य हीन कर्मा कहे गये हैं, किन्तु वे अपने क्रूर एवं अनैतिक कर्मों का परित्याग करके श्रेष्ठ बन सकते हैं।

ज्ञातव्य है कि आज भी जैन धर्म में और जैन श्रमणों में विभिन्न जातियों के व्यक्ति प्रवेश पाते हैं। मात्र यही नहीं श्रमण जीवन को अंगीकार करने के साथ ही निम्न व्यक्ति भी सभी का उसी प्रकार आदरणीय बन जाता है, जिस प्रकार उच्चकुल या जाति का व्यक्ति। जैनसंघ में उनका स्थान समान होता है। यद्यपि मध्यकाल में हिन्दू परम्परा के प्रभाव से विशेष रूप से

दक्षिण भारत में जातिवाद का प्रभाव जैन समाज पर भी आया और मध्यकाल में मांतग, आदि जाति-जुगित (निम्नजाति) एवं मछुवारे, नट आदि कर्म-जुगित व्यक्तियों को श्रमण संस्था में प्रवेश के अयोग्य माना गया। जैन आचार्यों ने इसका कोई आगमिक प्रमाण न देकर मात्र लोकापवाद का प्रमाण दिया, जो स्पष्ट रूप से इस तथ्य का सूचक है कि जैन परम्परा को जातिवाद बृहद् हिन्दू प्रभाव के कारण लोकापवाद के भय से स्वीकारना पड़ा।

इसी के परिणाम स्वरूप दक्षिण भारत में विकसित जैन धर्म की दिगम्बर परम्परा में जो शूद्र की दीक्षा एवं मुक्ति के निषेध की अवधारणा आई, वह सब ब्राह्मण परम्परा के प्रभाव के कारण ही था। यद्यपि हमें यह भी स्मरण रखना चाहिये कि दक्षिण में जो निम्न जाति के लोग जैनधर्म का पालन करते थे, वे इस सबके बावजूद भी जैनधर्म से जुड़े रहे और वे आज भी पंचम वर्ण के नाम से जाने जाते हैं। यद्यपि बृहद् हिन्दू समाज के प्रभाव के कारण जैनों ने अपने प्राचीन मानवीय समता के सिद्धान्त का जो उल्लंघन किया, उसका परिणाम भी उन्हें मुगतना पड़ा और जैनों की जनसंख्या सीमित हो गयी।

विगत वर्षों में सद्भाग्य से जैनों में विशेष रूप से श्वेताम्बर परम्परा में यह समतावादी दृष्टि पुनः विकसित हुई है। कुछ जैन आचार्यों के इस दिशा में प्रयत्न के फलस्वरूप कुछ ऐसी जातियाँ जो निम्न एवं क्रूरकर्मा समझी जाती थी, न केवल जैन धर्म में दीक्षित हुई अपितु उन्होंने अपने हिंसक व्यवसाय को त्याग कर सदाचारी जीवन को अपनाया है। विशेष रूप से खटिक और बलाई जातियाँ जैन धर्म से जुड़ी हैं। खटिकों (हिन्दू-कसाईयों) के लगभग पाँच हजार परिवार समीर-मुनिजी की विशेष प्रेरणा से अपने हिंसक व्यवसाय और मदिरा सेवन आदि व्यसनों का परित्याग करके जैन धर्म से जुड़े और ये परिवार आज न केवल समृद्ध व सम्पन्न हैं, अपितु जैन समाज में भी बराबरी का स्थान पा चुके हैं। इसी प्रकार बलाईयों (हरिजनों) का भी एक बड़ा तबका मालवा में आचार्य नानालाल जी की प्रेरणा से मदिरा सेवन, मांसाहार आदि त्यागकर जैनधर्म से जुड़ा और एक सदाचार पूर्ण जीवन व्यतीत करने को प्रेरित हुआ है, ये इस दिशा में अट्टी उपलब्धि है। कुछ अन्य श्वेताम्बर एवं दिगम्बर जैन आचार्यों एवं मुनियों ने भी बिहार प्रान्त में सराक जाति एवं परमार क्षत्रियों को जैन धर्म से पुनः जोड़ने के सफल प्रयत्न किये हैं। आज भी अनेको जैनमुनि सामान्यतया निम्न कही जाने वाली जातियों से दीक्षित हैं और जैन संघ में समान रूप से आदरणीय हैं। इससे यह प्रमाणित होता है कि जैनधर्म सदैव ही सामाजिक समता का समर्थक रहा है।

जैनधर्म में वर्णव्यवस्था और जातिव्यवस्था के सन्दर्भ में जो चिन्तन हुआ उसके निष्कर्ष निम्न हैं --

1. सम्पूर्ण मानव जाति एक ही है क्योंकि उसमें जाति भेद करने वाला ऐसा कोई भी स्वाभाविक लक्षण नहीं पाया जाता जैसा कि एक जाति के पशु से दूसरे जाति के पशु में अन्तर होता है।
2. प्रारम्भ में मनुष्य जाति एक ही थी। वर्ण एवं जातिव्यवस्था स्वाभाविक योग्यता के आधार

पर सामाजिक कर्तव्यों के कारण और आजीविका हेतु व्यवसाय को अपनाने के कारण उत्पन्न हुई। जैसे-जैसे आजीविका अर्जन के विविध स्रोत विकसित होते गये वैसे-वैसे मानव समाज में विविध जातियाँ अस्तित्व में आती गईं, किन्तु ये जातियाँ मौलिक नहीं हैं। मात्र मानव सृजित हैं।

3. जाति और वर्ण का निर्धारण जन्म के आधार पर न होकर व्यक्ति के शुभाशुभ आचरण एवं उसके द्वारा अपनाये गये व्यवसाय द्वारा होता है अतः वर्ण और जाति व्यवस्था जन्मना नहीं, अपितु कर्मणा है।

4. यदि जाति और वर्णव्यवस्था व्यवसाय अथवा सामाजिक दायित्व पर स्थित है तो ऐसी स्थिति में सामाजिक कर्तव्य और व्यवसाय के परिवर्तन के आधार पर जाति एवं वर्ण में परिवर्तन सम्भव है।

5. कोई भी व्यक्ति किसी जाति या परिवार में उत्पन्न होने के कारण हीन या श्रेष्ठ नहीं होता, अपितु वह अपने सत्कर्मों के आधार पर श्रेष्ठ होता है।

6. जाति एवं कुल की श्रेष्ठता का अहंकार मिथ्या है। उसके कारण सामाजिक समता एवं शान्ति भंग होती है।

7. जैनधर्म के द्वार सभी वर्ण और जातियों के लिए समान रूप से खुले रहे हैं। प्राचीन स्तर के जैन ग्रन्थों से यह संकेत मिलता है कि उसमें चारों ही वर्णों और सभी जातियों के व्यक्ति जिन-पूजा करने, श्रावक धर्म एवं मुनिधर्म का पालन करने और साधना के सर्वोच्च लक्ष्य निर्वाण को प्राप्त करने के अधिकारी माने गये थे। सातवीं-आठवीं सदी में जिनसेन ने सर्वप्रथम शूद्र को मुनि दीक्षा और मोक्ष प्राप्ति के अयोग्य माना। श्वेताम्बर आगमों में कहीं शूद्र की दीक्षा का निषेध नहीं है, स्थानांग में मात्र रोगी, भयार्त और नपुंसक की दीक्षा का निषेध है किन्तु आगे चलकर उनमें भी जाति-जुगित जैसे-चाण्डाल आदि और कर्म जुगित जैसे -- कसाई आदि की दीक्षा का निषेध कर दिया गया। किन्तु यह बृहत्तर हिन्दू परम्परा का प्रभाव ही था जो कि जैनधर्म के मूल सिद्धान्त के विरुद्ध था, जैनों ने इसे केवल अपनी सामाजिक प्रतिष्ठा को बनाये रखने हेतु मान्यकिया, क्योंकि आगमों में हरकेशी बल, मैतार्य, मातंगमुनि आदि अनेक चाण्डालों के मुनि होने और मोक्ष प्राप्त करने के उल्लेख हैं।

8. प्राचीन जैनागमों में मुनि के लिए उत्तम, मध्यम और निम्न तीनों ही कुलों से भिक्षा ग्रहण करने का निर्देश मिलता है इससे यही फलित होता है कि जैनधर्म में वर्ण या जाति का कोई भी महत्त्व नहीं था।

9. जैनधर्म यह स्वीकार करता है कि मनुष्यों में कुछ स्वभावगत भिन्नताएं सम्भव हैं, जिनके आधार पर उनके सामाजिक दायित्व एवं जीविकार्जन के साधन भिन्न होते हैं। फिर भी वह इस बात का समर्थक है कि सभी मनुष्यों को अपने सामाजिक दायित्वों एवं आजीविका अर्जन के साधनों को चयन करने की पूर्ण स्वतन्त्रता और सामाजिक, नैतिक एवं आध्यात्मिक क्षेत्र में विकास के समान अवसर उपलब्ध होने चाहिये, क्योंकि यही सामाजिक समता का मूल आधार है।

सन्दर्भ

1. ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद्ब्रह्म राजन्यः कृतः ।
ऊरु तदस्य यद्वैश्यः पदभ्यां शूद्रो अजायत ॥
- ऋग्वेद, 10/90/12, सं. दामोदर सातवलेकर, बालसाह, 1988
2. अभिधानराजेन्द्रकोश, खण्ड 4, पृ. 1441
3. चत्वार एकस्य पितुः सुताश्चेत्तेषां सुतानां खलु जातिरेका ।
एवं प्रजानां च पितृक एवं पितृकभावाद्य न जातिभेदः ॥
फलान्यथोदुम्बर वृक्षजातेर्यथाग्रमध्यान्त भवानि यानि ।
रूपाक्षतिस्पर्शसमानि तानि तथैकतो जातिरपि प्रचिन्त्या ॥
न ब्राह्मणाश्चन्द्रमरीचिशुभा न क्षत्रियाः किंशुकपुष्पगौराः ।
न चेह वैश्या हरितालतुल्याः शूद्रा न चाङ्गार समानवर्णाः ॥
- वरागचरित सर्ग 25, श्लोक 3,4,7 -- जटासिंहनन्दि, संपा. ए एन.
उपाध्ये, बम्बई, 1938
4. ये निग्रहानुग्रहयोरशक्ता द्विजा वराकाः परपोष्यजीवाः ।
मायाविनो दीनतमा नृपेभ्यः कथं भवन्त्युत्तमजातयस्ते ॥
तेषां द्विजानां मुख निर्गतानि वचांस्यमोघान्यघनाशकानि ।
इहापि कामान्स्वमनः प्रकलृप्तान लभन्त इत्येव मृषावचस्तत् ॥
यथानटो रङ्गामुपेत्य चित्रं नूतानुरूपानुपयाति वेषान् ।
जीवस्तथा संसृतिरङ्गामध्ये कर्मानुरूपानुपयाति भावान् ॥
न ब्रह्मजातिस्त्विह काचिदस्ति न क्षत्रियो नापि च वैश्यशूद्रे ।
ततस्तु कर्मानुवशा हितात्मा संसार चक्रे परिवंभमीति ॥
आपातकत्वाच्च शरीरदाहे देहं न हि ब्रह्म वदन्ति तज्ज्ञाः ।
ज्ञानं च न ब्रह्म यतो निकृष्ट शूद्रोऽपि वेदाध्ययनं करोति ॥
विद्याक्रिया चारु गुणैः प्रहीणो न जातिमात्रेण भवेत्स विप्रः ।
ज्ञाने शीलेन गुणेन युक्तं तं ब्राह्मणं ब्रह्मविदो वदन्ति ॥
- वही, सर्ग 25, श्लोक 33, 34, 40-43
5. नो लोए बम्भणो कुतो, अग्गीव महिओ जहा । सया कुसलसंदिट्ठं, तं वयं बूम माहणं ॥
जो न सज्जइ आगन्तुं, पव्वयन्तो न सोयह । रमइ अज्जवयणम्मि, तं वयं बूम माहणं ॥
जायस्वं जहामट्ठं, निद्धन्तमलपावगं । रागदोसभयाईयं, तं वयं बूम माहणं ॥
त्वस्सिसयं किम्मं दन्तं अचचियमंससोणियं । सुव्वयं पत्तनिव्वाणं, तं वयं बूम माहणं ॥
तसपाणे वियाणेत्ता, संग्हेण य थावरे । जो न हिंसइ तिविहेण, तं वयं बूम माहणं ॥
कोहा वा जइ वा हासा, लोहा वा जइ वा भया । मुसं न वयई जो उ, तं वयं बूम माहणं ॥
चित्तमन्तमचित्तं वा, अप्पं वा जइ वा बहं । न गिणहाइ अदत्तं जे, तं वयं बूम माहणं ॥

दिद्यमाणुसतेरिच्छं, जो न सेवइ मेहुणं । मणसा कायवक्केणं, तं वयं बूम माहणं ॥
जहा पोमं जले जायं, नोवलिप्पइ वारिणा । एवं अलित्तं कामेहिं, तं वयं बूम माहणं ॥
अलोलुयं मुहाजीविं, अणगारं अकिंचणं । असंसत्तं गिहत्थेसु तं वयं बूम माहणं ॥
जहित्ता पुक्कसंजोगं, नाइसगे य बन्धवे । जो न सज्जइ भोगेसुं, तं वयं बूम माहणं ॥
- उत्तराध्ययनसूत्र, संपादक-- साध्वी चंदना 25/19-29

6. वारिपोक्खरपत्ते व आरगोरिव सासपो ।
यो न लिप्पति कामेसु तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं ॥
यो दुक्खस्स पजानाति इधेव खयमत्तनो ।
पन्नभारं विसञ्जुत्तं तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं ॥
गम्भीर पञ्जं मेधाविं मगामगगस्स कोविदं ।
उत्तमत्थं अनुप्पत्तं तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं ॥

- धम्मपद, ब्राह्मणवर्ग 401-403, सम्पादक भिक्षुधर्मरक्षित, 1983

7. शूद्रोऽपि शीलसंपन्नो गुणवान् ब्राह्मणो भवेत् ।
ब्राह्मणोऽपि क्रियाहीनः शूद्रापत्यसमो भवेत् ॥

अतः- सर्वजातिषु चाण्डालाः सर्वजातिषु ब्राह्मणाः ।

ब्राह्मणेष्वपि चाण्डालाः चाण्डालेष्वपि ब्राह्मणाः ॥

कृषि-वाणिज्य-गोरक्षां राजसेवामर्किचनः ।

ये च विप्राः प्रकुर्वन्ति न ते कौन्तेय ! ब्राह्मणाः ॥ 13 ॥

हिंसकोऽनृतवादी च चौर्ययाभिरतश्च यः । परदारोपसेवी च सर्वे ते पतिता द्विजाः ॥

ब्रह्मचर्यतपोयुक्ताः समानलोष्टकांचनाः । सर्वभूतदयावन्तो ब्राह्मणाः सर्वजातिषु ॥

क्षान्त्यादिकगुणैर्युक्तो व्यस्तदण्डो निरामिषः । न हन्ति सर्वभूतानि प्रथमं ब्रह्मलक्षणम् ॥

सदा सर्वानृतं त्यक्त्वा मिथ्यावादाद् विरच्यते ।

नानृतं च वदेद् वाक्यं द्वितीयं ब्रह्मलक्षणम् ॥

सदा सर्वं परद्रव्यं बहिर्वा यदि वा गृहे । अदत्तं नैव गृण्हाति तृतीयं ब्रह्मलक्षणम् ॥

देवासुरमनुष्येषु तिर्ययोनिगतेषु च । न सेवते मैथुनं यश्चतुर्थं ब्रह्मलक्षणम् ॥

त्यक्त्वा कुटुम्बवासं तु निर्ममो निः परिग्रहः । युक्तश्चरति निःसङ्गाः पंचमं ब्रह्मलक्षणम् ॥

पंचलक्षणसंपूर्ण ईशो यो भवेद् द्विजः । महान्तं ब्राह्मणं मन्ये शेषाः शूद्रा युधिष्ठिर ! ॥

कैवर्त्तीगर्भसम्भूतो व्यासो नाम महामुनिः ।

तपसा ब्राह्मणो जातस्तस्माज्जातिरकारणम् ॥

हरिणीगर्भसम्भूतो ऋषिश्चूड्णो महामुनिः । तप ॥

शुनकीगर्भसम्भूतः शुको नाम मुनिस्तथा । तप ॥

मण्डूकीगर्भसम्भूतो माण्डव्यश्च महामुनिः । तप ॥

उर्वशीगर्भसम्भूतो वशिष्ठस्तु महामुनिः । तप ॥

न तेषां ब्राह्मणी माता संस्कारश्च न विद्यते । तप ॥

यद्वत्काष्ठमयो हस्ती यद्वत्चर्ममयो मृगः । ब्राह्मणस्तु किय्याहीनस्त्रयस्ते नामधारकाः ॥

- कुमारपालचरित्रसंग्रह के अर्न्तगत कुमारपाल प्रबोध प्रबन्ध, पृ. 606, श्लोक 119-136, संपादक -- जिनविजयमुनि, प्रकाशक -- सिंघी जैन शास्त्र शिक्षापीठ, भारतीय विद्याभवन, बम्बई, विक्रम संवत् 2013 ।
8. कम्मुणा बम्भणो होई कम्मुणा होइ खल्लिओ ।
वइस्से कम्मुणाहोइ सुदो हवइ कम्मुणा ।।
- उत्तराध्ययन सूत्र 25
9. मनुष्यजातिरेकैव जातिनामोदयोदभवा ।
वृत्तिभेदाहितद्भेदाद्यातुर्विध्यमिहाशनुते ।। 38-45 ।।
ब्राह्मणा व्रतसंस्कारात् क्षत्रियाः शस्त्रधारणात् ।।
वणिजोऽर्थार्जनान्नयायात् शूद्रा न्यगृत्तिसंश्रयात् ।। 38-46 ।।
गुरोरनुज्ञया लब्धधनधान्यादिसम्पदः ।
पृथक्कृतालयस्यास्य वृत्तिर्वणाप्तिरिष्यते ।। 38-137 ।।
सृष्ट्यन्तरमतो दूरं अपास्य नयतत्त्ववित् ।
अनादिक्षत्रियैः सृष्टां धर्मसृष्टि प्रभावयेत् ।। 40-189 ।।
तीर्थकृदिभिर्यं सृष्टा धर्मसृष्टिः सनातनी ।
तां संश्रितान्नृपानेव सृष्टिहेतून् प्रकाशयेत् ।। 40-190 ।।
- महापुराण, जिनसेन 38/45-46, 137
10. भगवद्गीता, डॉ. राधाकृष्णन्, पृ. 353
11. चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः ।
- गीता, 4/13
12. भगवद्गीता - राधाकृष्णन्, पृ. 163
13. राजन् कुलेन वृत्तेन स्वाध्यायेन श्रुतेन वा ।
ब्राह्मण्यं केन भवति प्रब्रूह्येतत् सुनिश्चितम् ।। 3/3/107 ।।
श्रुणु यक्ष कुलं तात् न स्वाध्यायो न च श्रुतम् ।
कारणं हि द्विजत्वे च वृत्तमेव न संशयः ।।
- महाभारत, वनपर्व 313/107, 108 गीता प्रेस, गोरखपुर
14. देखें -- छान्दोग्योपनिषद् (गीता प्रेस, गोरखपुर) 4/4
15. शूद्रो ब्राह्मणतामेति ब्राह्मणश्चैति शूद्रताम् ।
क्षत्रियाज्जातमेवं तु विद्याद्भ्रैयात्तथैव च ।।
- मनुस्मृति 10/65, सं. सत्यभूषण योगी, 1966
16. सम्यग्दर्शनसम्पन्नमपि मातङ्गदेहजम् ।
देवा देवं विदुर्मस्मगूढाङ्गरान्तरौजसम् ।।
- रत्नकरण्डकश्रावकाचार, 28

17. न जातिर्गहिता काचित् गुणाः कल्याणकारणम् ।
व्रतस्थमपि चाण्डालं तं देवा ब्राह्मणं विदुः ॥
- पद्मचरित पर्व, 11/203
18. निर्गन्धप्रवचनभाष्य -- मुनि श्री चौथमल जी, पृ. 289
19. सक्खं खु दीसइ तवो विसेसो, न दीसई जाइ विसेस कोइ ।
सोवागपुत्ते हरिणस साहू, जस्से इडिडि महाणुभागा ॥
- उत्तराध्ययनसूत्र, 12/
20. जहा पुण्णस कथति तथा तुच्छस्स कथति ।
जहा तुच्छस्स कथति तथा पुण्णस्स कथति ।
- आचारांग -- सं. मधुकर मुनि, 1/2/6/102
- 21अ. एकका मणुस्सजाई रज्जुप्पत्तीइ दो क्या उसभे ।

तिण्णेव सिप्पवणिण सावागधम्मम्भि चत्तारि ॥
संजोगे सोलसगं सत्त य वण्णा उ नव य अंतरिणो
एए दोवि विगप्पा ठवणा बंभस्स णायव्वा ॥
पगई चउक्कणांतरे य ते हुंति सत्त वण्णा उ ।
आणंतरेसु चरमो वण्णो खलु होइ णायव्वो ॥
अंबट्ठुगगनिसाया य अजोगवं मागहा य सूया य ।
खत्ता(य) विदेहाविय चंडाला नवमगा हुंति ॥
एगंतरिए इणमो अंबट्ठो चेव होइ उगो य ।
बिइयंतरिअ निसाओ परासरं तं च पुण वेगे ॥
पडिलोमे सुद्दाई अजोगवं मागहो य सूओ अ ।
एगंतरिए खत्ता वेदेहा चेव नायव्वा ॥
बितियंतरे नियमा चण्डालो सोऽवि होइ णायव्वो ।
अणुलोमे पडिलोमे एवं एए भवे भेया ॥
उगणं खत्ताए सोवागो वेणवो विदेहेणं ।
अंबट्ठीए सुद्दीय बुक्कसो जो निसाएणं ॥
सूएण निसाईए कुक्करओ सोवि होइ णायव्वो ।
एसो बीओ भेओ चउव्विहो होइ णायव्वो ॥
- आचारांगनिर्युक्ति, 19-27

- 21ब. 'एगा मणुस्सजाई' गाहा (19-8) एत्थ उसभसामिस्स
पुव्वभवजम्मणअहिसेगचक्कवट्ठिरायाभिसेगाति, तत्थ जे रायअस्सिता ते य खत्तिया जाया
अणास्सिता गिहवइणो जाया, जया अगगी उप्पण्णो ततो य भगवऽस्सिता सिप्पिवा
वाणियगा जाया, तेहिं तेहिं सिप्पवाणिज्जेहिं वित्ति विसंतीती वइस्सा उप्पन्ना, भगवए
पव्वइए भरहे अभिसित्ते सावागधम्मे उप्पण्णे बंभणा जाया, अणास्सिता बंभणा जाया
माहणत्ति, उज्जुगसभावा धम्मपिया जं च किंचि हणंतं पिच्छंति तं निवारंति मा हण भो मा

हण, एवं ते जणेणं सुकम्मनिवत्तितसन्ना बंभणा(माहणा) जाया, जे पुण अणस्सिया असिप्पिणो ते वयख(क) लासुइबहिकआ तेसु तेसु पओयणेसु सोयमाणा हिंसावोरियादिसु सज्जमाणा सोगद्वोहणसीला सुद्धा संवुत्ता, एवं तावं चत्तारिवि वण्णा ठाविता, सेसाओ संजोएणं, तत्थ 'संजोए सोलसव' गाहा (20-8) एतेसिं चव च उण्हं वण्णाणं पुव्वाणुपुव्वीए अणंतरसंजोएणं अण्णे तिण्णि वण्णा भवति, तत्थ 'पयती चउक्कयाणतरं' गाहा (21-8) पगती णाम बंभखत्तियवइस्सुद्धा चउरो वण्णा। इदाणि अंतरेण-बंभणेणं खत्तियाणीए जाओ सो उत्तमखत्तिओ वा सुद्धखत्तिओ वा अहवा संकरखत्तिओ पंचमो वण्णो, जो पुण खत्तिएणं वइस्सीए जाओ एसो उत्तमवइस्सो वा सुद्धवइस्सो वा संकरवइस्सो वा छट्ठो वण्णो, जो वइस्सेण सुद्धीए जातो सो उत्तमसुद्धो वा (सुद्धसुद्धो) वा संकरसुद्धो वा सत्तमो वण्णो। इदाणि वण्णेणं वण्णेहिं वा अंतरितो अणुलोमओ पडिलोमतो य अंतरा सत्त वण्णंतरया भवति, जे अंतरिया ते एगंतरिया दुअंतरिया भवति। चत्तारि गाहाओ पडियव्वाओ (22, 23,24,25-8) तत्थ ताव बंभणेणं वइस्सीए जाओ अंबट्ठोत्ति वुच्चइ एसो अट्ठमो वण्णो, खत्तिएणं सुद्धीए जातो उगोत्ति वुच्चइ एसो नवमो वण्णो, बंभणेण सुद्धीए निसातोत्ति वुच्चइ, कित्तिपारासवोत्ति, तिण्णि गया, दसमो वण्णो। इदाणि पडिलोमा भण्णति-सुद्धेण वइस्सीए जाओ अउगवुत्ति भण्णइ, एक्कारसमो वण्णो, वइस्सेणं खत्तियाणीए जाओ मागहोत्ति भण्णइ, दुवालसमो, खत्तिएणं बंभणीए जाओ सुओत्ति भण्णति, तेरसो वण्णो सुद्धेण खत्तियाणीए जाओ खत्तिओत्ति भण्णइ, चोददसमो, वइस्सेण बंभणीए जाओ वैदेहोत्ति भण्णति, पन्नरसमो वण्णो, सुद्धेण बंभणीए जाओ चंडालोत्ति पवुच्चइ, सोलसमो वण्णो, एतवूतिरित्ताजेते बिजाते ते वुच्चति -- उगणेण खत्तियाणि सोवागेत्ति वुच्चइ, वैदेहेण खत्तीए जाओ वेणवुत्ति वुच्चइ, निसाएणं अंबट्ठीए जाओ बोक्कसोत्ति वुच्चइ, निसाएण सुद्धीए जातो सोवि बोक्कसो, सुद्धेण निसादीए कुक्कुडओ, एवं सच्छंदमतिविगप्पितं।

22. क्षत्रियाः शस्त्रजीवित्वं अनुभूय तदाभवन् ।
 वैश्याश्च कृषिवाणिज्यपशुपाल्योपजीविताः ॥
 तेषां शुश्रूषणाच्छूद्रास्ते द्विधा कार्वकारवः ।
 कारवो रजकाद्याः स्युस्ततोऽन्ये स्थुरकारवः ॥
 कारवोऽपि मता द्वेधा स्पृश्यास्पृश्यविकल्पतः ।
 तत्रास्पृश्याः प्रजाबास्याः स्पृश्याः स्यु कर्त्तकादयः ॥

- आदि पुराण 16/184-186

23. ततो णो कप्पंति पव्वावेत्तए, तं.-पंडए वीत्ते (चाहिये) कीवे ?
 24. यदाह-- "३बाले बुड्ढे नपुंसे य, जड्ढे कीवे य वाहिए।
 तेणे रायावगारीय, उम्मत्ते य अंदसणे ॥ 1 ॥
 दासे दुट्ठे (य), अणत्त जुगिए इय।
 ओबदए य भयए, सेहनिप्फेडिया इय ॥ 2 ॥

स्थानांगसूत्रम्, अभयदेवसूरिवृत्ति, (प्रकाशक-- सेठ माणिकलाल, चुन्नीलाल, अहमदाबाद, विक्रम संवत् 1994) सूत्र 3/202, वृत्ति, पृ. 154

25. से असइं उच्चागोए असइं णीयागोए ।

णो हीणे णो अइरिते णो पीहए ।।

इतिसंखाय के गोथावादी, के माणावादी कंसि वा एगे गिज्जे ?

तम्हापंडिए णो हरिसे णो कुज्जे

- आचारांग, (सं. मधुकरमुनि) 1/2/3/75

26. जैन शिलालेख संग्रह, भाग- 2, संग्रहकर्ता-विजयमूर्ति, लेख क्रमांक 8,31,41,54,62, 67, 69

26अ. आवश्यकचूर्णि, जिनदासगणि, ऋषभदेव के सरीमल संस्था, रतलाम, भाग 1, पृ. 554

ब. भक्तपरिज्ञा, 128

स. तित्थोगालिअ, 777

27. आचारांग, सं. मधुकरमुनि, 1/2/6/102

28(अ) स्थानांग, सं. कन्हैयालालजी कमल, 3/202

(ब) स्थानांग, अभयदेववृत्ति, पृ. 154-155

जैन आगमों में मूल्यात्मक शिक्षा और वर्तमान सन्दर्भ

- प्रो. सागरमल जैन

वर्तमान युग ज्ञान-विज्ञान का युग है। मात्र बीसवीं सदी में ज्ञान-विज्ञान के क्षेत्र में जितना विकास हुआ है, उतना विकास मानवजाति के अस्तित्व की सहस्रों शताब्दियों में नहीं हुआ था। आज ज्ञान-विज्ञान की शिक्षा एवं शोधकार्य में संलग्न सहस्रों विश्वविद्यालय, महाविद्यालय और शोध-केन्द्र हैं। यह सत्य है कि आज मनुष्य ने भौतिक जगत के सम्बन्ध में सूक्ष्मतम ज्ञान प्राप्त कर लिया है। आज उसने परमाणु को विखण्डित कर उसमें निहित अपरिमित शक्ति को पहचान लिया है, किन्तु यह दुर्भाग्य ही है कि शिक्षा एवं शोध के इन विविध उपक्रमों के माध्यम से हम एक सभ्य, सुसंस्कृत एवं शान्तिप्रिय मानव समाज की रचना नहीं कर सके।

वस्तुतः आज की शिक्षा हमें बाह्य जगत और दूसरों के सम्बन्ध में बहुत कुछ जानकारी प्रदान कर देती है, किन्तु उन उच्च जीवन मूल्यों के सम्बन्ध में वह मौन ही है, जो एक सुसभ्य समाज के लिये आवश्यक है। आज शिक्षा के माध्यम से हम विद्यार्थियों को सूचनाओं से तो भर देते हैं, किन्तु उन्हें जीवन के उद्देश्यों और जीवन मूल्यों के सन्दर्भ में हम कोई जानकारी नहीं देते हैं। आज समाज में जो स्वार्थपरताजन्य, संघर्ष और हिंसा पनप रही है, उसका कारण शिक्षा की यही गलत दिशा ही है। हम शिक्षा के माध्यम से व्यक्ति को सूचनाओं से भर देते हैं, किन्तु उसके व्यक्तित्व का निर्माण नहीं करते हैं।

वस्तुतः आज शिक्षा का उद्देश्य ही उपेक्षित है। आज शिक्षक और शिक्षार्थी, शासक और समाज कोई भी यह नहीं जानता कि हम क्यों पढ़ रहे हैं और क्यों पढ़ा रहे हैं ? यदि वह जानता भी है तो या तो वह उदासीन है या फिर अपने को अकर्मण्यता की स्थिति में पाता है। आज शिक्षा के क्षेत्र में सर्वत्र आराजकता है। इस आराजकता या दिशाहीनता की स्थिति के सम्बन्ध में भी जो कुछ चिन्तन हुआ है, उसमें शिक्षा को आजीविका से जोड़ने के अतिरिक्त कुछ नहीं हुआ। वर्तमान में रोजगारोन्मुख शिक्षा की बात अधिक जोर से कही जाती है। यह माना जाता है कि शिक्षा के रोजगारोन्मुख न होने से ही आज समाज में अशान्ति है, किन्तु मेरी दृष्टि में वर्तमान सामाजिक संघर्ष और तनाव का कारण व्यक्ति का जीवन के उद्देश्यों या मूल्यों के सम्बन्ध में अज्ञान या गलत दृष्टिकोण ही है। स्वार्थपरक भौतिकवादी जीवन दृष्टि ही समस्त मानवीय दुःखों का मूल है।

सबसे पहले हमें यह निश्चय करना होगा कि हमारी शिक्षा का प्रयोजन क्या है ? यदि यह कहा जाय कि शिक्षा का प्रयोजन रोजी-रोटी कमाने या मात्र उदरपूर्ति के योग्य बना देना है, तो यह एक भ्रान्त धारणा होगी। क्योंकि रोजी-रोटी की व्यवस्था तो अशिक्षित भी कर लेता है।

पशु-पक्षी भी तो अपना पेट भरते ही हैं। अतः शिक्षा को रोजी-रोटी से जोड़ना गलत है। यह सत्य है कि बिना रोटी के मनुष्य का काम नहीं चल सकता। दैहिक जीवन मूल्यों में उदरपूर्ति व्यक्ति की प्राथमिक आवश्यकता है, इससे इंकार भी नहीं किया जा सकता है किन्तु इसे ही शिक्षा का "अथ और इति" नहीं बनाया जा सकता, क्योंकि यह कार्य शिक्षा के अभाव में भी सम्भव है। यदि उदरपूर्ति/आजीविका अर्जन ही जीवन का एक मात्र लक्ष्य हो तो फिर मनुष्य पशु से भिन्न नहीं होगा। कहा भी है --

*"आहार निद्रा भय मैथुनं च सामान्यमेतद् पशुभिः नराणाम् ।
ज्ञानो हि तेषामधिको विशेषो ज्ञानेनहीना नर पशुभिः समाना ।"*

पुनः यदि यह कहा जाय कि शिक्षा का उद्देश्य मनुष्य को अधिक सुख-सुविधा पूर्ण जीवन-जीने योग्य बनाना है, तो उसे भी हम शिक्षा का उद्देश्य नहीं कह सकते। क्योंकि मनुष्य के दुःख और पीडाएँ भौतिक या दैहिक स्तर की ही नहीं हैं, वे मानसिक स्तर की भी हैं। सत्य तो यह है कि स्वार्थपरता, भोगाकांक्षा और तृष्णाजन्य मानसिक पीडाएँ ही अधिक कष्टकर हैं, वे ही मानवजाति में भय एवं संत्रास का कारण है। यदि भौतिक सुख-सुविधाओं का अम्बार लगा देने में ही सुख होता तो आज अमेरिका (U.S.A.) जैसे विकसित देशों का व्यक्ति अधिक सुखी होता, किन्तु हम देखते हैं वह संत्रास और तनाव से अधिक ग्रस्त है। यह सत्य है कि मनुष्य के लिये रोटी आवश्यक है, लेकिन वही उसके जीवन की इति नहीं है। ईसामसीह ने ठीक ही कहा था कि मनुष्य केवल रोटी से नहीं जी सकता है।¹ हम मनुष्य को भौतिक सुखों का अम्बार खड़ा करके भी सुखी नहीं बना सकते। सच्ची शिक्षा वही है जो मनुष्य को मानसिक संत्रास और तनाव से मुक्त कर सके। उसमें सहिष्णुता, समता, अनासक्ति, कर्तव्यपरायणता के गुणों को विकसित कर, उसकी स्वार्थपरता पर अंकुश लगा सके। जो शिक्षा मनुष्य में मानवीय मूल्यों का विकास न कर सके उसे क्या शिक्षा कहा जा सकता है ? यह हमारा दुर्भाग्य ही है कि आज शिक्षा का सम्बन्ध "चरित्र" से नहीं "रोटी" से जोड़ा जा रहा है। आज शिक्षा की सार्थकता को चरित्र निर्माण में नहीं, चालाकी (डिप्लोमेसी) में खोजा जा रहा है। शासन भी इस मिथ्या धारणा से ग्रस्त है। नैतिक शिक्षा या चरित्र की शिक्षा में शासन को धर्म की "बू" आती है, उसे अपनी धर्मनिरपेक्षता दूषित होती दिखाई देती है, किन्तु क्या धर्म निरपेक्षता का अर्थ धर्महीनता या नीतिहीनता है ? में समझता हूँ धर्म निरपेक्षता का मतलब केवल इतना ही है कि शासन किसी धर्म विशेष के साथ आबद्ध नहीं रहेगा। आज हुआ यह है कि धर्म निरपेक्षता के नाम पर इस देश में शिक्षा के क्षेत्र से नीति और चरित्र की शिक्षा को भी बहिष्कृत कर दिया गया है। चाहे हम अपने मोनोग्रामों में "सा विद्या या विमुक्तये" की सूक्तियाँ उद्धृत करते हों, किन्तु हमारी शिक्षा का उससे दूर का भी कोई रिश्ता नहीं रह गया है। आज की शिक्षा योजना में आध्यात्मिक एवं नैतिक मूल्यों की शिक्षा का कोई स्थान नहीं है, जबकि उच्च शिक्षा एवं माध्यमिक शिक्षा के सम्बन्ध में अभी तक बिठाये गये तीनों आयोगों ने अपनी अनुशंसाओं में आध्यात्मिक एवं नैतिक मूल्यों की शिक्षा की महती आवश्यकता प्रतिपादित की है। आज का शिक्षक और शिक्षार्थी दोनों ही अर्थ के दास हैं। एक ओर शिक्षक इसलिये नहीं पढ़ाता है कि

उसे विद्यार्थी के चरित्र निर्माण या विकास में कोई रुचि है, उसकी दृष्टि केवल वेतन दिवस पर टिकी है। वह पढ़ाने के लिये नहीं पढ़ाता, अपितु पैसे के लिये पढ़ाता है। दूसरी ओर शासन, मठ और विद्यार्थी उसे गुरु नहीं "नौकर" समझते हैं। जब गुरु नौकर है तो फिर संस्कार एवं चरित्र निर्माण की अपेक्षा करना ही व्यर्थ है। आज तो गुरु शिष्य के बीच भाव-मोल होता है, सौदा होता है। चाहे हमारे प्राचीन ग्रन्थों में "विद्यायाऽभूतमश्नुते" की बात कही गई हो, किन्तु आज तो विद्या अर्थकरी हो गयी है। शिक्षा के मूल-भूत उद्देश्य को ही हम भूल रहे हैं। वर्तमान सन्दर्भ में फिराक का यह कथन कितना सटीक है, जब वे कहते हैं --

*सभी कुछ हो रहा है, इस तरक्की के जमाने में,
मगर क्या गजब है कि, आदमी इनसां नहीं होता।*

आज की शिक्षा चाहे विद्यार्थी को वकील, डाक्टर, इंजीनियर आदि सभी कुछ बना रही है, किन्तु यह निश्चित है कि वह इन्सान नहीं बना पा रही है। जब तक शिक्षा को चरित्र निर्माण के साथ, नैतिक एवं आध्यात्मिक मूल्यों के साथ नहीं जोड़ा जाता है तब तक वह मनुष्य का निर्माण नहीं कर सकेगी। हमारा प्राथमिक दायित्व मनुष्य को मनुष्य बनाना है। बालक को मानवता के संस्कार देना है। अमेरिका के प्रबुद्ध विचारक टफ्ट्स शिक्षा के उद्देश्य, पद्धति और स्वरूप को स्पष्ट करते हुये लिखते हैं -- "शिक्षा चरित्र निर्माण के लिये, चरित्र के द्वारा, चरित्र की शिक्षा है।" इस प्रकार उनकी दृष्टि में शिक्षा का अर्थ और इति दोनों ही बालकों में चरित्र निर्माण एवं सुसंस्कारों का वपन है। भारत की स्वतन्त्रता के पश्चात् शिक्षा के स्वरूप का निर्धारण करने हेतु सुप्रसिद्ध दार्शनिक डॉ. राधाकृष्णन्, सुप्रसिद्ध वैज्ञानिक डॉ. दौलतसिंह कोठारी और शिक्षा शास्त्री डॉ. मुदालियर की अध्यक्षताओं में जो विभिन्न आयोग गठित हुये थे उन सबका निष्कर्ष यही था कि शिक्षा को मानवीय मूल्यों से जोड़ा जाय। जब तक शिक्षा मानवीय मूल्यों से नहीं जुड़ेगी, उसमें चरित्रनिर्माण और सुसंस्कारों के वपन का प्रयास नहीं होगा, तब तक विद्यालयों एवं महाविद्यालयों रुपी शिक्षा के इन कारखानों से साक्षर नहीं राक्षस ही पैदा होंगे।

भारतीय चिन्तन प्राचीनकाल से ही इस सम्बन्ध में सजग रहा। औपनिषदिक युग में ही शिक्षा के उद्देश्य को स्पष्ट करते हुए कहा गया था -- "या विद्या सा विमुक्तये" अर्थात् विद्या वही जो विमुक्ति प्रदान करे। प्रश्न हो सकता है कि यहाँ विमुक्ति से हमारा क्या तात्पर्य है ? विमुक्ति का तात्पर्य मानवीय संत्रास और तनावों से मुक्ति है, अपनत्व और ममत्व के शुद्ध घोरों से विमुक्ति है। मुक्ति का तात्पर्य है -- अहंकार, आसक्ति, राग-द्वेष और तृष्णा से मुक्ति। यही बात जैन आगम इसिभासियाई (ऋषिभासित) में कही गई है--

*इमा विज्जा महाविज्जा, सव्वविज्जाण उत्तमा ।
जं विज्जं साहइत्ताणां, सव्वदुक्खाण मुच्चती ।।
जेण बन्धं च मोक्खं च, जीवाणं गतिरागतिं ।
आयाभावं च जाणाति, सा विज्जया दुक्खमोयणी ।।*

- इतिभासियाई, 17/1-2

वही विद्या महाविद्या है और वही विद्या समस्त विद्याओं में उत्तम है, जिसकी साधना करने से समस्त दुःखों से मुक्ति मिलती है। विद्या दुःख मोचनी है। जैन आचार्यों ने उसी विद्या को उत्तम माना है जिसके द्वारा दुःखों से मुक्ति हो और आत्मा के शुद्ध स्वरूप का साक्षात्कार हो।

अब प्रश्न यह उपस्थित है कि दुःख क्या है और किस दुःख से मुक्त होना है ? यह सत्य है कि दुःख से हमारा तात्पर्य दैहिक दुःखों से भी होता है, किन्तु ये दैहिक दुःख प्रथम तो कभी भी पूर्णतया समाप्त नहीं होते, क्योंकि उनका केन्द्र हमारी चेतना न होकर हमारा शरीर होता है। जैन परम्परा के अनुसार तीर्थंकर अपनी वीतराग दशा में भी दैहिक दुःखों से पूर्णतः मुक्त नहीं हो सकता। जब तक देह है क्षुधा, पिपासा आदि दुःख तो रहेंगे ही। अतः जिन दुःख से विमुक्ति प्राप्त करनी है, वे दैहिक नहीं मानसिक है। व्यक्ति की रागात्मकता, आसक्ति या तृष्णा ही एक ऐसा तत्त्व है, जिसकी उपस्थिति में मनुष्य दुःखों से मुक्ति प्राप्त नहीं कर पाता है। इससे स्पष्ट होता है कि जैन आचार्यों की दृष्टि में शिक्षा का प्रयोजन मात्र रोजी-रोटी प्राप्त कर लेना नहीं रहा है। जो शिक्षा व्यक्ति में आध्यात्मिक आनन्द या आत्मतोष नहीं दे सकती, वह शिक्षा व्यर्थ है। आत्मतोष ही शिक्षा का सम्यक् प्रयोजन है। शिक्षा-पद्धति स्पष्ट करते हुए "इसिभासियाइ" में कहा गया है कि जिस प्रकार एक योग्य चिकित्सक सर्वप्रथम रोग को जानता है फिर उस रोग के कारणों का निश्चय करता है, फिर रोग की औषधि का निर्णय करता है और फिर उस औषधि द्वारा रोग की चिकित्सा करता है।² उसी प्रकार हमें सर्वप्रथम मनुष्यों के दुःख के स्वरूप को समझना होता है, तत्पश्चात् दुःख के कारणों का विश्लेषण करके फिर उन कारणों के निराकरण का उपाय खोजना होता है और अन्त में इन उपायों द्वारा उन कारणों का निराकरण किया जाता है। यही बातें जैनधर्म में शिक्षा के प्रयोजन एवं पद्धति को स्पष्ट करती है। सम्यक् शिक्षा वही है जो मानवीय दुःखों के स्वरूप को समझे, उनके कारणों का विश्लेषण करे फिर उनके निराकरण के उपाय खोजे और उन उपायों का प्रयोग करके दुःखों से मुक्त हों। वस्तुतः आज की हमारी जो शिक्षा नीति है, उसमें हम इस पद्धति को नहीं अपनाते। शिक्षा से हमारा तात्पर्य मात्र बालक के मस्तिष्क को सूचनाओं से भर देना है। जब तक उसके सामने जीवन-मूल्यों स्पष्ट नहीं करते, तब तक हम शिक्षा के प्रयोजन को न तो सम्यक् प्रकार से समझ ही पाते हैं न मनुष्य के दुःखों का निराकरण ही कर पाते हैं। जैन आगमों में ऋषिभाषित एवं आचारांग से लेकर प्रकीर्णकों तक में शिक्षा के उद्देश्य की विभिन्न दृष्टियों से विवेचना की गयी है। यदि उस समग्र विवेचना को एक ही वाक्य में कहना हो तो जैन आचार्यों की दृष्टि में शिक्षा का प्रयोजन चित्तवृत्तियों एवं आचार की विशुद्धि है। चित्तवृत्तियों का दर्शन ज्ञान-यात्रा प्रारम्भ है। आचारांग में मैं कौन हूँ ? इसे ही साधना-यात्रा का प्रारम्भ बिन्दु कहा गया है। आचारांग ही नहीं सम्पूर्ण भारतीय साहित्य में आत्म जिज्ञासा से ही ज्ञान साधना का प्रारम्भ माना गया है, उपनिषद् का ऋषि कहता है "आत्मानं विद्धि", आत्मा को जानो। बुद्ध ने "अत्तानं विद्धि" कहकर इसी तथ्य की पुष्टि की। ज्ञातव्य है कि यहाँ आत्माज्ञान का तात्पर्य अमूर्त आत्म तत्त्व की खोज नहीं, अपितु अपने ही चित्त की विकृतियों और वासनाओं का दर्शन है। चित्तवृत्ति और आचार की विशुद्धि की प्रक्रिया तब ही प्रारम्भ हो

सकती है, जब हम अपने विकारों और वासनाओं को देखें, क्योंकि जब तक चित्त में विकारों, वासनाओं और उनके कारणों के प्रति सजगता नहीं आती तब तक चरित्र शुद्धि की प्रक्रिया प्रारम्भ ही नहीं हो सकती। आचारांग में ही कहा गया है कि जो मन का ज्ञाता होता है, वही निर्गन्ध (विकार-मुक्त) है।⁴

जैन आचार्यों की दृष्टि में उस शिक्षा या ज्ञान का कोई अर्थ नहीं है जो चारित्र शुद्धि या आचार शुद्धि की दिशा में गतिशील न करता हो। इसीलिए सूत्रकृतांग में स्पष्ट रूप से कहा गया है कि "विज्जाचरणं पमोक्खं"⁵ अर्थात् विद्या और आचरण से ही विमुक्ति की प्राप्ति होती है। उत्तराध्ययनसूत्र में शिक्षा के प्रयोजन को स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि श्रुत की अराधना से जीव अज्ञान का क्षय करता है और संक्लेश को प्राप्त नहीं होता है।⁶ इसे और स्पष्ट करते हुए इसी ग्रन्थ में पुनः कहा गया है कि जिस प्रकार धागे से युक्त सुई गिर जाने पर भी विनष्ट नहीं होती है अर्थात् खोजी जा सकती है, उसी प्रकार श्रुत सम्पन्न जीव संसार में विनष्ट नहीं होता।⁷ इसी ग्रन्थ में अन्यत्र यह भी कहा गया है कि ज्ञान, अज्ञान और मोह का विनाश करके सर्व विषयों को प्रकाशित करता है।⁸ यह स्पष्ट है कि ज्ञान साधना का प्रयोजन अज्ञान के साथ-साथ मोह को भी समाप्त करना है। जैन आचार्यों की दृष्टि में अज्ञान और मोह में अन्तर है। मोह अनात्म विषयों के प्रति आत्म बुद्धि है, वह राग या आसक्ति का उद्भावक है उसी से क्रोध, मान, माया और लोभ इन चारों कषायों का जन्म होता है। अतः उत्तराध्ययन के अनुसार जो व्यक्ति की क्रोध, मान, माया आदि की दूषित चित्त वृत्तियों पर अंकुश लगाये, वही सच्ची शिक्षा है।⁹ केवल वस्तुओं के सन्दर्भ में जानकारी प्राप्त कर लेना शिक्षा का प्रयोजन नहीं है। उसका प्रयोजन तो व्यक्ति को वासनाओं और विकारों से मुक्त कराना है। शिक्षा व्यक्तित्व या चरित्र का उदात्तीकरण है। जब तक शिक्षा को केवल जानकारियों तक सीमित रखा जायेगा तब तक वह व्यक्तित्व की निर्माता नहीं बन सकेगी। दशवैकालिकसूत्र में शिक्षा के चार उद्देश्यों को स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि --

1. मुझे श्रुत ज्ञान (आगम ज्ञान) प्राप्त होगा, इसलिए अध्ययन करना चाहिए।
2. मैं एकाग्रचित्त होऊँगा, इसलिए अध्ययन करना चाहिए।
3. मैं अपने आप को धर्म में स्थापित करूँगा, इसलिए अध्ययन करना चाहिये।
4. मैं स्वयं धर्म में स्थित होकर दूसरों को धर्म में स्थित-करूँगा, इसलिए अध्ययन करना चाहिये।¹⁰

इस प्रकार दशवैकालिक के अनुसार अध्ययन का प्रयोजन ज्ञान प्राप्ति के साथ-साथ चित्त की एकाग्रता तथा धर्म (सदाचार) में स्वयं स्थित होना तथा दूसरों को स्थित करना माना गया है। जैन आचार्यों की दृष्टि में जो शिक्षा चरित्र शुद्धि में सहायक नहीं होती, उसका कोई अर्थ नहीं है। चंद्रवेद्यक नामक प्रकीर्णक में ज्ञान और सदाचार में तदात्म्य स्थापित करते हुए कहा गया है कि जो विनय है, वही ज्ञान है और जो ज्ञान है उसे ही विनय कहा जाता है।¹¹ श्रुतज्ञान में कुशल हेतु और कारण का जानकार व्यक्ति भी यदि अविनीत और अहंकारी है तो वह ज्ञानियों द्वारा प्रशंसनीय नहीं है।¹² जो अल्पश्रुत होकर भी विनीत है वही कर्म का क्षय कर

मुक्ति प्राप्त करता है, जो बहुश्रुत होकर भी अविनीत, अल्पश्रद्धा और संवेग युक्त है वह चरित्र की आराधना नहीं कर पाता है।^{१४} जिस प्रकार अन्धे व्यक्ति के लिये करोड़ों दीपक भी निरर्थक हैं उसी प्रकार अविनीत (असदाचारी) व्यक्ति के बहुत अधिक शास्त्रज्ञान का भी क्या प्रयोजन ? जो व्यक्ति जिनेन्द्र द्वारा उपदृष्ट अति विस्तृत ज्ञान को जानने में चाहे समर्थ न ही हो, फिर भी जो सदाचार से सम्पन्न है वस्तुतः वह धन्य है, और वही ज्ञानी है।^{१५} जैन आचार्य यह मानते हैं कि ज्ञान आचरण का हेतु है, मात्र वह ज्ञान जो व्यक्ति की आचार शुद्धि का कारण नहीं होता, निरर्थक ही माना गया है। जिस प्रकार शस्त्र से रहित योद्धा और योद्धा से रहित शस्त्र निरर्थक होता है, उसी प्रकार ज्ञान से रहित आचरण और आचरण से रहित ज्ञान निरर्थक होता है !

जैनागम उत्तराध्ययनसूत्र में शिक्षा प्राप्ति में बाधक निम्न पाँच कारणों का उल्लेख हुआ है -- (१) अभिमान, (२) क्रोध, (३) प्रमाद, (४) आलस्य और (५) रोग।^{१६} इसके विपरीत उसमें उन आठ कारणों का भी उल्लेख हुआ है जिन्हें हम शिक्षा प्राप्त करने के साधक तत्त्व कह सकते हैं -- (१) जो अधिक हँसी-मजाक नहीं करता हो, (२) जो अपनी वासनाओं पर नियन्त्रण रखता हो, (३) जो किसी की गुप्त बात को प्रकट नहीं करता हो, (४) जो अशील अर्थात् आचारहीन न हो, (५) जो दूषित आचार वाला न हो, (६) जो रस लोलुप न हो, (७) जो क्रोध न करता हो और (८) जो सत्य में अनुरक्त हो।^{१७} इससे यही फलित होता है कि जैनधर्म में शिक्षा का सम्बन्ध चारित्रिक मूल्यों से रहा है।

वस्तुतः जैन आचार्यों को ज्ञान और आचरण का द्वैत मान्य नहीं है वे कहते हैं -- जो ज्ञान है, वही आचरण है, जो आचरण है, वहीं आगम-ज्ञान का सार है।^{१८} इस प्रकार हम देखते हैं कि जैन परम्परा में उस शिक्षा को निरर्थक ही माना गया है जो व्यक्ति के चारित्रिक-विकास या व्यक्तित्व-विकास करने में समर्थ नहीं है। जो शिक्षा मनुष्य को पाशविक वासनाओं से ऊपर नहीं उठा सके, वह वास्तविक शिक्षा नहीं है।

जैन आचार्य शिक्षा का अर्थ व्यक्ति को जीवन और जगत् के सम्बन्ध में जानकारियों से भर देना नहीं मानते हैं, अपितु वे इसका उद्देश्य व्यक्ति के व्यक्तित्व का विकास या सदगुणों का विकास मानते हैं, किन्तु इसका तात्पर्य यह भी नहीं है कि वे शिक्षा को आजीविका या कलात्मक कुशलता से अलग कर देते हैं। रायपसेनीयसुत्त में तीन प्रकार के आचार्यों का उल्लेख है -- 1. कलाचार्य, 2. शिल्पाचार्य एवं 3. धर्माचार्य।^{१९} उसमें इन तीनों आचार्यों के प्रति शिष्य के कर्तव्यों का भी निर्देश है। इससे यह फलित है कि जैन चिन्तकों की दृष्टि में शिक्षा व्यवस्था तीन प्रकार की थी। कलाचार्य का कार्य जीवनोपयोगी कलाओं अर्थात् ज्ञान-विज्ञान और ललित कलाओं की शिक्षा देना था। भाषा, लिपि, गणित के साथ-साथ खगोल, भूगोल, ज्योतिष आयुर्वेद संगीत नृत्य आदि की भी शिक्षा कलाचार्य देते थे। वस्तुतः आज हमारे विश्वविद्यालयों में कला, सामाजिक विज्ञान एवं विज्ञान संकाय जो कार्य करते हैं, उन्हीं से मिलता-जुलता कार्य कलाचार्य का था। जैनागमों में पुरुष की 64 एवं स्त्री की 72 कलाओं का निर्देश उपलब्ध है^{२०}, इससे हम अनुमान लगा सकते हैं कि जैनाचार्यों की दृष्टि में

शिक्षा जीवन के सभी पहलुओं का स्पर्श करती है।

कलाचार्य के बाद दूसरा स्थान शिल्पाचार्य का था। शिल्पाचार्य वस्तुतः वह व्यक्ति होता था जो आजीविका अर्जन से सम्बन्धित विविध प्रकार के शिल्पों की शिक्षा देता था। आज जिस प्रकार विभिन्न औद्योगिक प्रशिक्षण संस्थायें प्रशिक्षण प्रदान करती हैं, उस काल में यही कार्य शिल्पाचार्य करते। इनके ऊपर धर्माचार्य का स्थान था। इनका दायित्व वस्तुतः व्यक्ति के चारित्रिक गुणों का विकास करना था। वे शील और सदाचार की शिक्षा देते थे। इस प्रकार-प्राचीन काल में शिक्षा को तीन भागों में विभक्त किया गया था और इन तीनों विभागों का दायित्व तत्-तत् विषयों के आचार्य निर्वाह करते थे।

जैन परम्परा में कलाचार्य, शिल्पाचार्य और धर्माचार्य के जो निर्देश उपलब्ध होते हैं उनसे ऐसा लगता है कि भारतीय चिन्तन में जो धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष चार पुरुषार्थ या जीवन-मूल्य माने गये हैं, उनमें मोक्ष तो साध्य पुरुषार्थ है, अतः शेष तीन पुरुषार्थों की शिक्षा की व्यवस्था अलग-अलग तीन आचार्यों के लिए नियत की गई थी। शिल्पाचार्य का कार्य अर्थ पुरुषार्थ की शिक्षा देना था, तो कलाचार्य का काम भाषा लिपि और गणित की शिक्षा के साथ-साथ काम पुरुषार्थ की शिक्षा देना था। धर्माचार्य का कार्य मात्र धर्म और मोक्ष पुरुषार्थ से ही सम्बन्धित था इस प्रकार विविध जीवन मूल्यों की शिक्षा के लिए विविध आचार्यों की व्यवस्था थी। चूँकि जैनधर्म मूलतः एक निवृत्ति मूलक और संन्यासपरक धर्म था इसलिए धर्माचार्य का कार्य धर्म और मोक्ष की पुरुषार्थ की शिक्षा देने तक ही सीमित रखा गया था। इस प्रकार जीवन के विविध मूल्यों के आधार पर शिक्षा की व्यवस्था भी अलग-अलग थी। आज हम सम्पूर्ण जीवन मूल्यों के लिए जो एक ही प्रकार की शिक्षा व्यवस्था की बात करते हैं, वह मूल में भ्रांति है, जहाँ शिल्पाचार्य और कलाचार्य वृत्तिमूलक शिक्षा प्रदान करते थे वहाँ धर्माचार्य निवृत्ति मूलक शिक्षा प्रदान करते थे। पुनः यह भी आवश्यक है कि जो आचार्य जिस प्रकार की जीवन शैली जीता है। वह वैसी ही शिक्षा प्रदान कर सकता है। अतः धर्माचार्य से अर्थ और काम की शिक्षा और शिल्पाचार्य एवं कलाचार्य से धर्म एवं मोक्ष पुरुषार्थ की शिक्षा की अपेक्षा करना उचित नहीं है। वर्तमान सन्दर्भ में यह आवश्यक है कि हम शिक्षा के विविध क्षेत्रों का दायित्व विविध आचार्यों को सौंपे और इस बात का विशेष ध्यान रखें कि जो व्यक्ति जिस प्रकार की शिक्षा के देने के लिए योग्य हो, वही उसका दायित्व सम्भाले। जब तक ऐसा नहीं होगा तब तक शिक्षा के क्षेत्र में मानव के सर्वांगीण विकास की कल्पना सार्थक नहीं होगी। "रायपसेनीयसुत्त" में जो कलाचार्य, शिल्पाचार्य और धर्माचार्य की व्यवस्था दी गयी है इससे यह स्पष्ट होता है कि शिक्षा के ये तीनों क्षेत्र मानव जीवन के तीन मूल्यों से सम्बन्धित थे तथा एक-दूसरे से पृथक् थे और सामान्य व्यक्ति तीनों ही प्रकार की शिक्षायें प्राप्त करता था। फिर भी प्राचीनकाल में यह शिक्षा पद्धति व्यक्ति के लिये भार स्वरूप नहीं थी।

जहाँ तक आध्यात्मिक और नैतिक शिक्षा का प्रश्न था यह धर्माचार्य के सान्निध्य में उपदेशों के श्रवण के माध्यम से प्राप्त की जाती थी। इसके लिये व्यक्ति को कुछ व्यय नहीं करना होता है। सामान्यतया श्रमण परम्परा में धर्माचार्य भिक्षाचार्य से ही अपनी उदरपूर्ति करते

थे और उनके कोई स्थायी आश्रम आदि भी नहीं होते थे, अतः वे व्यक्ति और समाज पर भार स्वरूप नहीं होते थे। इसके विपरीत वैदिक परम्परा में धर्माचार्य सपरिवार अपने आश्रमों में रहते थे तथा धर्माचार्य और कलाचार्य का कार्य एक ही व्यक्ति करता था कुछ कलाचार्य सम्पन्न व्यक्तियों या राजाओं या सामन्तों के घर जाकर भी शिक्षा प्रदान करते थे, फिर भी सामान्यतया, वे शिक्षा अपने आश्रमों में ही प्रदान करते थे। आश्रम पद्धति की विशेषता यह थी कि विद्यार्थी और शिक्षक अपनी आजीविका या तो अपने श्रम से उपाजित करते अथवा भिक्षाचार्य के माध्यम से उसकी पूर्ति करते। इसलिए उस युग में शिक्षा न तो व्यक्ति पर भार स्वरूप थी और न राज्य पर। समृद्ध व्यक्ति अथवा राजा समय-समय पर दानादि देकर शिक्षकों को सम्मानित अवश्य करते थे। विद्यार्थी भी अपनी शिक्षापूर्ण करने के पश्चात् जब स्वयं आजीविका अर्जन करने लगता, तो वह भी गुरु-दक्षिणा देकर अपने गुरु को सम्मानित करता था। फिर भी यह समग्र व्यवस्था मूलतः ऐच्छिक थी। शिल्पाचार्य आजीविका अर्जन से सम्बन्धित विभिन्न शिल्पों की शिक्षा देते थे। विद्यार्थी शिल्पाचार्य के सान्निध्य में रहकर ही शिल्प सिखते थे। इसमें शिक्षण और आजीविका अर्जन की प्रक्रिया साथ-साथ ही चलती थी। सामान्यतया यह शिक्षा पिता-पुत्र की परम्परा से चलती थी। किन्तु कभी-कभी व्यक्ति दूसरों के सान्निध्य में भी ऐसी शिक्षा प्राप्त करता था। "रायपसेनीय" ये स्पष्ट रूप में यह उल्लिखित है कि किस प्रकार के शिक्षक को किस प्रकार से सम्मानित करना चाहिए।²¹ शिल्पाचार्य और कलाचार्य के सम्मान की पद्धति धर्माचार्य के सम्मान की पद्धति से भिन्न थी। कलाचार्य और शिल्पाचार्य की शिष्यगण तेलमालिश, स्नान आदि के द्वारा न केवल शारीरिक सेवा करते थे, अपितु उन्हें वस्त्र, आभूषण आदि से अलंकृत कर सरस भोजन करवाते थे तथा उनकी आजीविका एवं उनके पुत्रादि के भरण-पोषण की योग्य व्यवस्था भी करते थे। दूसरी ओर धर्माचार्य को वन्दन नमस्कार करना, उसके उपदेशों को श्रद्धापूर्वक सुनना, भिक्षार्थ आने पर आहारादि से उसका सम्मान करना -- यही शिक्षार्थी का कर्तव्य माना गया था।²² ज्ञातव्य है कि जहाँ शिल्पाचार्य और कलाचार्य अपने शिष्यों से भूमि, मुद्रा आदि के दान की अपेक्षा करते थे, वहाँ धर्माचार्य अपरिग्रही होने के कारण अपने प्रति श्रद्धाभाव को छोड़कर अन्य कोई अपेक्षा नहीं रखते थे। यहाँ यह भी ज्ञातव्य है कि शिल्पाचार्य और कलाचार्य सामान्यतया गृहस्थ होते थे और इसलिए उन्हें अपने पारिवारिक दायित्वों को सम्पन्न करने के लिए शिष्यों से मुद्रा आदि की अपेक्षा होती, किन्तु धर्माचार्य की स्थिति इससे भिन्न थी, वे सामान्य रूप से संन्यासी और पपरिग्रही होते थे, अतः उनकी कोई अपेक्षा नहीं होती थी। वस्तुतः नैतिकता और सदाचार की शिक्षा देने का अधिकारी वही व्यक्ति हो सकता था जो स्वयं अपने जीवन में नैतिकता का आचरण करता हो और यही कारण था कि उसके उपदेशों एवं आदेशों का प्रभाव होता था। आज हम नैतिक एवं आध्यात्मिक शिक्षा देने का प्रथम तो कोई प्रयत्न ही नहीं करते दूसरे उसकी अपेक्षा हम उन शिक्षकों से करते हैं जो स्वयं उस प्रकार का जीवन नहीं जी रहे होते हैं, फलतः उनकी शिक्षा को कोई प्रभाव भी नहीं होता। यही कारण है कि आज विद्यार्थियों में चरित्र निष्ठा का अभाव पाया जाता है क्योंकि यदि शिक्षक स्वयं चरित्रवान नहीं होगा तो वह अपने विद्यार्थियों को वैसी शिक्षा नहीं दे पायेगा, कम से कम धर्माचार्य के सन्दर्भ में तो यह बात

आवश्यक है। जब तक उसके जीवन में चारित्रिक और नैतिक मूल्य साकार नहीं होंगे, वह अपने शिष्यों पर उनका प्रभाव डालने में समर्थ नहीं होगा। चन्द्रवेद्यक प्रकीर्णक कहता है कि सम्यक् शिक्षा के प्रदाता आचार्य निश्चय ही सुलभ नहीं होते।²³

जैन आगमों में इस प्रश्न पर भी गम्भीरता से विचार किया गया है कि शिक्षा प्राप्त करने का अधिकारी कौन है ? चन्द्रवेद्यक प्रकीर्णक में उन व्यक्तियों को शिक्षा के अयोग्य माना गया है, जो अविनीत हों, जो आचार्य का और विद्या का तिरस्कार करते हों, मिथ्या दृष्टिकोण से युक्त हों तथा मात्र सांसारिक भोगों के लिए विद्या प्राप्त करने की आकांक्षा रखते हों।²⁴ इसी प्रकार योग्य आचार्य कौन हो सकता है इसकी चर्चा करते हुए कहा गया है कि जो देश और काल का ज्ञाता, अवसर को समझने वाला अभ्रान्त, धैर्यवान, अनुवर्तक और अभायावी होता है, साथ ही लौकिक, आध्यात्मिक और वैदिक शास्त्रों का ज्ञाता होता है वही शिक्षा देने का अधिकारी है। इस ग्रन्थ में आचार्य की उपमा दीपक से दी गयी है। दीपक के समान आचार्य स्वयं भी प्रकाशित होते हैं और दूसरों को भी प्रकाशित करते हैं।²⁵

श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों ही परम्पराओं में आचार्य के गुणों की संख्या 36 स्वीकार की गयी है किन्तु ये 36 गुण कौन-कौन हैं इस सम्बन्ध में विभिन्न ग्रन्थकारों के विभिन्न दृष्टिकोण हैं। भगवतीआराधना में आचारत्व आदि 8 गुणों के साथ-साथ, 10 स्थित कल्प, 12 तप और 6 आवश्यक, ऐसे 36 गुण माने गये हैं।²⁶ इसी के टीकाकार अपराजितसूरि ने 8 ज्ञानाचार, 8 दर्शनाचार, 12 तप, 5 समिति और 3 गुप्ति -- ये 36 गुण माने हैं।²⁷ श्वेताम्बर परम्परा में स्थानांग में आचार्य को आठ प्रकार की निम्न गणि सम्पदाओं से युक्त बतलाया गया है -- 1. आचार सम्पदा, 2. श्रुत सम्पदा, 3. शरीर सम्पदा, 4. वचन सम्पदा, 5. वाचना सम्पदा, 6. मतिसम्पदा, 7. प्रयोग सम्पदा (वादकौशल) और 8. संग्रह परिज्ञा (संघ व्यवस्था में निपुणता)।²⁸ प्रवचनसारोद्धार में आचार्य के 36 गुणों का तीन प्रकार से विवेचन किया गया है। सर्वप्रथम उपरोक्त 8 गणि-सम्पदा के द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा से 32 भेद होते हैं, इनमें आचार्य, श्रुत, विक्षेपणा और निर्घाटन -- ये विनय में चार भेद सम्मिलित करने पर कुल 36 भेद होते हैं। प्रकारान्तर से ज्ञानाचार, दर्शनाचार आर चरित्राचार के आठ-आठ भेद करने पर 24 भेद होते हैं, इनमें 12 प्रकार का तप मिलाने पर 36 भेद होते हैं। कहीं-कहीं आठ गणि सम्पदा, 10 स्थितिकल्प, 12 तप और 6 आवश्यक मिलाकर आचार्य में 36 गुण माने गये हैं प्रवचनसारोद्धार के टीकाकार ने आचार्य के निम्न 36 गुणों का भी उल्लेख किया गया है -- 1. देशयुत, 2. कुलयुत, 3. जातियुत, 4. रूपयुत, 5. संहननयुत, 6. घृतियुत, 7. अनाशंसी, 8. अविक्लथन, 9. अयाची, 10. स्थिर परिपाटी, 11. गृहीतवाक्य, 12. जितपर्षत्, 13. जितनिद्रा, 14. मध्यस्थ, 15. देशज्ञ, 16. कालज्ञ, 17. भावज्ञ, 18. आसन्नलब्धप्रतिम, 19. नानाविध देश भाषज्ञ, 20. ज्ञानाचार, 21. दर्शनाचार, 22. चारित्राचार, 23. तपाचार, 24. वीर्याचार, 25. सूत्रपात, 26. आहरलनिपुण, 27. हेतुनिपुण, 28. उपनयनिपुण, 29. नयनिपुण, 30. ग्राहणाकुशल, 31. स्वसमयज्ञ, 32. परसमयज्ञ, 33. गम्भीर, 34. दीप्तीमान, 35. कल्याण करने वाला और 36. सौम्य।³⁰

इन गुणों की चर्चा से यह स्पष्ट हो जाता है कि जैन आगमों में आचार्य कैसा होना चाहिए इस प्रश्न पर गम्भीरता पूर्वक विचार किया गया था और मात्र चरित्रवान एवं उच्च मूल्यों के प्रति निष्ठावान व्यक्ति को ही आचार्यत्व के योग्य पाना गया था।

इससे यह फलित भी होता है कि जो साधक अहिंसादि महाव्रतों का स्वयं पालन करता है तथा आजीविका अर्जन हेतु मात्र भिक्षा पर निर्भर रहता है जो स्वार्थ से परे है वही व्यक्ति आध्यात्मिक एवं नैतिक मूल्यों का शिक्षक होने का अधिकारी है।

विद्यार्थी कैसा होना चाहिये, इसकी चर्चा करते हुए उत्तराध्ययनसूत्र में कहा गया है कि जो भिक्षाजीवी, विनीत, सज्जन व्यक्तियों के गुणों को जानने वाला, आचार्य की मनोभावों के अनुरूप आचरण करने वाला, सर्दी-गर्मी, भूख-प्यास आदि को सहन करने वाला, लाभ-अलाभ में विचलित नहीं होने वाला, सेवा तथा स्वाध्याय हेतु तत्पर, अहंकार रहित और आचार्य के कठोर वचनों को सहन करने में समर्थ शिष्य ही शिक्षा का अधिकारी है।³¹ ग्रन्थकार यह भी कहता है कि शास्त्रों में शिष्य की जो परीक्षा विधि कही गयी है उसके माध्यम से शिष्य की परीक्षा करके ही उसे मोक्ष मार्ग में प्रवृत्त करना चाहिये।³²

उत्तराध्ययनसूत्र में शिष्य के आचार व्यवहार के सन्दर्भ में निर्देश करते हुए कहा गया है कि जो शिष्य गुरु के सान्निध्य में रहता है, गुरु के संकेत व मनोभावों को समझता है वही विनीत कहलाता है इसके विपरीत आचरण वाला अविनीत। योग्य शिष्य सदैव गुरु के निकट रहे उनसे अर्थ पूर्ण बात सीखे और निरर्थक बातों को छेड़ दे, गुरु द्वारा अनुशासित होने पर क्रोध न करे, शूद्र व्यक्तियों के संसर्ग से दूर रहे, यदि कोई गलती हो गयी हो तो उसे छिपाये नहीं अपितु यथाथ रूप में प्रकट कर दे। बिना पूछे गुरु की बातों में बीच में न बोले, अध्ययन काल में सदैव अध्ययन करे। आचार्य के समक्ष बराबरी से न बैठे, न उनके आगे, न पीछे सटकर बैठे। गुरु के समीप उनसे अपने शरीर को सटाकर भी नहीं बैठे, बैठे-बैठे ही न तो कुछ पूछे और न उत्तर दे। गुरु के समीप उकुड़ू आसन से बैठकर हाथ जोड़कर जो पूछना हो उसे विनयपूर्वक पूछे।³³

ये सभी तथ्य यह सूचित करते हैं कि जैन शिक्षा व्यवस्था में शिष्य के लिए अनुशासित जीवन जीना अवश्यक था। यह कठोर अनुशासन वस्तुतः बाहर से थोपा हुआ नहीं था, अपितु मूल्यात्मक शिक्षा के माध्यम से इसका विकास अन्दर से ही होता था, क्योंकि जैन शिक्षा व्यवस्था में सामान्यतया शिष्य में ताड़न-वर्जन की कोई व्यवस्था नहीं थी। आचार्य और शिष्य दोनों के लिए ही आगम में उल्लेखित अनुशासन का पालन करना आवश्यक था। जैन शिक्षा विधि में अनुशासन आत्मानुशासन था। व्यक्ति को दूसरे को अनुशासित करने का अधिकार तभी माना गया था, जब वह स्वयं अनुशासित जीवन जीता हो। आचार्य तुलसी ने निज पर शासन फिर अनुशासन का जो सूत्र दिया है वह वस्तुतः जैन शिक्षा विधि का सार है। शिक्षा के साथ जब तक जीवन में स्वस्फूर्त अनुशासन नहीं आयेगा तब तक वह सार्थक नहीं होगी।

सन्दर्भ

१. बाइबिल, उद्धृत नये संकेत, आचार्यरजनीश, पृ. ५७
२. इसिभासियाई, १७/३
३. आचारांग, १/१/१
४. कठोपनिषद, ३/३
५. आचारांग, २/३/१५/१
६. सूत्रकृतांग, १/१२/११
७. उत्तराध्ययन, ३२/२
८. वही, २६/६०
९. वही, ३२/२
१०. वही, ३२/१०२-१०६
११. दशवैकालिक, ६/४
१२. चन्द्रवेध्यक, ६२
१३. वही, ५६
१४. वही, ६४
१५. वही, ६८
१६. उत्तराध्ययनसूत्र, ११/३
१७. वही, ११/४-५
१८. चन्द्रवेध्यक, ७७
१९. रायसेनीयसुत्त (घासीलाल जी म.) सूत्र ६५६, पृ. ३३८-३४१
२०. समवायांग-समवाय ७२ (देखें -- टीका)
२१. रायसेनीयसुत्त (घासीलालजी म.) सूत्र ६५६, पृ. ३३८-३४१
२२. वही, पृ. ३३८-३४१
२३. चन्द्रवेध्यक, २०
२४. वही, ५१-५३
२५. वही, २५, २६
२६. वही, ३०
२७. भगवतीआराधना, ५२८
२८. वही, टीका
२९. स्थानांग-स्थान, ८/१५
३०. प्रवचन सारोद्धार, द्वार ६४
३१. देखें -- उत्तराध्ययनसूत्र, अध्याय १ एवं ११
३२. चन्द्रवेध्यक, ५३
३३. उत्तराध्ययनसूत्र, १/२-२२

खजुराहो की कला और जैनाचार्यों की समन्वयात्मक एवं सहिष्णु दृष्टि

- डॉ. सागरमल जैन

खजुराहो की मन्दिर एवं मूर्तिकला को जैनों का प्रदेय क्या है ? इस चर्चा के पूर्व हमें उस युग की परिस्थितियों का आकलन कर लेना होगा। खजुराहो के मन्दिरों का निर्माणकाल ईस्वी सन् की नवीं शती के उत्तरार्ध से बारहवीं शती के पूर्वार्ध के मध्य है। यह कालावधि एक ओर जैन साहित्य और कला के विकास का स्वर्णयुग है, किन्तु दूसरी ओर यह जैनों के अस्तित्व के लिए संकट का काल भी है।

गुप्तकाल के प्रारम्भ से प्रवृत्तिमार्गी ब्राह्मण परम्परा का पुनः अभ्युदय हो रहा था। जन-साधारण तप-त्याग प्रधान नीरस वैराग्यवादी परम्परा से विमुख हो रहा था, उसे एक ऐसे धर्म की तलाश थी जो उसकी मनो-दैहिक एषणाओं की पूर्ति के साथ मुक्ति का कोई मार्ग प्रशस्त कर सके। मनुष्य की इसी आकांक्षा की पूर्ति के लिए हिन्दूधर्म में वैष्णव, शैव, शाक्त और कौल सम्प्रदायों का तथा बौद्ध धर्म में वज्रयान सम्प्रदाय का उदय हुआ। इन्होंने तप- त्याग प्रधान वैराग्यवादी प्रवृत्तियों को नकारा और फलतः जन-साधारण के आकर्षण के केन्द्र बने। निवृत्तिमार्गी श्रमण परम्पराओं के लिए अब अस्तित्व का संकट उपस्थित हो गया था। उनके लिए दो ही विकल्प शेष थे या तो वे तप-त्याग के कठोर निवृत्तिमार्गी आदर्शों से नीचे उतरकर युग की माँग के साथ कोई सामंजस्य स्थापित करें या फिर उनके विरोध में खड़े होकर अपने अस्तित्व को ही नामशेष होने दें।

बौद्धों का हीनयान सम्प्रदाय, जैनों का यापनीय सम्प्रदाय, आजीवक आदि दूसरे कुछ अन्य श्रमण सम्प्रदाय अपने कठोर निवृत्तिमार्गी आदर्शों से समझौता न करने के कारण नामशेष हो गये। बौद्धों का दूसरा वर्ग जो महायान के रास्ते यात्रा करता हुआ वज्रयान के रूप में विकसित हुआ था, यद्यपि युगीन परिस्थितियों से समझौता और समन्वय कर रहा था, किन्तु वह युग के प्रवाह के साथ इतना बह गया कि वाम मार्ग में और उसमें उपास्य भेद के अतिरिक्त अन्य कोई भेद नहीं रह गया था। इस कारण एक ओर उसने अपनी स्वतन्त्र पहचान खो दी तथा दूसरी ओर वासना की पूर्ति के पंक में आकण्ठ डूब जाने से जन-साधारण की श्रद्धा से भी वंचित हो गया और अन्ततः अपना अस्तित्व नहीं बचा सका।

जैनाचार्यों ने इन परिस्थितियों में बुद्धिमत्ता से काम लिया, उन्होंने युगीन परिस्थितियों से एक ऐसा सामंजस्य स्थापित किया, जिसके कारण उनकी स्वतन्त्र पहचान भी बनी रही और

भारतीय संस्कृति की उस युग की मुख्य धारा से उनका विरोध भी नहीं रहा। उन्होंने अपने वीतरागता एवं निवृत्ति के आदर्श को सुरक्षित रखते हुए भी हिन्दू देव मण्डल के अनेक देवी-देवताओं को, उनकी उपासना पद्धति और कर्मकाण्ड को, यहाँ तक कि तन्त्र को भी अपनी परम्परा के अनुरूप रूपान्तरित करके स्वीकृत कर लिया। मात्र यही नहीं हिन्दू समाज व्यवस्था के वर्णाश्रम सिद्धान्त और उनकी संस्कार पद्धति का भी जैनीकरण करके उन्हें आत्मसात् कर लिया। साथ ही अपनी ओर से सहिष्णुता और सद्भाव का परिचय देकर अपने को नाम शेष होने से बचा लिया। हम प्रस्तुत आलेख में खजुराहो के मन्दिर एवं मूर्तिकला के प्रकाश में इन्हीं तथ्यों को स्पष्ट करने का प्रयास करेंगे।

खजुराहो के हिन्दू और जैन परम्परा के मन्दिरों का निर्माण समकालीन है, यह इस तथ्य का द्योतक है कि दोनों परम्पराओं में किसी सीमा तक सद्भाव और सह-अस्तित्व की भावना थी। किन्तु जैन मन्दिर समूह का हिन्दू मन्दिर समूह से पर्याप्त दूरी पर होना, इस तथ्य का सूचक है कि जैन मन्दिरों के लिए स्थल-चयन में जैनाचार्यों ने बुद्धिमत्ता और दूर-दृष्टि का परिचय दिया, ताकि संघर्ष की स्थिति को टाला जा सके। ज्ञातव्य है कि खजुराहो का जैन मन्दिर समूह हिन्दू मन्दिर समूह से लगभग 2 किलोमीटर की दूरी पर स्थित है। यह सत्य है कि मन्दिर निर्माण में दोनों परम्पराओं में एक सात्विक प्रतिस्पर्धा की भावना भी रही तभी तो दोनों परम्पराओं में कला के उत्कृष्ट नमूने साकार हो सके, किन्तु जैनाचार्य इस सम्बन्ध में सजग थे कि संघर्ष का कोई अवसर नहीं दिया जाये क्योंकि जहाँ हिन्दू मन्दिरों का निर्माण राज्याश्रय से हो रहा था, वहाँ जैन मन्दिरों का निर्माण वणिक् वर्ग कर रहा था। अतः इतनी सजगता आवश्यक थी कि राजकीय कोष एवं बहुजन समाज के संघर्ष के अवसर अल्पतम हों और यह तभी सम्भव था जब दोनों के निर्माणस्थल पर्याप्त दूरी पर स्थित हों।

मन्दिर एवं मूर्तिकला की दृष्टि से दोनों परम्पराओं के मन्दिरों में पर्याप्त समानता है किन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि जैनों ने अपनी परम्परा के वैशिष्ट्य की पूर्ण उपेक्षा की है। समन्वयशीलता के प्रयत्नों के बावजूद उन्होंने अपने वैशिष्ट्य और अस्मिता को खोया नहीं है। खजुराहो के मन्दिर जिस काल में निर्मित हुए तब वाममार्ग और तन्त्र का पूरा प्रभाव था। यही कारण है कि खजुराहो के मन्दिरों में कामुक अंकन पूरी स्वतन्त्रता के साथ प्रदर्शित किये गये, प्राकृतिक और अप्राकृतिक मैथुन के अनेक दृश्य खजुराहो के मन्दिरों में उत्कीर्ण हैं। यद्यपि जैन मन्दिरों की बाह्य भित्तियों पर भी ऐसे कुछ अंकन हैं, किन्तु उनकी मात्रा हिन्दू मन्दिरों की अपेक्षा अत्यल्प है। इसका अर्थ है कि जैनधर्मानुयायी इस सम्बन्ध में पर्याप्त सजग रहे होंगे कि कामवासना का यह उद्दाम अंकन उनके निवृत्तिमार्गी दृष्टिकोण के साथ संगति नहीं रखता है। इसलिए उन्होंने ऐसे दृश्यों के अंकन की खुली छूट नहीं दी। खजुराहो के जैन मन्दिरों में कामुकता के अश्लील अंकन के जो दो-चार फलक मिलते हैं उनके सम्बन्ध में दो ही विकल्प हो सकते हैं या तो वे जैनाचार्यों की दृष्टि से ओझल रहे या फिर उन्हें उस तान्त्रिक मान्यता के आधार पर स्वीकार कर लिया गया कि ऐसे अंकनों के होने पर मन्दिर पर बिजली नहीं गिरती है और वह सुरक्षित रहता है। क्योंकि खजुराहो के अतिरिक्त दक्षिण के कुछ दिगम्बर जैन

मन्दिरों में और राजस्थान के तारंगा और राणकपुर के श्वे. जैन मन्दिरों में ऐसे अंकन पाये जाते हैं। जहाँ तक काम सम्बन्धी अश्लील अंकनों का प्रश्न है इस सम्बन्ध में जैन आचार्यों ने युग की माँग के साथ सामंजस्य स्थापित करके उसे स्वीकृति प्रदान कर दी थी। जिनमन्दिर की बाह्य भित्तियों पर शालभजिकाओं (अप्सराओं) के और व्यालों के उत्कीर्ण होने की सूचना जैनागम राजप्रश्नीय में भी उपलब्ध है।¹ इसका तात्पर्य है कि खजुराहो में उत्कीर्ण अप्सरा मूर्तियाँ जैन आगम सम्मत हैं। आचार्य जिनसेन ने इसके एक शताब्दी पूर्व ही रति और कामदेव की मूर्तियों के अंकन² एवं मन्दिर की बाह्य भित्तियों को आकर्षक बनाने की स्वीकृति दे दी थी। उन्होंने कहा था कि मन्दिर की बाह्य भित्तियों को वेश्या के समान होना चाहिए। जिस प्रकार वेश्या में लोगों को आकर्षित करने की सामर्थ्य होती है, उसी प्रकार मन्दिरों की बाह्य भित्तियों में भी जन-साधारण को अपनी ओर आकर्षित करने की सामर्थ्य होना चाहिये। जन-साधारण को अपनी ओर आकर्षित करने के लिए ऐसे अंकनों की स्वीकृति उनके युगबोध और सामंजस्य की दृष्टि का ही परिणाम था³। यद्यपि यह भी सत्य है कि अश्लील कामुक अंकनों के प्रति जैनों का रुख अनुदार ही रहा है। यही कारण है कि ऐसे कुछ फलकों को नष्ट करने का प्रयत्न भी किया गया है।

जैनाचार्यों की सहिष्णु और समन्वयवादी दृष्टि का दूसरा उदाहरण खजुराहो के जैन मन्दिरों में हिन्दू देवमण्डल के अनेक देवी-देवताओं का अंकन है। इन मन्दिरों में राम, कृष्ण, बलराम, विष्णु तथा सरस्वती, लक्ष्मी, काली, महाकाली, ज्वालामालिनी आदि देवियाँ, अष्ट दिक्पाल, नवग्रह आदि को प्रचुरता से उत्कीर्ण किया गया है। यद्यपि यह ज्ञातव्य है कि इनमें से अनेकों को खजुराहो के मन्दिरों के निर्माण के शताब्दियों पूर्व ही जैन देव मण्डल का अंग बना लिया गया था। राम, लक्ष्मण, कृष्ण, बलराम आदि वासुदेव और बलदेव के रूप में शलाका पुरुष तथा सरस्वती, काली, महाकाली आदि 16 विद्या-देवियों के रूप में अथवा जिनों की यक्षियों के रूप में मान्य हो चुकी थी, इसी प्रकार नवग्रह, अष्टदिक्पाल, इन्द्र आदि भी जैनों के देव मण्डल में प्रतिष्ठित हो चुके थे और इनकी पूजा और उपासना भी होने लगी थी। फिर भी जैनाचार्यों की विशिष्टता यह रही कि उन्होंने वीतराग की श्रेष्ठता और गरिमा को यथावत सुरक्षित रखा और इन्हें जिनशासन के सहायक देवी-देवता के रूप में ही स्वीकार किया।

खजुराहो के मन्दिर एवं मूर्तियों के सम्बन्ध में यदि हम तुलनात्मक दृष्टि से विचार करें तो मेरी जानकारी के अनुसार यहाँ के किसी भी हिन्दू मन्दिर में जिन प्रतिमा का कोई भी अंकन उपलब्ध नहीं होता है, जबकि जैन मन्दिरों में न केवल उन देवी-देवताओं का, जो जैन देवमण्डल के सदस्य मान लिये गये हैं, अपितु इसके अतिरिक्त भी हिन्दू देवी-देवताओं के अंकन हैं -- यह जैनाचार्यों की उदार दृष्टि का परिचायक है। जबकि हिन्दू मन्दिरों में दशावतार के कुछ फलकों में युद्ध के अंकन के अतिरिक्त जैन और बौद्ध देव मण्डल अथवा जिन और बुद्ध के अंकन का अभाव किसी अन्य स्थिति का सूचक है। मैं विद्वानों का ध्यान इस ओर अवश्य आकर्षित करना चाहूँगा कि वे यह देखें कि यह समन्वय या सहिष्णुता की बात खजुराहो के मन्दिर और मूर्तिकला की दृष्टि से एक पक्षीय है या उभयपक्षीय है।

इसी प्रसंग में खजुराहो के हिन्दू मन्दिरों में दिगम्बर जैन श्रमणों का जो अंकन है वह भी पुनर्विचार की अपेक्षा रहता है। डॉ. लक्ष्मीकांत त्रिपाठी ने 'भारती' वर्ष 1959-60 के अंक 3 में अपने लेख "The Erotic Scenes of Khajuraho and their Probable explanation" में इस सम्बन्ध में भी एक प्रश्न उपस्थित किया है। खजुराहो जगदम्बी मन्दिर में एक दिगम्बर जैन श्रमण को दो कामुक स्त्रियों से घिरा हुआ दिखाया गया है। लक्ष्मण मन्दिर के दक्षिण भित्ति में दिगम्बर जैन श्रमण को पशुपाशक मुद्रा में एक स्त्री से सम्भोगरत बताया गया, मात्र यही नहीं उसकी पाद-पीठ पर "श्री साधु नन्दिक्षणक" ऐसा लेख भी उत्कीर्ण है। इसी प्रकार जगदम्बी मन्दिर की दक्षिण भित्ति पर एक क्षणक (दिगम्बर जैन मुनि) को उत्थित-लिंग दिखाया गया है, उसके समक्ष खड़ा हुआ भागवत संन्यासी एक हाथ से उसका लिंग पकड़े हुए है, दूसरा हाथ मारने की मुद्रा में है, जबकि क्षणक हाथ जोड़े हुए खड़ा है। प्रश्न यह है कि इस प्रकार के अन्य अंकों का उद्देश्य क्या था ? डॉ. त्रिपाठी ने इसे जैन श्रमणों की विषय-लम्पटता और समाज में उनके प्रति आक्रोश की भावना माना है। उनके शब्दों में "The Penis erectus of the Kshapanaka is suggestive of his licentious character and lack of control over Senses which appears to have been in the root of all these conflicts and opposition" (Bharti, 1959-60 No. 3, Page 100)

किन्तु मैं यहाँ डॉ. त्रिपाठी के निष्कर्ष से सहमत नहीं हूँ। मेरी दृष्टि में इसका उद्देश्य जैन श्रमणों की समाज में जो प्रतिष्ठा थी उसे नीचे गिराना था। प्रो. त्रिपाठी ने जैन श्रमणों की विषय-लम्पटता के अपने निष्कर्ष की पुष्टि के लिए "प्रबोधचन्द्रोदय" का साक्ष्य भी प्रस्तुत किया जिसमें जैन क्षणक (मुनि) के मुख से यह कहलवाया है --

दूरे चरण प्रणामः कृतसत्कारं भोजनं च मिष्टम् ।

ईर्ष्यामिलं न कार्य ऋषिणां दारान् रमणमाणानाम् ।⁴

अर्थात्, ऋषियों की दूर से चरण वंदना करनी चाहिए, उन्हें सम्मान पूर्वक मिष्ट भोजन करवाना चाहिए और यदि वे स्त्री से रमण भी करें तो भी ईर्ष्या नहीं करनी चाहिए।

प्रो. त्रिपाठी का यह प्रमाण इसलिए लचर हो जाता है कि यह भी विरोधी पक्ष ने ही प्रस्तुत किया है। प्रबोधचन्द्रोदय नाटक का मुख्य उद्देश्य ही जैन-बौद्ध श्रमणों को पतित तथा कापालिक (कौल) मत की ओर आकर्षित होता दिखाना है। वस्तुतः ये समस्त प्रयास जैन श्रमणों की सामाजिक प्रतिष्ठा को ठेस पहुंचाने के निमित्त ही थे। यह सत्य है कि इस युग में जैन श्रमण अपने निवृत्तिमार्गी कठोर संयम और देह तित्तीक्षा के उच्च आदर्श से नीचे उतरे थे। संघ रक्षा के निमित्त वे वनवासी से चैत्यवासी (मठवासी) बने थे। तन्त्र के बढ़ते हुए प्रभाव से जन-साधारण जैनधर्म से विमुख न हों जायें -- इसलिए उन्होंने भी तन्त्र, चिकित्सा एवं ललितकलाओं को अपनी परम्परा के अनुरूप ढाल कर स्वीकार कर लिया था। किन्तु वैयक्तिक अपवादों को छोड़कर, जो हर युग और हर सम्प्रदाय में रहे हैं, उन्होंने वाममार्गी आचार-विधि को कभी मान्यता नहीं दी। जैन श्रमण परम्परा वासनापूर्ति की स्वच्छन्दता के

उस स्तर पर कभी नहीं उतरी, जैसा कि खजुराहो के मन्दिरों में उसे अंकित किया गया है। वस्तुतः इस प्रकार के अंकनों का कारण जैन श्रमणों का चारित्रिक पतन नहीं है, अपितु धार्मिक विद्वेष और असहिष्णुता की भावना है। स्वयं प्रो. त्रिपाठी इस तथ्य को स्वीकार करते हुए लिखते हैं --

The existence of these temples of different faiths at one site has generally, upto now, been taken indicative of an atmosphere of religious toleration and amity enabling peaceful co-existence. This long established notion in the light of proposed interpretation of erotic scenes requires modification. There are even certain sculptures on the temples of khajuraho, which clearly reveal the existence of religious rivalry and conflict at the time (Ibid, p. 99-100)

किन्तु विचारणीय प्रश्न यह है कि क्या इस प्रकार के विद्वेष पूर्ण अंकन जैन मन्दिरों में हिन्दू संन्यासियों के प्रति भी हैं ? जहाँ तक मेरा ज्ञान है खजुराहो के जैन मन्दिरों में एक अपवाद को छोड़कर प्रायः ऐसे अंकनों का अभाव है और यदि ऐसा है तो वह जैनाचार्यों की उदार और सहिष्णु दृष्टि का ही परिचायक है। यद्यपि यह सत्य है कि इसी युग के कतिपय जैनाचार्यों ने धर्म-परीक्षा जैसे ग्रन्थों के माध्यम से सपत्नीक सराग देवों पर व्यंग्य प्रस्तुत किये हैं और देव मूढ़ता, गुरु मूढ़ता और धर्म मूढ़ता के रूप में हिन्दू परम्परा में प्रचलित अन्धविश्वासों की समीक्षा भी की है,⁵ किन्तु, इसके बावजूद खजुराहो के जैन मन्दिरों में हिन्दू देवमण्डल के अनेक देवों का सपत्नीक अंकन क्या जैनाचार्यों की उदार भावना का परिचायक नहीं माना जा सकता ?

वस्तुतः सामान्यतया जैन श्रमण न तो आचार में इतने पतित थे, जैसा कि उन्हें अंकित किया गया है और न वे असहिष्णु ही थे। यदि वे चारित्रिक दृष्टि से इतने पतित होते तो फिर वासवचन्द्र महाराज धंग की दृष्टि में सम्मानित कैसे होते ? खजुराहो के अभिलेख उनके जन-समाज पर व्यापक प्रभाव को सूचित करते हैं। कोई भी विषय लम्पट श्रमण जन-साधारण की श्रद्धा का केन्द्र नहीं बन सकता है। यदि जैन श्रमण भी विषय-लम्पटता में वज्रयानी बौद्ध श्रमणों एवं कापालिकों का अनुसरण करते तो कालान्तर में नाम शेष हो जाते। जैन श्रमणों पर समाज का पूरा नियन्त्रण रहता था और दुश्चरित्र श्रमणों को संघ से बहिष्कृत करने का विधान था, जो वर्तमान में भी यथावत् है। खजुराहो के जगदम्बी आदि मन्दिरों में जैन श्रमणों का जो चित्रण है वह मात्र ईर्ष्याविश उनके चरित्र-हनन का प्रयास था। यद्यपि हमें यह भी स्मरण रखना चाहिए कि ये अंकन सामान्य हिन्दू परम्परा के जैनों के प्रति अनुदार दृष्टिकोण के परिचायक नहीं हैं। क्योंकि सामान्य हिन्दू समाज जैनों के प्रति सदैव ही उदार और सहिष्णु रहा है। यदि सामान्य हिन्दू समाज जैनों के प्रति अनुदार होता तो उनका अस्तित्व समाप्त हो गया होता। यह अनुदार दृष्टि केवल कौलों और कापालिकों की ही थी, क्योंकि इनके लिये जैन श्रमणों की चरित्रनिष्ठा ईर्ष्या का विषय थी। ऐतिहासिक आधारों पर भी कौलों और कापालिकों के

असहिष्णु और अनुदार होने के अनेक प्रमाण हमें उपलब्ध होते हैं। इन दोनों परम्पराओं का प्रभाव खजुराहो की कला पर देखा जाता है। जैन श्रमणों के सन्दर्भ में ये अंकन इसी प्रभाव के परिचायक हैं। सामान्य हिन्दू परम्परा और जैन परम्परा में सम्बन्ध मधुर और सौहार्दपूर्ण ही थे।

पुनः जगदम्बी मन्दिर के उस फलक की, जिसमें क्षपणक अपने विरोधी के आक्रोश की स्थिति में भी हाथ जोड़े हुए हैं, व्याख्या जैन श्रमण की सहनशीलता और सहिष्णुता के रूप में भी की जा सकती है। अनेकांत और अहिंसा के परिवेश में फले जैन श्रमणों के लिए समन्वयशीलता और सहिष्णुता के संस्कार स्वाभाविक हैं और इनका प्रभाव खजुराहो के जैन मन्दिरों की कला पर स्पष्ट रूप देखा जाता है।

सन्दर्भ

1. दारचेडीओ य सालभजियाओ य बालरूवए य लोमहत्येणं पमज्जइ
- राजप्रश्नीय (मधुकरमुनि), 200
2. हरिवंशपुराण, 29/2-5
3. (अ) आदिपुराण, 6/181
(ब) खजुराहो के जैन मन्दिरों की मूर्तिकला, रत्नेश वर्मा, पृ. 56 से 62
4. प्रबोधचन्द्रोदय, अंक 3/6
5. (अ) पुरुषार्थसिद्धयुपाय, 26
(ब) धूर्ताख्यान, हरिभद्र
(स) यशस्तिलकचम्पू (हन्डिकी), पृ. 249-253

महापण्डित राहुल सांकृत्यायन के जैनधर्म सम्बन्धी मन्तव्यों की समालोचना

- प्रो. सागरमल जैन

महापण्डित राहुल सांकृत्यायन भारतीय वाङ्मय के विश्रुत विद्वान् थे। हिन्दी साहित्य की विविध-विधाओं में भारतीय वाङ्मय को उनका अवदान अविस्मरणीय है। दर्शन के क्षेत्र में राहुलजी ने जितना अधिक पाश्चात्य दर्शनों, विशेष रूप से द्वन्द्वत्मक भौतिकवाद एवं बौद्धदर्शन के सम्बन्ध में लिखा, उसकी अपेक्षा जैनदर्शन के क्षेत्र में उनका लेखन बहुत ही अल्प है। उनके ग्रन्थ "दर्शन-दिग्दर्शन" में वर्धमान महावीर और अनेकान्तवादी जैन दर्शन के सम्बन्ध में जो कुछ लिखा है, उसे अथवा बौद्धग्रन्थों में आने वाली जैनधर्म-दर्शन सम्बन्धी समीक्षाओं के हिन्दी अनुवाद को छोड़कर उन्होंने जैनदर्शन के क्षेत्र में कुछ लिखा हो, ऐसा मुझे ज्ञात नहीं। अतः यहाँ जैनदर्शन के क्षेत्र में उनके विचारों की समीक्षा इन्हीं ग्रन्थांशों के आधार पर की गई है।

उन्होंने अपने ग्रन्थ "दर्शन-दिग्दर्शन" में जैन परम्परा का उल्लेख विशेषरूप से दो स्थलों पर किया है -- एक तो बुद्ध के समकालीन छः तीर्थकरों के सन्दर्भ में और दूसरा जैनदर्शन के स्वतन्त्र प्रतिपादन के क्षेत्र में। बौद्धग्रन्थों में वर्णित छः तीर्थकरों में वर्द्धमान महावीर का उल्लेख उन्होंने सर्वज्ञतावादी के रूप में किया है, किन्तु उन्होंने यह समग्र विवरण बौद्धग्रन्थों के आधार पर ही प्रस्तुत किया है। बुद्ध के समकालीन छः तीर्थकरों और विशेष रूप से वर्द्धमान महावीर के सन्दर्भ में यदि वे बौद्धेतर स्रोतों को भी आधार बनाते तो उनके साथ अधिक न्याय कर सकते थे। क्योंकि बौद्धग्रन्थों में महावीर का जो चित्रण निर्ग्रन्थ ज्ञातृपुत्र (नाटपुत्र) के रूप में है उसमें सत्यांश तो है, किन्तु वह एक आलोचक दृष्टि से ही लिखा गया है, अतः उनके व्यक्तित्व को सम्यक् रूप में प्रस्तुत नहीं करता है। महावीर के सम्बन्ध में दीघनिकाय के आधार पर वे लिखते हैं --

"महावीर की मुख्य शिक्षा को बौद्धत्रिपिटक में इस प्रकार उद्धृत किया गया है -- निर्ग्रन्थ (जैन साधु) चार संवरों (संयमों) से संवृत रहता है। 1. निर्ग्रन्थ जल के व्यवहार का वारण करता है, (जिससे जल के जीव न मारे जावें), 2. सभी पापों का वारण करता है, 3. सभी पापों के वारण करने से वह पाप रहित (धूतपाप) होता है, 4. सभी पापों का वारण में लगा रहता है। ... चूँकि निर्ग्रन्थ इन चार प्रकार के संवरों से संवृत रहता है इसलिए वह -- गतात्मा (अनिच्छुक), यतात्मा (संयमी) और स्थितात्मा कहलाता है।" [दर्शनदिग्दर्शन, पृ. 495]

इस विवरण में महावीर की शिक्षाओं को चार्तुयाम संवर के रूप में प्रस्तुत करते हुए, उन्होंने जिस चार्तुयाम संवर का उल्लेख किया है, वस्तुतः वह चार्तुयाम संवर का मार्ग महावीर का नहीं, पार्श्व का है। परवर्तीकाल में जब पार्श्व की निर्ग्रन्थ परम्परा महावीर की परम्परा में

सम्मिलित हो गयी, तो त्रिपिटक संकलनकर्त्ताओं ने दोनों धाराओं को एक मानकर पार्श्व के विचारों को भी महावीर के नाम से ही प्रस्तुत किया। त्रिपिटक के संकलन कर्त्ताओं की इस भ्रान्ति का अनुसरण राहुलजी ने भी किया और अपनी ओर से तिप्पणी के रूप में भी इस भूल के परिमार्जन का कोई प्रयत्न नहीं किया। जबकि उनके सहकर्मी बौद्धभिक्षु जगदीश काश्यपजी ने इस भूल के परिमार्जन का प्रयत्न दीघनिकाय की भूमिका में विस्तार से किया है, वे लिखते हैं -- "सामञ्जसफलसुत्त" में वर्णित छः तैर्थिकों के मतों के अनुसार, अपने-अपने साम्प्रदायिक जगदनों के केन्द्र अवश्य रहे होंगे। इनके अवशेष खोजने के लिए देश के वर्तमान धार्मिक-जीवन में खोज करना सार्थक होगा। कम से कम "निगण्ठ-नातपुत्त" से हमलोग निश्चित रूप से परिचित हैं। वे जैनधर्म के अन्तिम तीर्थंकर भगवान महावीर ही हैं। पालि-संस्करण में वे ही "चातुर्योम संवर" सिद्धान्त के प्रवर्तक कहे जाते हैं। सम्भवतः ऐसा भूल से हो गया है। वास्तव में "चातुर्याम-धर्म" के प्रवर्तक उनके पूर्ववर्ती तीर्थंकर पार्श्वनाथ थे -- स्व्वातो पाणातिवायाओ वेरमणं एवं मुसावायाओ वेरमणं, स्व्वातो अदिन्नादाणाओ वेरमणं, स्व्वातो बहिद्दादाणाओ वेरमणं (ठाणांग (ठाण 4), पृ. 201, सूत्र 266)।

उपर्युक्त वर्णित "चातुर्योम संवर" सिद्धान्त में परिग्रहवेरमण" नामक एक और व्रत जोड़कर पार्श्वनाथ के परवर्ती तीर्थंकर महावीर ने "पंचमहाव्रत-धर्म" का प्रवर्तन किया। [ज्ञातव्य है कि यहाँ काश्यपजी से भी भूल हो गयी है वस्तुतः महावीर ने परिग्रह विरमण नहीं, मैथुनविरमण या ब्रह्मचर्य का महाव्रत जोड़ा था। "बहिद्दादाण" का अर्थ तो परिग्रह है ही। पार्श्व स्त्री को भी परिग्रह ही मानते थे।]

यह भी विशेष रूप से ध्यान देने योग्य है कि जिस रूप में पालि में "चातुर्यामसंवर" सिद्धान्त का उल्लेख मिलता है, वैसा जैन साहित्य में कहीं भी उपलब्ध नहीं होता। पालि में यह इस प्रकार वर्णित है -- "सब्बवारिवारिता च होति, सब्बवारियुत्तो च, सब्बवारिधुतो च, सब्बवारिफुटो" और इसका अर्थ भी स्पष्ट ज्ञात नहीं होता। इसे देखकर यह ज्ञात होता है कि सम्भवतः यह तोड़-मरोड़ के ही कारण है। [दीघनिकाय-नालंदासंस्करण, प्रथमभाग की भूमिका, पृ. १३-१४]। अतः राहुलजी ने चार संवरों का उल्लेख जिस रूप में किया है, वह और दीघनिकाय के इस अंश का जो हिन्दी अनुवाद राहुल जी ने किया है वह भी, निर्दोष नहीं है। दीघनिकाय का वह मूलपाठ, उसकी अट्टकथा और अनुवाद इस प्रकार है -- "एवं वुत्ते, भन्ते, निगण्ठो नातपुत्तो मं एतदवोच - इध महाराज, निगण्ठो चातुर्यामसंवरसंवुतो होति ? महाराज निगण्ठो कथं च महाराज निगण्ठो चातुर्याम संवरोसंवुतो होति ? इध सब्बवारिवारितो च होति, सब्बवारियुत्तो च, सब्बवारिधुतो च, सब्बवारिफुटो च एवं खो, महाराज, निगण्ठो चातुर्यामसंवरसंवुतो होति -- अयं वुच्चाति, महाराज निगण्ठो गतत्तो च यतत्तो च ठितत्तो चा ति।" (दीघनिकाय २/५/२८) नाटपुत्तपादे चातुर्यामसंवरसंवुतो हि चतुकोट्ठासेन संवरेन संवुतो। सब्बवारितो चाति वारितसब्बउदको पटिक्खित्तसब्बसीतोदको ति अत्थो। सो किर सीतोदके सत्तसञ्ज होति, तस्मा न तं वल्लजेति। सब्बवारियुत्तो ति सब्बेन पापवारणेन युत्तो। सब्बवारिधुतो ति सब्बेन पापवारणेन धुत्तापो। सब्बवारिफुटो ति सब्बेन पापवारणेन फुट्ठो।

गतत्तो ति कोटिप्पत्तचित्तो। यतत्तो ति संयतचित्तो। ठितत्तो (दी.नि., 1.50) ति सुप्पतिट्ठितचित्तो। एतस्स वादे किंचि सासनानुलोमं पि अत्थि, असुद्धलद्धितायन सब्बा दिट्ठयेव जाता। -- सुमंगल विलासिनी अट्टकथा (पृ. १८६) ऐसा कहने पर भन्ते। निगण्ठनाथपुत्त ने यह उत्तर दिया -- महाराज ! निगण्ठ चार संवरों से संवृत रहता है। महाराज ! निगण्ठ चार संवरों से कैसे संवृत रहता है ? महाराज ! 1. निगण्ठ जल के व्यवहार का वारण करता है (जिसमें जल के जीव न मारे जावें), 2. सभी पापों का वारण करता है, 3. सभी पापों के वारण करने से धूतपाप होता है, 4. सभी पापों के वारण करने में लगा रहता है। महाराज निगण्ठ इस प्रकार चार संवरों से संवृत रहता है। महाराज निगण्ठ इन चार प्रकार के संवरों से संवृत रहता है, इसीलिए वह निर्ग्रन्थ, गतात्मा, यतात्मा और स्थितात्मा कहलाता है।"

वस्तुतः यहाँ राहुल जी जिन्हें चातुर्याम संवर कह रहे हैं, वे चातुर्याम संवर हैं होकर निर्ग्रन्थ साधक चातुर्याम संवर का पालन किस प्रकार करता है उसके सम्बन्ध में उल्लेख है मेरी दृष्टि में यहाँ "कथं" का अर्थ कौन से न होकर किस प्रकार है चातुर्याम के रूप में जैनगणों में जिनका विवरण प्रस्तुत किया गया है वे निम्न हैं --

1. प्राणातिपात विरमण
2. मृषावाद विरमण
3. अदत्तादान विरमण
4. बहिर्दादान विरमण (परिग्रह त्याग)

जैन आगम स्थानांग, समवायांग आदि में चातुर्याम संवर का उल्लेख इसी रूप में मिलता है।

दीघनिकाय के इस अंश का जो अर्थ राहुलजी ने किया है वह भी त्रुटिपूर्ण है। प्रथमतः यहाँ वारि शब्द का अर्थ जल न होकर वारण करने योग्य अर्थात् पाप है। सूत्रकृतांग में वीरस्तुति में महावीर को "वारिय सव्ववारं" (सूत्रकृतांग, 1/6/28) कहा गया है। यहाँ "वार" शब्द "पाप" के अर्थ में ही है, जल के अर्थ में नहीं है। पुनः जैन मुनि मात्र सचित्तजल (जीवनयुक्त जल) के उपयोग का त्याग करता है, सर्वजल का नहीं। अतः सुमंगलविलासिनी अट्टकथाकार एवं राहुलजी द्वारा यहाँ वारि या जल अर्थ करना अयुक्तिसंगत है। क्योंकि एक वाक्यांश में "वारि" का अर्थ जल करना और दूसरे में उसी "वारि" शब्द का अर्थ "पाप" करना समीचीन नहीं है। चूँकि निर्ग्रन्थ सचित्त (जीवन-युक्त) जल के त्यागी होते थे, स्नान नहीं करते वस्त्र नहीं धोते थे। अतः इन्हीं बातों को आधार मानकर यहाँ "सव्ववारिवारितो" का अर्थ जल का त्याग करते हैं, यह मान लिया गया, किन्तु स्वयं सुमंगल विलासिनी टीका या अट्टकथा में भी स्पष्ट उल्लेख है कि निर्ग्रन्थ मात्र सचित्त जल का त्यागी होता है, सर्वजल का नहीं, अतः वारि का अर्थ जल करना उचित नहीं है। दीघनिकाय की अट्टकथा में "वारि" का जो भ्रान्त अर्थ जल किया गया था, राहुलजी का यह अनुवाद भी उसी पर आधारित है। अतः इस भ्रान्त अर्थ

करने के लिये राहुलजी उतने दोषी नहीं हैं, जितने सुमंगलविलासिनी के कर्त्ता। सम्भवतः निर्गन्थों ने जलीय जीवों की हिंसा से बचने के लिये जल के उपयोग पर जो प्रतिबन्ध लगाये गये थे, उसी से अर्थ और टीका में यह भ्रान्ति हुई है। आगे इसी क्रम में उन्होंने स्वयं "वारि" का अर्थ "पाप" करके सब्बारियुत्तो का अर्थ वह सब पापों का वारण करता है, किया है। किन्तु यह अर्थ मूलपाठ के अनुरूप नहीं है, क्योंकि यहाँ वारि का अर्थ पाप करके भी युत्तो का अर्थ वारण करना -- किया गया है, वह समुचित नहीं है, क्योंकि पालीकोशों के अनुसार युत्तो शब्द का अर्थ किसी भी स्थिति में "वारण" नहीं हो सकता है। कोश के अनुसार तो इस युत्त का अर्थ लिप्त होता है, अतः इस वाक्यांश का अर्थ होगा -- वह सर्व पापों से युक्त या लिप्त होता है -- जो निश्चय ही इस प्रसंग में गलत है। मेरी दृष्टि में यहाँ मूलपाठ में भ्रान्ति है -- सम्भवतः मूलपाठ "युत्तो" न होकर "यतो" होना चाहिए। क्योंकि मूलपाठ में आगे निर्गन्थ के लिये "यतो" विशेषण का प्रयोग हुआ है, जो "यतो" पाठ की पुष्टि करता है। यदि हम मूलपाठ "युत्तो" ही मानते हैं उसे "अयुत्तो" मानकर वारि+अयुत्तो की संधि प्रक्रिया में "अ" का लोप मानना होगा। प्राकृत व्याकरण और सम्भवतः पालि व्याकरण में भी स्वर-सन्धि के नियमों में दो स्वरों की सन्धि में विकल्प से एक स्वर का लोप माना जाता है। अतः मूल पाठ "अयुत्तो" होना चाहिये, किन्तु सुमंगलविलासिनी में ऐसा कोई निर्देश नहीं है। (पठमोभागो, पृ.189), अपितु उसमें संधि तोड़कर "युत्तो" पाठ ही है। किन्तु यतो पाठ मानने पर इस अंश का अर्थ होगा, वह सब पापों के प्रति संयमवान या उनका नियंत्रण करने वाला होता है। अतः राहुल जी का यह अनुवाद भी मेरी दृष्टि में मूलपाठ से संगतिपूर्ण नहीं है, फिर भी उन्होंने वह सर्वपापों का वारण करता है, ऐसा जो अर्थ किया है, वह सत्य के निकट है। मूलपाठ भ्रान्त और टीका के अस्पष्ट होते हुए भी, उन्होंने यह अर्थ किस आधार पर किया मैं नहीं जानता, सम्भवतः यह उनकी स्वप्रतिभा से ही प्रसूत हुआ होगा। फिर भी पालि के विद्वानों को इस समस्या पर विचार करना चाहिए। इसके आगे सब्बारिधुतो का अर्थ -- वह सभी पापों से रहित होता है-- संगतिपूर्ण है। किन्तु आगे सब्बारिफुटो का अर्थ -- वह सभी पापों से रहित होता है -- संगतिपूर्ण है। किन्तु आगे सब्बारिफुटो का अर्थ पुनः मूल से संगति नहीं रखता है। राहुलजी ने इसका अर्थ वह सभी पापों के वारण में लगा रहता है -- किस प्रकार किया मैं नहीं समझ पा रहा हूँ। क्योंकि किसी भी स्थिति में "फुटो" का अर्थ-वारण करने में लगा रहता है, नहीं होता है। पालि के विद्वान इस पर भी विचार करें। मूल के फुटो अथवा सुमंगलविलासिनी टीका के फुटो का संस्कृत रूप स्पृष्ट या स्पष्ट होगा। इस आधार पर इसका अर्थ होगा वह सब पापों से स्पृष्ट अर्थात् स्पर्शित या व्याप्त होता है, किन्तु यह अर्थ भी संगतिपूर्ण नहीं लगता है-- निर्गन्थ ज्ञातपुत्र स्वयं अपने निर्गन्थों को सब पापों से स्पर्शित तो नहीं कह सकते हैं। यहाँ भी राहुल जी ने अर्थ को संगतिपूर्ण बनाने का प्रयास तो किया, किन्तु वह मूलपाठ के साथ संगति नहीं रखता है। पालि अंग्रेजी कोश में राइसडेविड्स ने भी इन दोनों शब्दों के अर्थ निश्चय में कठिनाई का अनुभव किया है। मेरी दृष्टि में यहाँ भी या तो मूलपाठ में कोई भ्रान्ति है या पालि व्याकरण के स्वर संधि के नियम से "अफुटो" के "अ" का लोप हो गया है। मेरी दृष्टि में मूलपाठ होना चाहिए -- सब्बारिअफुटो, तभी इसका अर्थ होगा वह सर्व पापों से अस्पृशित

होता है। यहाँ भी राहुलजी अर्थ की संगति बैठाने का जो प्रयास किया है वह उचित तो है। किन्तु मूल पाठ एवं अट्टकथा (टीका) के सम्बन्ध में उनकी ओर कोई टिप्पणी नहीं होना पाठक के लिये एक समस्या बन जाती है। मेरी दृष्टि में दीघनिकाय के उस समग्र अंश का पाठ शुद्धि के पश्चात् वास्तविक अर्थ इस प्रकार होना चाहिये -- "हे महाराज, निर्गन्थ चातुर्याम संवर से संवृत होता है, वह चातुर्याम संवर से किस प्रकार संवृत होता है ? हे महाराज ! निर्गन्थ सब पापों का वारण करता है। वह सर्वपापों के प्रति संयत या उनका नियन्त्रण करने वाला होता है। वह सभी पापों से रहित (धृत) और सभी पापों से अस्पर्शित होता है।

इसी प्रसंग में आदरणीय सहलुलजी ने महावीर को सर्वज्ञातावादी कहा है (दर्शन-दिग्दर्शन, पृ. 494) यह सत्य है कि महावीर को प्राचीनकाल से ही "सर्वज्ञ" कहा जाता था। सूत्रकृतांग के वीरस्तुति नामक छठे अध्याय में उन्हें सर्वप्रथम सर्वज्ञ (सर्वन्तु) कहा गया है -- किन्तु प्राचीनकाल में जैन परम्परा सर्वज्ञ का अर्थ आत्मज्ञ ही होता था। आचारांग के -- जे एणं जाणइ ते सव्वं जाणइ" एवं भगवती के "केवलि सिय जाणइ सिय ण जाणइ" -- पाठ से तथा कुन्दकुन्द के इस कथन से "केवलि निश्चय नय से केवल आत्मा को जानता है" -- इसी तथ्य की पुष्टि होती है। सर्वज्ञ का यह अर्थ है कि वह सर्वद्वयों एवं पर्यायों का त्रिकाल ज्ञाता होता है, परवर्तीकाल में निर्धारित हुआ; आगे चलकर सर्वज्ञ का यही अर्थ रूढ़ हो गया और सर्वज्ञ के इसी व्युत्पत्तिपरक अर्थ को मानकर बौद्ध त्रिपिटक में उनकी सर्वज्ञता की निन्दा भी की गई। "सर्वज्ञ" या "केवलि" शब्द के प्राचीन पारिभाषिक एवं लाक्षणिक अर्थ के स्थान पर इस व्युत्पत्तिमूलक अर्थ पर बल देने से ही यह भ्रान्ति उत्पन्न हुई है। किन्तु यह दुर्भाग्यपूर्ण घटना बुद्ध और महावीर दोनों के साथ घटित हुई, जो बुद्ध सर्वज्ञतावाद के आलोचक रहे, उन्हें भी परवर्ती बौद्ध साहित्य में उसी अर्थ में सर्वज्ञ मान लिया गया है, जिस अर्थ में परवर्ती जैन परम्परा में तीर्थंकरों को और न्याय परम्परा में ईश्वर को सर्वज्ञ कहा गया है। वास्तविक रूप में प्राचीनकाल में महावीर को उस अर्थ में सर्वज्ञ नहीं कहा जाता था, जिस अर्थ में पालित्रिपिटक व परवर्ती जैन साहित्य में उन्हें सर्वज्ञ कहा गया है। दुर्भाग्य से राहुल जी ने भी सर्वज्ञ का यही परवर्ती अर्थ ले लिया है। जबकि सर्वज्ञ का प्राचीन अर्थ तो जैन परम्परा में आत्मज्ञ और बौद्ध परम्परा में हेय, ज्ञेय और उपादेय का ज्ञाता ही रहा है।

राहुल जी का यह कथन भी किसी सीमा तक सत्य है कि जैनधर्म में प्रारम्भ से ही शारीरिक कार्यों को प्रधानता पर शारीरिक तपस्या पर बल दिया गया है (दर्शन-दिग्दर्शन, पृ. 495-496)। किन्तु उनकी इस धारणा का आधार भी बौद्धत्रिपिटक साहित्य में महावीर के जीवन और दर्शन का जिस रूप में प्रस्तुतिकरण हुआ है वही है -- यहाँ भी उन्होंने जैन आगमों को देखने का प्रयास नहीं किया है। वास्तविकता तो यह है कि जैनदर्शन भी बौद्धों के समान ही मानसकर्म को ही प्रधान मानता है, फिर भी इतना अवश्य सत्य है कि वह कायिककर्म या कायिकसाधना को मानसिककर्म की अनिवार्य फलश्रुति मानता है वह कहता है कि जो विचार में होता है वही आचार में होता है। विचार (मानसकर्म) और आचार (कायिककर्म) का द्वैत उसे मान्य नहीं है। विचार से कुछ और आचार में कुछ, इसे जैनधर्म आत्म प्रवच्यना मानता है, मन

से सत्य को समझते हुए अन्यथा रूप में आचरण करना पाप है। मन में अहिंसा और कर्मणा तथा व्यवहार में क्रूरता या हिंसा यह छलना ही है।

राहुलजी की यह टिप्पणी भी सत्य है कि महावीर ने स्वयं अपने जीवन में और जैनसाधना में शारीरिक तपों को आवश्यक माना है। किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि महावीर मात्र देह-दण्डन या आत्म-पीड़न के समर्थक थे। उन्होंने उत्तराध्ययन में तप के बाह्य और आभ्यान्तर ऐसे दो पक्ष माने थे और दोनों पर ही समान बल दिया था। स्वाध्याय, सेवा और ध्यान भी उनकी दृष्टि में तप के ही महत्त्वपूर्ण अंग हैं। अतः राहुलजी का महावीर को मात्र शारीरिक पक्ष पर बल देने वाला और आभ्यान्तर पक्ष की अवहेलना कर लेने वाला, मानना-समुचित नहीं है।

अनेकान्तवादी जैनदर्शन के सम्बन्ध में उनकी यह टिप्पणी है कि अनेकान्त और स्याद्वाद का विकास संजय वेलट्टीपुत्त के विक्षेपवाद से हुआ, भी पूर्णतः सत्य नहीं है (दर्शन-दिग्दर्शन, पृ. 595)। वस्तुतः संजय के विक्षेपवाद का बौद्धों के विभज्यवाद एवं शून्यवाद का और जैनों के अनेकान्तवाद और स्याद्वाद का विकास औपनिषदिक चतुष्कोटियों और विभज्यवादी दृष्टिकोण से हुआ है।

दर्शन-दिग्दर्शन (पृ. ५६७) में एक स्थल पर उन्होंने जैनधर्म के जिन पाँच तत्त्वों का उल्लेख किया वह भी भ्रान्त है -- उन्होंने जिन पाँच तत्त्वों का उल्लेख किया है वे हैं -- जीव, अजीव, धर्म, आकाश और पुद्गल। इसमें अजीव को निरर्थक रूप में जोड़ा है और "अधर्म" को छोड़ दिया है, धर्म, अधर्म, आकाश और पुद्गल सभी अजीव ही माने गये हैं।

जैनधर्म के सम्बन्ध में राहुलजी की यह टिप्पणी कि उनकी पृथ्वी, जल आदि के जीवों की अहिंसा के विचार ने जैनधर्म की अनुयायियों को कृषि के विमुख कर वणिक बना दिया। वे उत्पादक श्रम से हटकर परोपजीवी हो गये। उनका यह मन्तव्य भी किसी सीमा तक उचित तो है -- किन्तु पूर्णतः सत्य नहीं है। आज भी बुन्देलखण्ड, मेवाड़, महाराष्ट्र और कर्नाटक में जैनजातियाँ कृषि पर आधारित हैं और उन्हें कृषिकर्म करते हुए देखा जा सकता है। प्राचीन आगम भगवतीसूत्र से इस प्रश्न पर कि कृषिकर्म में कृमि आदि की हिंसा की जो घटना घटित हो जाती है, उसके लिये गृहस्थ उत्तरदायी है या नहीं, गंभीर रूप से विचार हुआ है। उसमें यह माना गया है कि कोई भी गृहस्थ की जाने वाली हिंसा का उत्तरदायी होता है, हो जाने वाली हिंसा का नहीं। कृषि करते हुए जो प्राणीहिंसा हो जाती है, उसके लिये गृहस्थ उत्तरदायी नहीं है। इसी प्रकार जैनों का अहिंसा का सिद्धान्त व्यक्ति को कायर या भगोड़ा नहीं बनाता है। वह गृहस्थ के लिये अक्रामक हिंसा का निषेध करता है, सुरक्षात्मक हिंसा (विरोधी-हिंसा) का नहीं। इस प्रकार हम देखते हैं कि जैनधर्म के सम्बन्ध में राहुलजी के मन्तव्य आंशिक सत्य होकर भी अपूर्ण या एकांगी है। क्योंकि उन्होंने इस सम्बन्ध में जैन श्रौतों की खोज-बीन का प्रयत्न नहीं किया है।

ऋग्वेद में अर्हत और ऋषभवाची ऋचायें : एक अध्ययन

- प्रो. सागरमल जैन

भारतीय संस्कृति श्रमण और ब्राह्मण संस्कृतियों का समन्वित रूप है। जहाँ श्रमण संस्कृति तप-त्याग एवं ध्यान साधना प्रधान रही है, वहाँ ब्राह्मण संस्कृति यज्ञ-याग मूलक एवं कर्मकाण्डात्मक रही है। हम श्रमण संस्कृति को आध्यात्मिक एवं निवृत्तिपरक अर्थात् संन्यासमूलक भी कह सकते हैं, जबकि ब्राह्मण संस्कृति को सामाजिक एवं प्रवृत्तिमूलक कहा जा सकता है। इन दोनों संस्कृतियों के मूल आधार तो मानव-प्रकृति में निहित वासना और विवेक अथवा भोग और योग (संयम) के तत्त्व ही हैं, जिनकी स्वतन्त्र चर्चा हमने अपने ग्रन्थ 'जैन, बौद्ध एवं गीता का साधना मार्ग' की भूमिका में की है^१। यहाँ पर इन दोनों संस्कृतियों के विकास के मूल उपादानों एवं उनके क्रम तथा वैशिष्ट्य की चर्चा में न जाकर उनके ऐतिहासिक अस्तित्व को ही अपनी विवेचना का मूल आधार बनायेंगे।

भारतीय संस्कृति के इतिहास को जानने के लिये प्राचीनतम साहित्यिक स्रोत के रूप में वेद और प्राचीनतम पुरातात्विक स्रोत के रूप में मोहनजोदड़ो एवं हरप्पा के अवशेष ही हमारे आधार हैं। संयोग से इन दोनों ही आधारों या साक्ष्यों से भारतीय श्रमण धारा के अति प्राचीन काल में भी उपस्थित होने के संकेत मिलते हैं। ऋग्वेद भारतीय साहित्य का प्राचीनतम ग्रन्थ है। यद्यपि इसकी अति प्राचीनता के अनेक दावे किये जाते हैं और मीमांसक दर्शनधारा के विद्वान तो इसे अनादि और अपौरुषेय भी मानते हैं फिर भी इतना निश्चित है कि ईस्वी पूर्व 1500 वर्ष पहले यह अपने वर्तमान स्वरूप में अस्तित्व में आ चुका था। इस प्राचीनतम ग्रन्थ में हमें श्रमण संस्कृति के अस्तित्व के संकेत उपलब्ध होते हैं। वैदिक साहित्य में भारतीय संस्कृति की इन श्रमण और ब्राह्मण धाराओं का निर्देश क्रमशः आर्हत और बार्हत धाराओं के रूप में मिलता है। साथ ही मोहनजोदड़ो के उत्खनन से प्राप्त वृषभ युक्त ध्यान मुद्रा में योगियों की सीले इस तथ्य का स्पष्ट प्रमाण है कि ऋग्वेद के रचनाकाल के पूर्व भी भारत में श्रमण धारा का न केवल अस्तित्व था, अपितु वही एक मात्र प्रमुख धारा थी। क्योंकि मोहनजोदड़ो और हरप्पा के उत्खनन में कहीं भी यज्ञवेदी उपलब्ध नहीं हुई है इससे यही सिद्ध होता है कि भारत में तप एवं ध्यान प्रधान आर्हत परम्परा का अस्तित्व अति प्राचीन काल से ही रहा है।

यदि हम जैन धर्म के प्राचीन नामों के सन्दर्भ में विचार करें तो यह सुस्पष्ट है कि प्राचीन काल में यह आर्हत धर्म के नाम से ही प्रसिद्ध रहा है। वास्तविकता तो यह है कि जैन धर्म का पूर्व रूप आर्हत धर्म था। ज्ञातव्य है कि जैन-शब्द महावीर के निर्वाण के लगभग 1000 वर्ष

- ऋषभदेव प्रतिष्ठान देहली द्वारा आयोजित १४ से १६ मार्च १९६३ की संगोष्ठी में पठित आलेख

पश्चात् ही कभी अस्तित्व में आया है। सातवीं शती से पूर्व हमें कहीं भी जैन शब्द का उल्लेख नहीं मिलता है। यद्यपि इसकी अपेक्षा 'जिन' व 'जिन-धम्म' के उल्लेख प्राचीन हैं। किन्तु अर्हत, श्रमण, जिन आदि शब्द बौद्धों एवं अन्य श्रमण धाराओं में भी सामान्यरूप से प्रचलित रहे हैं। अतः जैन परम्परा की उनसे पृथक्ता की दृष्टि से पार्श्व के काल में यह धर्म निर्गन्धधर्म के नाम से जाना जाता था। जैन आगमों से यह ज्ञात होता है कि ई.पू. पाचवीं शती में श्रमण धारा मुख्य रूप से 5 भागों में विभक्त थीं -- 1. निर्गन्ध, 2. शाक्य, 3. तापस 4. गैरुक और 5. आजीवक²। वस्तुतः जब श्रमण धारा विभिन्न वर्गों में विभाजित होने लगी तो जैन धारा के लिए पहले 'निर्गन्ध' और बाद में 'ज्ञातपुत्रीय श्रमण' शब्द का प्रयोग होने लगा। न केवल पाली त्रिपिटक एवं जैन आगमों में अपितु अशोक (ई.पू. -3 शती) के शिलालेखों में भी जैनधर्म का उल्लेख निर्गन्ध धर्म के रूप में ही मिलता है³।

वस्तुतः पार्श्वनाथ एवं महावीर के युग में प्रचलित धर्म से पूर्व सम्पूर्ण श्रमण धारा आर्हत परम्परा के रूप में ही उल्लेखित होती थी और इसमें न केवल जैन, बौद्ध, आजीवक आदि परम्परायें सम्मिलित थीं, अपितु औपनिषदिक-ऋषि परम्परा और सांख्य-योग की दर्शनधारा एवं साधना-परम्परा भी इसी में समाहित थी। यह अलग बात है कि औपनिषदिक धारा एवं सांख्य-योग परम्परा के बृहद् हिन्दूधर्म में समाहित कर लिये जाने एवं बौद्ध तथा आजीवक परम्पराओं के क्रमशः इस देश से निष्कासित अथवा मृतप्रायः हो जाने पर जैन परम्परा को पुनः पूर्व मध्ययुग में आर्हत धर्म नाम प्राप्त हो गया। किन्तु यहाँ हम जिस आर्हत परम्परा की चर्चा कर रहे हैं, वह एक प्राचीन एवं व्यापक परम्परा है। ऋषिभाषित नामक जैन ग्रन्थ में नारद, असितदेवल, याज्ञवल्क्य, अरुण, उद्दालक, अंगिरस, पाराशर आदि अनेक औपनिषदिक ऋषियों का अर्हत ऋषि के रूप में उल्लेख हुआ है। साथ ही सारिपुत्र, महाकाश्यप आदि बौद्ध श्रमणों एवं मखलीगोशाल, संजय आदि अन्य श्रमण परम्परा के आचार्यों का भी अर्हत ऋषि के रूप में उल्लेख हुआ है⁴। बौद्ध परम्परा में बुद्ध के साथ साथ अर्हत अवस्था को प्राप्त अन्य श्रमणों को अर्हत कहा जाता था। बुद्ध के लिये अर्हत विशेषण सुप्रचलित था, यथा -- नमोतस्स भगवतो अरहतो सम्मासंबुद्धस्स। इस प्रकार प्राचीन काल में श्रमण धारा अपने समग्र रूप में आर्हत परम्परा के नाम से ही जानी जाती थी। वैदिक साहित्य में और विशेष रूप से ऋग्वेद में आर्हत व बार्हत धाराओं का उल्लेख भी इसी तथ्य की पुष्टि करता है⁵। आर्हत धर्म वस्तुतः वहाँ निवृत्तिप्रधान सम्पूर्ण श्रमणधारा का ही वाचक है। आर्हत शब्द से ही यह भी स्पष्ट हो जाता है कि आर्हत-अर्हतों के उपासक थे और अर्हत अवस्था को प्राप्त करना ही अपनी साधना का लक्ष्य मानते थे। बौद्ध ग्रन्थों में बुद्ध के पूर्व वज्रियों के अपने अर्हतों एवं चैत्यों की उपस्थिति के निर्देश है⁶। आर्हतों से भिन्न वैदिक परम्परा ऋग्वैदिक काल में बार्हत नाम से जानी जाती थी।

ऋग्वेद के दशम मण्डल के 85 वें सूक्त की चतुर्थ ऋचा में स्पष्ट रूप से बार्हत शब्द उल्लेख हुआ है। वह ऋचा इस प्रकार है -

आच्छादित्यानैर्गुपितो बार्हतैः सोम रक्षितः ।

श्रव्यामिच्छूण्वन् तिष्ठासि न ते अश्रन्ति पार्थिवः ॥ - ऋग्वेद 10 185 14

अर्थात् हे सोम । तू गुप्त विधि विधानों से रक्षित बार्हत गणों से संरक्षित है । तू (सोमलता के) पीसने वाले पत्थरों का शब्द सुनते ही रहता है । तुझे पृथ्वी का कोई भी सामान्य जन नहीं खा सकता ।

बृहती वेद को कहते हैं⁷ और इस बृहती के उपासक बार्हत कहे जाते थे । इस प्रकार वेदों में वर्णित सोमपान एवं यज्ञ-याग में निष्ठा रखने वाले और उसे ही अपनी धर्म साधना का सर्वस्व मानने वाले लोग ही बार्हत थे । इनके विपरीत ध्यान और तप साधना को प्रमुख मानने वाले व्यक्ति आर्हत नाम से जाने जाते थे । वैदिक साहित्य में हमें स्पष्ट रूप से अर्हत् को मानने वाले इन आर्हतों के उल्लेख उपलब्ध हैं । ऋग्वेद में अर्हन् और अर्हन्त शब्दों का प्रयोग नौ ऋचाओं में दस से अधिक बार हुआ है⁸ । सामान्यतया वैदिक, विद्वानों ने इन ऋचाओं में प्रयुक्त अर्हन् शब्द को पूजनीय के अर्थ में अग्नि, रुद्र आदि वैदिक देवताओं के विशेषण के रूप में ही व्याख्यायित किया है । यह सत्य है कि एक विशेषण के रूप में अर्हन् या अर्हत् का शब्द का अर्थ पूजनीय होता है, किन्तु ऋग्वेद में अर्हन् के अतिरिक्त अर्हन्त शब्द का स्पष्ट स्वतन्त्र प्रयोग यह बताता है कि वस्तुतः वह एक संज्ञा पद भी है और अर्हन्त देव का वाची है । इस सन्दर्भ में निम्न ऋचाएँ विशेष रूप से द्रष्टव्य हैं -

अर्हिविभिर्भर्षि सायकानि धन्वार्हन्निष्कं यजतं विश्वरूपम् ।

अर्हन्निदं दयसे विश्वमम्बं न वा ओजीयो रुद्र-त्वदस्ति ॥ (2.33.10)

प्रस्तुत ऋचा को रुद्र सूक्त के अन्तर्गत होने के कारण वैदिक व्याख्याकारों ने यहाँ अर्हन् शब्द को रुद्र का एक विशेषण मानकर इसका अर्थ इस प्रकार किया है--

हे रुद्र ! योग्य तू बाणों और धनुष को धारण करता है । योग्य तू, पूजा के योग्य और अनेक रूपों वाले सोने को धारण करता है । योग्य तू इस सारे विस्तृत जगत् की रक्षा करता है । हे रुद्र, तुझसे अधिक तेजस्वी और कोई नहीं है ।

जैन दृष्टि में इस ऋचा को निम्न प्रकार से भी व्याख्यायित किया जा सकता है --

हे अर्हन् ! तू (संयम रूपी) शस्त्रों (धनुष-बाण) को धारण करता है ? और सांसारिक जीवों में प्राण रूप स्वर्ण का त्याग कर देता है ? निश्चय ही तुझसे अधिक बलवान और कठोर और कोई नहीं है । हे अर्हन् तू विश्व की अर्थात् संसार के प्राणियों की मातृवत् दया करता है ।

प्रस्तुत प्रसंग में अर्हन् की ब्याज रूप से स्तुति की गयी है । यहाँ शस्त्र धारण करने का तात्पर्य कर्म शत्रुओं या विषय वासनाओं को पराजित करने के लिए संयम रूपी शस्त्रों के धारण करने से है । जैन परम्परा में 'अरिहंत' शब्द की व्याख्या शत्रु का नाश करने वाला, इस रूप में की गई है । आचारांग में साधक को अपनी वासनाओं से युद्ध करने का निर्देश दिया गया है ।⁹

इसी प्रकार ब्याज रूप से यह कहा गया है कि जहाँ सारा संसार स्वर्ण के पीछे भागता है, वहीं, तू इसका त्याग करता है। यहा यजतं शब्द त्याग का वाची माना जा सकता है। अतः तुझसे अधिक कठोर व समर्थ कौन हो सकता है ? प्रस्तुत प्रसंग में 'अर्हन् दयसे विश्वम्ब' शब्द अधिक महत्त्वपूर्ण है। इसमें अर्हन् को विश्व के सभी प्राणियों की दया करने वाला तथा मातृवत् कहा गया है, जो जैन परम्परा का मूल आधार है। इसी प्रकार पंचम मण्डल के बावनवें सूक्त की पाँचवीं ऋचा भी महत्त्वपूर्ण है --

अर्हन्तो ये सुदानवो नरो अस्मिंशिवसः ।

प्र यज्ञं यज्ञियेभ्यो दिवो अर्घा मरुद्भ्येः ॥ ऋग्वेद 5।52।5

सायण की व्याख्या के अनुसार इस ऋचा का अर्थ इस प्रकार है--

जो पूज्य, दानशूर सम्पूर्ण बल से युक्त तथा तेजस्वी द्यौतमान नेता है, उन पूज्य वीर-मरुतों के लिए यज्ञ करो और उनकी पूजा करो।

हम प्रस्तुत ऋचा की भी जैन दृष्टि से निम्न व्याख्या कर सकते हैं --

जो दानवीर, तेजस्वी, सम्पूर्ण वीर्य से युक्त, नर श्रेष्ठ अर्हन्त हैं, वे याज्ञिकों के लिए यजन के और मरुतों के लिए अर्चना के विषय हैं।

इसी प्रकार से अर्हन् शब्द वाची अन्य ऋचाओं की भी जैन दृष्टि से व्याख्या की जा सकती है। वैदिक ऋचाओं की व्याख्याओं के साथ कठिनाई यह है कि उनकी शब्दानुसारी सरल व्याख्या सम्भव नहीं होती है, लक्षणा प्रधान व्याख्या ही करनी होती है। अतः उन्हें अनेक दृष्टियों से व्याख्यायित किया जा सकता है।

ऋग्वेद में न केवल सामान्य रूप से श्रमण परम्परा और विशेष रूप से जैन परम्परा से सम्बन्धित अर्हन्, अर्हन्त, व्रात्य, बातरशनामुनि, श्रमण आदि शब्दों का उल्लेख मिलता है, अपितु उसमें आर्हत परम्परा के उपास्य वृषभ का भी शताधिक बार उल्लेख हुआ है। मुझे ऋग्वेद में वृषभ वाची 112 ऋचाएँ उपलब्ध हुई हैं। सम्भवतः कुछ और ऋचाएँ भी मिल सकती हैं। यद्यपि यह कहना कठिन है कि इन समस्त ऋचाओं में प्रयुक्त 'वृषभ' शब्द ऋषभदेव का ही वाची है। फिर भी कुछ ऋचाएँ तो अवश्य ही ऋषभदेव से सम्बन्धित मानी जा सकती हैं। डॉ. राधाकृष्णन, प्रो. जीमर, प्रो. वीरपाक्ष वाडियर आदि कुछ जैनेतर विद्वान भी इस मत के प्रतिपादक हैं कि ऋग्वेद में जैनों के आदि तीर्थंकर ऋषभदेव से सम्बन्धित निर्देश उपलब्ध होते हैं¹⁰। आर्हत धारा के आदि पुरुष के रूप में ऋषभ का नाम सामान्य रूप से स्वीकृत रहा है। क्योंकि हिन्दू पुराणों एवं बौद्ध ग्रन्थों से भी इसकी पुष्टि होती है। जैनों ने उन्हें अपना आदि तीर्थंकर माना है। इतना सुनिश्चित है कि ऋषभदेव भारतीय संस्कृति की निवृत्तिप्रधान धारा के प्रथम पुरुष हैं। हिन्दू परम्परा में जो अवतारों की र्चा है, उसमें ऋषभ का क्रम 8वाँ है, किन्तु यदि मानवीय रूप में अवतार की दृष्टि से विचार करें तो लगता है कि वे ही प्रथम मानवावतार थे। यद्यपि ऋषभ की अवतार रूप में स्वीकृति हमें सर्वप्रथम पुराण साहित्य में विशेषतः भागवत

पुराण में मिलती है, जो कि परवर्ती ग्रन्थ है। किन्तु इतना निश्चित है कि श्रीमद्भागवत में ऋषभ का जिस रूप में प्रस्तुतिकरण है, वह उन्हें निवृत्तिप्रधान श्रमण संस्कृति का आदि पुरुष सिद्ध करता है¹¹। श्रीमद्भागवत पुराण के अतिरिक्त लिंगपुराण, शिवपुराण, आग्नेयपुराण, ब्रह्मांडपुराण, विष्णुपुराण, कूर्मपुराण, वराहपुराण और स्कन्ध पुराण में भी ऋषभ का उल्लेख एक धर्म प्रवर्तक के रूप में हुआ है¹²। यद्यपि प्रस्तुत निबन्ध में हम ऋग्वेद में उपलब्ध वृषभ वाची ऋचाओं की ही चर्चा तक अपने को सीमित करेंगे।

ऋग्वेद में 'वृषभ' शब्द का प्रयोग किन्-किन् सन्दर्भों में हुआ है यह अभी भी एक गहन शोध का विषय है, जहाँ एक ओर अधिकांश वैदिक विद्वान व भाष्यकार ऋग्वेद में प्रयुक्त वृषभ (ऋषभ) शब्द का अर्थ बैल¹³, बलवान¹⁴, उत्तम, श्रेष्ठ¹⁵ वर्ण करने वाला¹⁶, कामनाओं की पूर्ति करने वाला¹⁷ आदि करते हैं, वहीं जैन विद्वान उसे अपने प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव का वाची मानते हैं। जैन विद्वानों ने ऋषभदेव की चर्चा के सन्दर्भ में ऋग्वेद, यजुर्वेद, अथर्ववेद आदि की अनेक ऋचाएँ प्रस्तुत भी की हैं और उनका जैन संस्कृति अनुसारी अर्थ करने का भी प्रयत्न किया है। प्रस्तुत निबन्ध में मैंने भी एक ऐसा ही प्रयत्न किया है। किन्तु ऐसा दावा मैं नहीं करता हूँ कि यही एक मात्र विकल्प है। मेरा कथ्य मात्र यह है कि उन ऋचाओं के अनेक सम्भावित अर्थों में यह भी एक अर्थ हो सकता है, इससे अधिक सुनिश्चित रूप में कुछ नहीं कहा जा सकता है। ऋग्वेद में प्रयुक्त वृषभ शब्द के अर्थ के सन्दर्भ में हमें पर्याप्त सतर्कता एवं सावधानी बरतनी होगी, क्योंकि जहाँ तक वैदिक ऋचाओं का प्रश्न है उनका अर्थ करना एक कठिन कार्य है। अधिक क्या कहें सायण जैसे भाष्यकारों ने भी ऋग्वेद के 10 वें मण्डल के 106 वें सूक्त के ग्यारह मंत्रों की व्याख्या करने में असमर्थता प्रकट की है। मात्र इतना ही नहीं कुछ अन्य मंत्रों के सम्बन्ध में स्पष्ट लिखा है कि इन मंत्रों से कुछ भी अर्थ बोध नहीं होता है। कठिनाई यह है कि सायण एवं महिधर के भाष्यों और ऋग्वेद के रचना काल में पर्याप्त अन्तर है। जो ग्रन्थ ईसा से 1500 वर्ष पूर्व कभी बना हो, उसका ईसा की 15 वीं शती में अर्थ करना कठिन कार्य है क्योंकि इसमें न केवल भाषा की कठिनाई होती है, अपितु शब्दों के रुढ़ अर्थ भी पर्याप्त रूप से बदल चुके होते हैं। वस्तुतः वैदिक ऋचाओं को उनके भौगोलिक व सामाजिक परिप्रेक्ष्य में समझे बिना उनका जो अर्थ किया जाता है, वह ऋचाओं में प्रकट मूल भावों के कितना निकट होगा, यह कहना कठिन है। स्कन्दरस्वामी, सायण एवं महिधर के बाद स्वामी दयानन्द सरस्वती ने वैदिक मंत्रों की अपनी दृष्टि से व्याख्या करने का प्रयत्न किया है। यदि हम सायण और दयानन्द की व्याख्याओं को देखें, तो यह स्पष्ट होता है कि सायण एवं दयानन्द की व्याख्याओं में बहुत अधिक अन्तर है। ऋग्वेद में जिन-जिन ऋचाओं में वृषभ शब्द आया है, वे सभी ऋचाएँ ऐसी हैं कि उन्हें अनेक दृष्टियों से व्याख्यायित किया जा सकता है।

मूल समस्या तो यह है कि वैदिक ऋचाओं का शाब्दिक अर्थ ग्रहण करें या लाक्षणिक अर्थ। जहाँ तक वृषभ सम्बन्धी ऋचाओं के अर्थ का प्रश्न है मैं इस निष्कर्ष पर पहुंचा हूँ कि उनका शब्दानुसारी अर्थ करने पर न तो जैन मन्तव्य की पुष्टि होती है और न आर्यसमाज के मन्तव्यों की पुष्टि होगी, न ही उनसे किसी विशिष्ट दार्शनिक चिन्तन का अवबोध होता है। यद्यपि वैदिक

मंत्रों के अर्थ के लिए सर्वप्रथम यास्क ने एक प्रयत्न किया था, किन्तु उसके निरुक्त में ही यह भी स्पष्ट रूप से उल्लिखित है कि उस समय भी, कोत्स आदि आचार्य ऐसे थे, जो मानते थे कि वेदों के मंत्र निरर्थक हैं¹⁸। यद्यपि हम इस मत से सहमत नहीं हो सकते। वस्तुतः वैदिक मंत्र एक सहज स्वाभाविक मानवीय भावनाओं की अभिव्यक्ति है किन्तु ऐसा मानने पर वेदों के प्रति जिस आदर भाव या उनकी महत्ता की जो बात है वह क्षीण हो जाती है। यही कारण है कि स्वामी दयानन्द आदि ने वेदों में रहस्यात्मकता व लाक्षणिकता को प्रमुख माना और उसी आधार पर मंत्रों की व्याख्याएँ कीं। अतः सबसे प्रथम यह विचारणीय है कि क्या वेद मंत्रों की व्याख्या उन्हें रहस्यात्मक व लाक्षणिक मानकर की जाय अथवा नहीं। क्योंकि यदि हम ऋग्वेद में प्रयुक्त वृषभ शब्द को ऋषभदेव के अर्थ में ग्रहण करना चाहते हैं, तो हमारे मत की पुष्टि रहस्यात्मक एवं लाक्षणिक व्याख्याओं द्वारा ही सम्भव है। शब्दानुसारी सामान्य अर्थ की दृष्टि से ऐसी पुष्टि सम्भव नहीं है।

सबसे पहले हम इसी प्रश्न पर विचार करें कि क्या वैदिक ऋचाओं का लाक्षणिक व रहस्यात्मक अर्थ किया जाना चाहिए। यह भी स्पष्ट है कि अनेक वैदिक ऋचाएँ व मंत्र अपने शब्दानुसारी अर्थ में बहुत ही साधारण से लगते हैं जबकि उनका लाक्षणिक अर्थ अत्यन्त ही गम्भीर होता है। वैदिक ऋचाएँ लाक्षणिक व रहस्यात्मक अर्थ की वाचक हैं यह समझने के लिए पहले हमें औपनिषदिक साहित्य पर भी इस दृष्टि से विचार करना होगा, क्योंकि अनेक उपनिषद् वेदों में समाहित हैं।

श्वेताश्वतरोपनिषद् में निम्न श्लोक पाया जाता है --

अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णां बह्वी प्रजाः सृज्यमानां सरूपाः ।

अजोह्येको जुषमाणोऽनुशेते जहात्येनां भुक्तभोगामजोऽन्यः ॥

यदि हम श्वेताश्वतरोपनिषद् ? के इस श्लोक का शब्दानुसारी यह अर्थ करते हैं कि एक काले, लाल व सफेद रंग की बकरी है, जो अपने समान ही संतान को जन्म देती है। एक बकरा उसका भोग कर रहा है, जबकि दूसरे ने उसका भोग करके परित्याग कर दिया है। इस अर्थ की दृष्टि से यह श्लोक एक सामान्य पशु की प्राकृतिक स्थिति का चित्रण मात्र है, लेकिन हम इसके पूर्वापर सम्बन्ध को देखें तो स्पष्ट हो जाता है कि औपनिषदिक ऋषि का यह कथन केवल एक पशु का चित्रण नहीं है, अपितु एक रूपक है, जिसके लाक्षणिक अर्थ के आधार पर वह प्रकृति की त्रिगुणात्मकता के साथ उसके द्वारा सृष्ट पदार्थों के त्रिगुणात्मक स्वरूप को स्पष्ट करना चाहता है। यह तथ्य इस बात का प्रमाण है कि वेदों की ऋचाएँ एवं औपनिषदिक श्लोक मात्र सामान्य अर्थ के सूचक नहीं हैं। उनमें अनेक स्थानों पर रूपकों के माध्यम से दार्शनिक रहस्यों के उद्घाटन का प्रयत्न किया गया है। इस सन्दर्भ में हम ऋग्वेद की ही दसवें मण्डल की एक ऋचा लेते हैं --

ऋतस्य हि सदसो धीतिरघाँत्सं गाष्ट्यो वृषभो गोभिरानत् ।

उदतिष्ठत्तविषेणा रवेण महान्ति चित्सं विव्याचा रजांसि ॥ (10. 111. 2)

इस ऋचा के शाब्दिक अर्थ के अनुसार इसके द्वितीय चरण का अर्थ होगा तरुण गाय से उत्पन्न वृषभ रंभाता हुआ गौओं के साथ मिलता है, किन्तु मात्र इतना अर्थ करने पर ऋचा का भाव स्पष्ट नहीं होता है। इसके पूर्व ऋतस्य ही सदसो धीतिरद्यौत्सं इस पूर्वचरण को भी लेना होता है। इस चरण का अर्थ भी सायण और दयानन्द ने अलग-अलग ढंग से किया है, किन्तु वे अर्थ भी लाक्षणिक ही हैं। जहाँ दयानन्द 'ऋतस्य ही सदसोधीतिरद्यौत्सं' का अर्थ ऋत की सभा की धारणा शक्ति प्रकाशित हो रही है -- ऐसा अर्थ करते हैं¹⁹, वही सायण भाष्य पर आधारित होकर सातवेलकर इसका अर्थ जल स्थान का अर्थात् अन्तरिक्ष का धारक यह इन्द्र प्रकाशता है, ऐसा अर्थ करते हैं²⁰, किन्तु ये दोनों ही अर्थ न तो पूर्णतः शब्दानुसारी हैं और न पूर्णतः लाक्षणिक ही कहे जा सकते हैं। दयानन्द ने उसकी लाक्षणिकता को स्पष्ट करते हुए -- ईश्वर का प्रकाश फैला है ऐसा भावार्थ किया है। लेकिन यहाँ हमें यह भी ध्यान रखना होगा कि भारतीय चिन्तन में ईश्वर की अवधारणा एक परवर्ती विकास है। ऋत की अवधारणा प्राचीन है और उसका अर्थ सत्य या व्यवस्था है।

प्रस्तुत प्रसंग में इस ऋचा को वृषभ से संबन्धित मानते हैं तो इसका अर्थ इस प्रकार होगा-- जिस प्रकार तरुण गाय से उत्पन्न वृषभ गौ समूह के बीच अपनी ध्वनि से सुशोभित होता है, उसी प्रकार ऋषभ के केवल ज्ञान से उत्पन्न सम्यक् वाणी से सत्य की सभा सुशोभित होती है। वह (ऋषभदेव) समवसरण में ऊपर आसीन होकर जिस वाणी का उद्घोष करते हैं, वह अपने तीव्र रव शब्द ध्वनि के द्वारा इस समस्त लोक को व्याप्त करती है। इस प्रकार उपर्युक्त ऋचा का जैन दृष्टि से जो लाक्षणिक अर्थ किया जाता है, वह अधिक समीचीन प्रतीत होता है। इसी प्रसंग में ऋग्वेद के चतुर्थ मण्डल के 58 वें सूक्त की तीसरी ऋचा, जो वृषभ से सम्बन्धित है, के अर्थ पर भी विचार करें। यह ऋचा इस प्रकार है --

**चत्वारि शृङ्गा त्रयो अस्य पादा द्वे शीर्षे सप्तहस्तासो अस्य ।
त्रिधा बद्धो वृषभो रोरवीति महो देवो मर्त्या आ विवेश ॥ (4. 58. 3)**

इस ऋचा का शब्दानुसारी सामान्य अर्थ इस प्रकार है --

इस वृषभ अथवा देव के चार सींग, तीन पैर, दो सिर और इसके सात हाथ हैं। यह वृषभ या बलवान देव तीन स्थानों पर बंधा हुआ शब्द करता है, यह महान देव मनुष्यों में प्रविष्ट है²¹। इस शब्दानुसारी अर्थ के आधार पर -- न तो इसमें वृषभ (बैल) का यथार्थ प्राकृतिक स्वरूप का चित्रण है -- यह कहा जा सकता है और न किसी अन्य अर्थ का स्पष्ट बोध होता है। अतः स्वाभाविक रूप से इसके लाक्षणिक अर्थ की ओर जाना होता है।

दयानन्द सरस्वती इसका लाक्षणिक अर्थ इस प्रकार करते हैं--

हे मनुष्यों ! जो बड़ा सेवा और आदर करने योग्य स्वप्रकाश स्वरूप और सब को सुख देने वाला मरणधर्म वाले मनुष्य आदि को सब प्रकार से व्याप्त होता है और जो सुखों को वर्षाने वाला तीन श्रद्धा, पुरुषार्थ और योगाभ्यास से बंधा हुआ विस्तर उपदेश देता है। इस धर्म

से युक्त नित्य और नैमित्तिक परमात्मा के बोध के दो उन्नति और मोक्ष रूप शिर स्थानापन्न तीन अर्थात् कर्म, उपासना और ज्ञान रूप चलने योग्य पैर और चार वेद श्रृंगों के सदृश आप लोणों को जानने योग्य हैं और इस धर्म व्यवहार के पाँच ज्ञानेन्द्रिय वा पाँच कर्मेन्द्रिय अन्तःकरण और आत्मा ये सात हाथों के सदृश वर्तमान हैं, और उक्त तीन प्रकार से बढ़ा हुआ व्यवहार भी जानने योग्य है²²। किन्तु यदि इस उपर्युक्त ऋचा का अर्थ जैन दृष्टि से करें तो तीन योगों अर्थात् मन, वचन व काय से बद्ध या युक्त ऋषभ देव ने यह उद्घोषणा की कि महादेव अर्थात् परमात्मा मृत्यों में ही निवास करता है, उसके अनन्त चतुष्टय रूप अर्थात् अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन अनन्त सुख व अनन्त वीर्य ऐसे चार श्रृङ्ग हैं और सम्यक् दर्शन, ज्ञान व चारित्र्य रूप तीन पाद हैं। उस परमात्मा के ज्ञान उपयोग व दर्शन-उपयोग ऐसे दो शीर्ष हैं तथा पाँच इन्द्रियाँ, मन व बुद्धि ऐसे सात हाथ हैं। श्रृङ्ग आत्मा के सर्वोत्तम दशा के सूचक हैं जो साधना की पूर्णता पर अनन्त चतुष्टय के रूप में प्रकट होते हैं और पाद उस साधना मार्ग के सूचक हैं जिसके माध्यम से उस सर्वोत्तम आत्म अवस्था को प्राप्त किया जा सकता है। सप्त हस्त ज्ञान प्राप्ति के सात साधनों को सूचित करते हैं। ऋषभ को त्रिधाबद्ध कहने का तात्पर्य यह है कि वह मन वचन एवं काय योगों की उपस्थिति के कारण ही संसार में है। बद्ध का अर्थ संयत या नियन्त्रित करने पर मन, वचन, व काय से संयत ऐसा अर्थ भी किया जा सकता है।

इस प्रकार से हम देखते हैं कि यहाँ जैन दृष्टि से किया लाक्षणिक अर्थ उतना ही समीचीन है, जितना स्वामी दयानन्द का लाक्षणिक अर्थ। इतना अवश्य सत्य है कि इस ऋचा का कोई भी शब्दानुसारी अर्थ इसके अर्थ को अभिव्यक्त नहीं कर सकता है। अतः हमें मानना होगा कि वैदिक ऋचाओं के अर्थ को समझने के लिए इनकी लाक्षणिकता को स्वीकार किये बिना अन्य कोई विकल्प नहीं है।

सायण आदि वेदों के भाष्यकारों ने सामान्य रूप में 'वृषभ' शब्द की व्याख्या एक विशेषण के रूप में की है और उसका प्रसंगानुसार बलवान, श्रेष्ठ, वर्षा करने वाला, कामनाओं की पूर्ति करने वाला-ऐसा अर्थ किया है। वे वृषभ को इन्द्र, अग्नि, रुद्र आदि वैदिक देवताओं का एक विशेषण मानते हैं एवं इसी रूप में उसे व्याख्यायित भी करते हैं। चाहे वृषभ का अर्थ बलवान या श्रेष्ठ करें अथवा उसे वर्षा करने वाला या कामनाओं की पूर्ति करने वाला कहे, वह एक विशेषण के रूप में ही गृहीत होता है। यह सत्य है कि अनेक प्रसंगों में वृषभ शब्द की व्याख्या एक विशेषण के रूप में की जा सकती है। स्वयं जैन एवं बौद्ध परम्पराओं में भी वृषभ शब्द का प्रयोग एक विशेषण के रूप में हुआ है। बौद्ध ग्रन्थ धम्मपद के अन्त में एक गाथा में वृषभ शब्द का प्रयोग विशेषण के रूप में हुआ है। वह गाथा निम्नानुसार है--

उसमं पवरं वीरं महसिं विजिताविनं ।

अनेजं नहातकं बुद्धं तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं ।। - धम्मपद 26 140

अतः इस सम्बन्ध में कोई आपत्ति नहीं की जा सकती है कि वृषभ शब्द का प्रयोग विशेषण के रूप में नहीं हो सकता, किन्तु यह भी नहीं कहा जा सकता कि वृषभ शब्द सर्वत्र

विशेषण के रूप में ही प्रयुक्त होता है। 'वृषभ' शब्द का प्रयोग साहित्य के क्षेत्र में विशेषण पद व संज्ञा पद दोनों रूपों में ही पाया जाता है।

ऋग्वेद में ही अनेक ऐसे स्थल हैं जहाँ वैदिक विद्वानों ने 'वृषभ' शब्द का प्रयोग विशेषण के रूप में माना है। जैसे --

1. त्वं अग्ने वृषभः (1/31/5)
2. वृषभः इन्द्रो (1/33/10)
3. त्वं अग्ने इन्द्रो वृषभः (2/1/3)
4. वृषभं इन्द्रं (3/47/5)

इस प्रकार के और भी अनेक सन्दर्भ उपस्थित किए जा सकते हैं, किन्तु प्रश्न यह है कि क्या 'वृषभ' शब्द को सदैव ही एक विशेषण माना जाय।

यह ठीक है कि इन्द्र वर्षा का देवता है। उसे श्रेष्ठ या बलवान माना गया है। अतः उसका विशेषण वृषभ हो सकता है किन्तु इसके विपरीत इन्द्र शब्द को भी वृषभ का विशेषण माना जा सकता है। जैन परम्परा में ऋषभ आदि तीर्थकरों के लिए जिनेन्द्र विशेषण प्रसिद्ध ही है। अथर्ववेद (9.9.7) में इन्द्रस्य रूपं ऋषभो कहकर दोनों को पर्यायवाची बना दिया गया है। इन्द्र का अर्थ ऐश्वर्य का धारक ऐसा भी होता है। इस रूप में वह वृषभ का विशेषण भी बन सकता है। जिस प्रकार वृषभ को इन्द्र, अग्नि, रुद्र, बृहस्पति आदि का विशेषण माना गया है उसी प्रकार व्याख्या को परिवर्तित करके इन्द्र, रुद्र, अग्नि और बृहस्पति को वृषभ का विशेषण भी माना जा सकता है।

यहाँ वृषभ आप इन्द्र या जिनेन्द्र हैं -- ऐसी व्याख्या भी बहुत असंगत नहीं कही जा सकती है। कुछ जैन विद्वानों की ऐसी मान्यता भी है कि वेदों में 'जात-वेदस' शब्द जो अग्नि के लिए प्रयुक्त हुआ है वह जन्म से त्रिज्ञान सम्पन्न ज्योति स्वरूप भगवान ऋषभदेव के लिए ही है। वे यह मानते हैं कि "रत्नधारक", "विश्ववेदस", "जातवेदस" आदि शब्द जो वेदों में अग्नि के विशेषण हैं वे रत्नत्रय से युक्त विश्व तत्त्वों के ज्ञाता सर्वज्ञ ऋषभ के लिए भी प्रयुक्त हो सकते हैं। इतना निश्चित है कि ये शब्द सामान्य प्राकृतिक अग्नि के विशेषण तो नहीं माने जा सकते हैं। चाहे उन्हें अग्निदेव का वाची माना जाय या ऋषभदेव का, वे किसी दैवीय शक्ति के ही विशेषण हो सकते हैं। जैन विद्वानों का यह भी कहना है कि अग्नि देव के रूप में ऋषभ की स्तुति का एक मात्र हेतु यही दृष्टिगत होता है, ऋषभदेव स्थूल व सूक्ष्म शरीर से परिनिवृत्त होकर सिद्ध, बुद्ध व मुक्त हुए उस समय उनके परम प्रशान्त स्वरूप को आत्मसात करने वाली अग्नि ही तत्कालीन जनमानस के लिए स्मृति का विषय रह गयी और जनता अग्नि दर्शन से ही अपने आराध्य देव का स्मरण करने लगी। (देवेन्द्रमुनि शास्त्री: ऋषभदेव एक परिशीलन, पृ.43)

जैन विद्वानों के इस चिन्तन में कितनी सार्थकता है यह एक स्वतन्त्र चर्चा का विषय है यहाँ मैं उसमें उतरना नहीं चाहता हूँ, किन्तु यह बताना चाहता हूँ कि विशेषण एवं विशेष्य के रूप में प्रयुक्त दोनों शब्दों में यदि संज्ञा रूप में प्रयुक्त होने की सामर्थ्य है तो उनमें किसे विशेषण और

किसे विशेष्य माना जाय -- यह व्याख्याकार की अपनी-अपनी दृष्टि पर ही आधारित होगा। साथ ही दोनों को पर्यायवाची भी माना जा सकता है।

ऋग्वेद में रुद्र की स्तुति के सन्दर्भ में भी वृषभ शब्द का प्रयोग हुआ है। स्वयं ऋग्वेद में ही एक ओर रुद्र को उग्र एवं शस्त्रों का धारण करने वाला कहा गया वहीं दूसरी ओर उसे विश्व प्राणियों के प्रति दयावान और मातृवत् भी कहा गया है (2/33/1)। इस ऋचा की चर्चा हम पूर्व में कर चुके हैं। एक ही व्यक्ति कठोर व कोमल दोनों हो सकता है। ऋषभ के सन्दर्भ में यह कहा जाता है कि ये तप की कठोर साधना करते थे। अतः वे रुद्र भी थे। वैदिक साहित्य में रुद्र, सर्व, पाशुपति, ईश, महेश्वर, शिव, शंकर आदि पर्यायवाची रूप में प्रयुक्त हुए हैं। जैन दृष्टि से इन्हें वृषभ का विशेषण भी माना गया है। अतः किसे किसका विशेषण माना जाय, यह निर्धारण सहज नहीं है। ऋग्वेद में जो रुद्र की स्तुति है उसमें 5 बार वृषभ शब्द का और 3 बार अर्हन् शब्द का उल्लेख हुआ है। मात्र इतना ही नहीं, रुद्र को अर्हन् शब्द से भी सम्बोधित किया गया है। इतना तो निश्चित है कि अर्हन् विशेषण ऋषभदेव के लिए ही अधिक समीचीन है क्योंकि यह मान्य तथ्य है कि उनके द्वारा प्रवर्तित धर्म आर्हत धर्म है। अतः ऋग्वेद में रुद्र की जो स्तुति प्राप्त होती है उसमें यदि रुद्र को वृषभ का विशेषण माना जाय तो वह वृषभ की स्तुति के रूप में भी व्याख्यायित हो सकती है। यद्यपि मैं इसे एक सम्भावित व्याख्या से अधिक नहीं मानता हूँ। इस सम्बन्ध में पूर्ण सुनिश्चितता का दावा करना मिथ्या होगा।

ऋग्वेद में वृषभ शब्द को बृहस्पति के विशेषण के रूप में भी माना गया है। यहाँ भी यही समस्या है। हम बृहस्पति को भी वृषभ का विशेषण बना सकते हैं, क्योंकि ऋषभ को परमज्ञानी माना गया है। इस प्रकार हम देखते हैं कि वृषभ शब्द इन्द्र, अग्नि, रुद्र अथवा बृहस्पति का विशेषण माना जाय या इन शब्दों को वृषभ का विशेषण माना जाय, इस समस्या का सम्यक् समाधान इतना ही हो सकता है कि इन व्याख्याओं में दृष्टिभेद ही प्रमुख है। दोनों व्याख्याओं में किसी को भी हम पूर्णतः असंगत नहीं कह सकते। किन्तु यदि जैन दृष्टि से विचार करें तो हमें मानना होगा कि रुद्र, इन्द्र, अग्नि आदि ऋषभ के विशेषण हैं।

ऋग्वेद में हमें एक सबसे महत्त्वपूर्ण सूचना यह मिलती है कि अनेक सन्दर्भों में वृषभ का एक विशेषण मरुत्वान् आया है (वृषभो मरुत्वानं (2.33.6))। जैन परम्परा में ऋषभ को मरुदेवी का पुत्र माना गया है। अतः उनके साथ यह विशेषण समुचित प्रतीत होता है।

ऋग्वेद में वृषभ सम्बन्धी ऋचाओं की व्याख्या के सम्बन्ध में यह भी स्पष्ट है कि अनेक प्रसंगों में उनकी लाक्षणिक व्याख्या के अतिरिक्त अन्य कोई विकल्प नहीं रहता है।

ऋग्वेद चतुर्थ मण्डल के अट्ठावनवें सूक्त की तीसरी ऋचा में वृषभ को चार सीगों, तीन पादों या पावों, दो शीर्ष, सात हस्त एवं तीन प्रकार से बद्ध कहा गया है। यह ऋचा स्पष्ट रूप से ऋषभ को समर्पित है। इसमें ऋषभ को मृत्यों में उपस्थित या प्रविष्ट महादेव कहा गया है। इस ऋचा की कठिनाई यह है कि इसे किसी भी स्थिति में अपने शब्दानुसारी सहज अर्थ द्वारा व्याख्यायित नहीं किया जा सकता क्योंकि न तो वृषभ के चार सीग होते हैं, न तीन पाद, न दो

शिर होते हैं, नहीं सात हाथ होते हैं। चाहे हम किसी भी परम्परा की दृष्टि से इस ऋचा की व्याख्या करें लाक्षणिक रूप में ही करना होगा। ऐसी स्थिति में इस ऋचा को जहाँ दयानन्द सरस्वती आदि वैदिक परम्परा के विद्वानों ने हिन्दू परम्परानुसार व्याख्यायित करने का प्रयत्न किया वही जैन विद्वानों ने इसे जैन दृष्टि से व्याख्यायित किया। जब सहज शब्दानुसारी अर्थ संभव नहीं है तब लाक्षणिक अर्थ के अतिरिक्त अन्य कोई विकल्प भी शेष नहीं रहता।

इसी प्रकार ऋग्वेद के 7वें मण्डल के पद्यावनवें सूक्त की सातवीं ऋचा (7.55.7) में यह कहा गया है कि सहस्र श्रृंग वाला वृषभ समुद्र से ऊपर आया। यद्यपि वैदिक विद्वान् इस ऋचा की व्याख्या में वृषभ का अर्थ सूर्य करते हैं, वे वृषभ का सूर्य अर्थ इस आधार पर लगाते हैं कि वृषभ शब्द का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ है जो वर्षा का कारण होता है, वह वृषभ है। क्योंकि सूर्य वृष्टि का कारण है, अतः वृषभ का एक अर्थ सूर्य भी हो सकता है। सहस्र श्रृंग का अर्थ भी वे सूर्य की हजारों किरणों से करते हैं, किन्तु जैन दृष्टि से इसका अर्थ यह भी किया जा सकता है कि ज्ञान रूपी सहस्रों किरणों से मण्डित ऋषभदेव समुद्रतट पर आये। इसी ऋचा की अगली पंक्ति का शब्दार्थ इस प्रकार है -- उस की सहायता से हम मनुष्यों को सुला देते हैं, किन्तु सूर्य की सहायता से मनुष्यों को कैसे सुलाया जा सकता है यह बात सामान्य बुद्धि की समझ में नहीं आती है। फिर भी सहस्र श्रृंग की व्याख्या तो लाक्षणिक दृष्टि से ही करना होगा। वृषभ शब्द बैल का वाची भी है और ऋग्वेद में बैल के क्रियाकलापों की अग्नि, इन्द्र आदि तुलना भी की गई है जैसे 8वें मण्डल में शिशानो वृषभो यथाग्निः श्रृंग दक्खित्, (8.68.13) में हम देखते हैं कि अग्नि की तुलना वृषभ से की गयी है और कहा गया है कि जैसे वृषभ अपने सींगों से प्रहार करते समय अपने सिर को हिलाता है उसी प्रकार अग्नि भी अपनी ज्वालाओं को हिलाता है।

इसी प्रकार की अन्य ऋचायें भी हैं -- वृषभो न तिग्मश्रृंगोऽन्तर्वृषेषु रोरुवत- (10.86.15) तीक्ष्ण सींग वाले वृषभ के समान जो अपने समूह में शब्द करता है। इसका जैन दृष्टि से लाक्षणिक अर्थ यह भी हो सकता है कि तीक्ष्ण प्रज्ञा वाले ऋषभ देव अपने समूह अर्थात् चतुर्विध संघ या परिषदा में उपदेश देते हैं और हे इन्द्र तुम भी उन पर मंथन या चिन्तन करो। ज्ञातव्य है इस ऋचा में 'न' शब्द समानता या तुलना का वाची है। इसी प्रकार 'आशुः शिसानो वृषभो न' (10.103.1) में भी तुलना है।

इस प्रकार ऋग्वेद में वृषभ शब्द तुलना की दृष्टि से बैल के अर्थ में भी अनेक स्थलों में प्रयुक्त हुआ है।

उपर्युक्त समस्त चर्चाओं के आधार पर हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि ऋग्वेद में जिन-जिन स्थानों पर वृषभ शब्द का प्रयोग हुआ है उन सभी स्थलों की व्याख्या वृषभ को 'ऋषभ' मानकर नहीं की जा सकती है। मात्र कुछ स्थल हैं जहाँ पर ऋग्वेद में प्रयुक्त वृषभ की व्याख्या ऋषभ के सन्दर्भ में की जा सकती है। इनमें भी सम्पूर्ण ऋचा को व्याख्यायित करने के लिये लाक्षणिक अर्थ का ही ग्रहण करना होगा। अधिक से अधिक हम यह कह सकते हैं कि ऋग्वेदिक काल में वृषभ एक उपास्य या स्तुत्य ऋषि के रूप में गृहीत थे।

पुनः ऋग्वेद में वृषभ का रुद्र, इन्द्र, अग्नि आदि के साथ जो समीकरण किया गया है वह इतना अवश्य बताता है कि यह समीकरण परवर्ती काल में प्रचलित रहा। 6ठीं शती से लेकर 10वीं शती के जैन साहित्य में जहाँ ऋषभ की स्तुति या उसके पर्यायवाची नामों का उल्लेख है उनमें ऋषभ की स्तुति इसी रूप में की गयी। ऋषभ के शिव, परमेश्वर, शंकर, विधाता आदि नामों की चर्चा हमें जैन परम्परा के प्रसिद्ध भक्तामर स्तोत्र में भी मिलती है²³।

ऋग्वेद में उपलब्ध कुछ ऋचाओं की जैन दृष्टि से ऋषभदेव के प्रसंग में व्याख्या करने का हमने प्रयत्न किया है। विद्वानों से यह अपेक्षा है कि वे इन ऋचाओं के अर्थ को देखें और निश्चित करें कि इस प्रयास की कितनी सार्थकता है। यद्यपि मैं स्वयं इस तथ्य से सहमत हूँ कि इन ऋचाओं का यही एक मात्र अर्थ है ऐसा दावा नहीं किया जा सकता। अग्रिम पंक्तियों में कुछ ऋचाओं का जैन दृष्टिपरक अर्थ प्रस्तुत है। मेरी व्यस्तताओं के कारण वृषभवाची सभी 112 ऋचाओं का अर्थ तो नहीं कर पाया हूँ मात्र दृष्टि-बोध के लिये कुछ ऋचाओं की व्याख्या प्रस्तुत है। इस व्याख्या के सम्बन्ध में भी मात्र इतना ही कहा जा सकता है कि इन ऋचाओं के जो विभिन्न लाक्षणिक अर्थ सम्भव हैं उनमें एक अर्थ यह भी हो सकता है। इससे अधिक मेरा कोई दावा नहीं है।

ऋषभ वाची ऋग्वैदिक ऋचाओं की जैन दृष्टि से व्याख्या

असुशमिन्द्र ते गिरः प्रति त्वामुदहासत।

अजोषा वृषभं पतिम् ॥ (1.9.4)

हे इन्द्र ! (अजोषा) जिन्होंने स्त्री का त्याग कर दिया है, उन ऋषभ (पतिम्) स्वामी के प्रति आपकी जो अनेक प्रकार की वाणी (स्तुति) है, वह आपकी (भावनाओं) को उत्तमता पूर्वक अभिव्यक्त करती है। (जातव्य है कि जैन परम्परा में इन्द्र ही सर्वप्रथम जिन की स्तुति करता है - शक्रस्तव (नमोत्थुणं) का पाठ जैनों में सर्व प्रसिद्ध है)

त्वमग्ने वृषभः पुष्टिर्वर्धन उद्यतसुचे भवसि श्रवायः।

य आहुतिं परि वेदा वषट्कृतिमेकायुग्ने विश अविवाससि ॥ (1.31.5)

हे ज्योतिस्वरूप वृषभ ! आप पुष्टि करने वाले हैं जो लोप होम करने के लिए तत्पर हैं उनके लिए आ करके आप सुनने योग्य हैं अर्थात् उन्हें आहूत होकर आपके विचारों को जानना चाहिए। आप का उपदेश जानने योग्य है क्योंकि उसके आधार पर उत्तम क्रियायें की जा सकती हैं। आप एकायु अर्थात् चरम शरीरी हैं और तीर्थंकरों में प्रथम या अग्र हैं और प्रजा आप में ही निवास करती है अर्थात् आप की ही आज्ञा का अनुसरण करती है।

[जातव्य है - वैदिक दृष्टि से अग्नि के लिये एकायु एवं अग्र विशेषण का प्रयोग उतना समीचीन नहीं है जितना वृषभ तीर्थंकर के साथ है। उन्हें एकायु कहने का तात्पर्य यह है कि जिनका यही अन्तिम जीवन है। दूसरे प्रथम तीर्थंकर होने से उनके साथ अग्र विशेषण भी उपयुक्त है।]

न ये दिवः पृथिव्या अन्तमापुर्न मायाभिर्घनदां पर्यभूवन् ।
युजं वज्रं वृषभश्चक्र इन्द्रो निज्योतिषा तमसो गा अदुक्षत ॥ (1.33.10)

हे स्वामी (वृषभदेव) ! न तो स्वर्ग के और न पृथ्वी के वासी माया और घनादि (परिग्रह) से परिभूत होने के कारण आपकी मर्यादा (आपकी योग्यता) को प्राप्त नहीं होते हैं । हे वृषभ ! आप समाधियुक्त (युज), अतिकठोर साधक, व्रजमय शरीर के धारक और इन्द्रों के भी चक्रवर्ती है - ज्ञान के द्वारा अन्धकार (अज्ञान) का नाश करके गा अर्थात् प्रजा को सुखों से पूर्ण कीजिये ।

आ वर्षाणिप्रा वृषभो जनानां राजा कृष्टीनां पुरुहूत इन्द्रः ।
स्तुतः श्रवस्यन्वसोप मद्रियुक्ता हरी वृषणा याह्यर्वाङ् । (1.177.1)

बहुतों में प्रसिद्ध तथा बहुतों के द्वारा संस्तुत सबके उस विचक्षण बुद्धि महान ऋषभदेव की इस प्रकार स्तुति की जाती है । वह स्तुत्य होकर हमें वीरता, गोधन एवं विद्या प्रदान करें । हम उस तेजस्वी (ज्ञान) दाता को जाने या प्राप्त करें ।

त्वमग्रे इन्द्रो वृषभः सतामसि त्वं विष्णुरूगायो नमस्यः ।
त्वं ब्रह्मा रयिविद्रह्मणस्पते त्वं विधर्तः सद्यसे पुरन्ध्या ॥ (2.1.3)

हे ज्योति स्वरूप जिनेन्द्र ऋषभ आप सत्पुरुषों के बीच प्रणाम करने योग्य है । आप ही विष्णु है और आप ही ब्रह्मा हैं तथा आप ही विभिन्न प्रकार की बुद्धियों से युक्त मेधावी हैं । जिस सप्त किरणों वाले वृषभ ने सात सिन्धुओं को बहाया और निर्मल आत्मा पर चढ़े हुए कर्ममल को नष्ट कर दिया । वे बज्रबाहु इन्द्र अर्थात् जिनेन्द्र आप ही हैं ।

उन्मा अनानुदो वृषभो दोधतो वधो गम्भीर ऋष्वो असमष्टकाव्यः ।
रघघोदः श्रनथनो वीलितस्पृथुरिन्द्रः सुयज्ञः उषसः स्वर्जनत् ॥ (2.21.4)

दान देने में जिनके आगे कोई नहीं निकल सका ऐसे संसार को अर्थात् जन्म-मरण को क्षीण करने वाले कर्म शत्रुओं को मारने वाले असाधारण, कुशल, दृढ़ अगों वाले, उत्तम कर्म करने वाले ऋषभ ने सुयज्ञ रूपी अहिंसा धर्म का प्रकाशन किया ।

अनानुदो वृषभो जग्मिराहवं निष्टप्ता शत्रु पृतनासु सासहिः ।
असि सत्य ऋणया ब्रह्मणस्पत उग्रस्य चिद्दमिता वीकुहर्षिणः ॥ (2.23.11)

हे ज्ञान के स्वामी वृषभ तुम्हारे जैसा दूसरा दाता नहीं है । तुम आत्म शत्रुओं को तपाने वाले, उनका पराभव करने वाले, कर्म रूपी ऋण को दूर करने वाले, उत्तम हर्ष देने वाले कठोर साधक व सत्य के प्रकाशक हो ।

उन्मा ममन्द वृषभो मरुत्वान्त्वक्षीयसा वयसा नाधमानम ।
धृणीव च्छायामरण अशीयाऽऽविवासेयं रुद्रस्य सुगन्म् ॥ (2.33.6)

मरुत्वान् अर्थात् मरुदेवी के पुत्र ऋषभ हम (भिक्षुओं) को तेजस्वी अन्न से तृप्त करे। जिस प्रकार धूप से पीडित व्यक्ति छाया का आश्रय लेता है उसी प्रकार मैं भी पाप रहित होकर कठोर साधक वृषभ के सुख को प्राप्त कर व उनकी सेवा करूँ अर्थात् निर्वाण लाभ प्राप्त करूँ।

प्रदीधितिर्विश्रववारा जिगाति होतारमिलः प्रथमं यजथ्यै।

अच्छा नमोभिवृषभं वन्दथ्यै स देवान्यक्षदिषितो यजीयान् ॥ (3.4.3)

समग्र संसार के द्वारा वरेण्य तथा प्रकाश को करने वाली बुद्धि सबसे प्रथम पूजा करने के लिए ज्योति स्वरूप ऋषभ के पास जाती है। उस ऋषभ की वन्दना करने के लिए हम नमस्कार करते हुए उसके पास जायें। हमारे द्वारा प्रेरित होकर वह भी पूजनीय देवों की पूजा करें।

अषालहो अग्ने वृषभो दिदीहि पुरो विश्रवाः सौभगा सजिगीवान्।

यज्ञस्य नेता प्रथमस्य पायोजातविदो बृहतः सुप्रणीते ॥ (3.15.4)

हे अपराजित और तेजस्वी वृषभ आप सभी ऐश्वर्यशाली नगरों में धर्म युक्त कर्मों का प्रकाश कीजिए। हे सर्वज्ञ ! आप अहिंसा धर्म के उत्तम रीति से निर्णायक हुए, आप ही त्याग मार्ग के प्रथम नेता है। (जातव्य है कि यहां यज्ञ शब्द को त्याग मार्ग के अर्थ में ग्रहीत किया गया है।)

मरुत्वन्तं वृषभं वावृधानमकवारिं दिव्यं शासमिन्द्रम्।

विश्रवासाहमवसे नूतनायोयं सहोदामिह त्वं हुवेम ॥ (3.47.5)

मरुत्वान् विकासमान अवर्णनीय दिव्य शासक सभी (कर्म) शत्रुओं को हराने वाले वीर ऋषभ को हम आत्म-रक्षण के लिए यहाँ आमंत्रित करते हैं।

सद्यो ह जातो वृषभः कनीनः प्रभर्तुभावदन्धसः सुतस्य।

साधोः पिब प्रतिकामं यथा ते रसाशिरः प्रथमं सोम्यस्य ॥ (3.48.1)

उत्पन्न होते ही महाबलवान्, सुन्दर व तरुण उन वृषभ ने अन्नदान करने वालों का तत्काल रक्षण किया। हे जिनेन्द्र वृषभ ! समता रस के अन्दर मिलाये-मिश्रण का आप सर्वप्रथम पान करें।

पतिर्भवि वृत्रहन्त्सूनूतानां गिरां विश्वायुर्वृषभो वयोधाः।

आ नो गहि सख्येभिः शिवेभिर्महान्महीभिरुतिभिः सरण्यन् ॥ (3.31.18)

हे अज्ञान रूपी बादलों के विनाशक, सत्य और आनन्ददायक वाणियों के स्वामी पूर्ण आयु वाले (विश्वायु) महान् वृषभ मित्रता के भाव से युक्त होकर तथा शिव मार्ग (मोक्ष मार्ग) का प्रतिपादन करने हेतु त्याग मार्ग की ओर जाते हुए हमारी ओर आईये।

महौ उयो वावृधे वीर्याय समाचके वृषभः काव्येन।

इन्द्रो भगो वाजदा अस्य गावः प्र जायन्ते दक्षिणा अस्यपूर्वीः ॥ (3.36.5)

वे महान ऐश्वर्यवान्, कठोरतपस्वी भगवान् वृषभ अपने पुरुषार्थ के लिए अर्थात् निर्वाण की प्राप्ति के लिए आगे बढ़ते हैं। उनकी प्रजा और दान पूर्वकाल से ही प्रसिद्ध है।

[ज्ञातव्य है कि ऋषभ प्रथम शासक थे और उन्होंने अपनी प्रजा को सम्यक् जीवन शैली सिखायी थी तथा दीक्षा के पूर्व विपुल दान दिया था। इसी दृष्टि से यहाँ कहा गया है कि उनकी प्रजा (गाव) एवं दान पूर्व से ही प्रसिद्ध है।]

**असूत पूर्वा वृषभो ज्यायानिमा अस्य शुरुधः सन्ति पूर्वीः ।
दिवो नपाता विदथस्य धीमिः क्षत्रं राजाना प्रदिवो दधाथे ॥ (3.38.5)**

उन श्रेष्ठ ऋषभदेव ने पूर्वी को उत्पन्न किया अथवा वे पूर्व ज्ञान से युक्त हुए। जिस प्रकार वर्षा करने वाला मेघ (वृषभ) पृथ्वी की प्यास बुझाता है उसी प्रकार वे पूर्वी के ज्ञान के द्वारा जनता की प्यास को बुझाते हैं। हे वृषभ ! आप राजा और क्षत्रिय हैं तथा आत्मा का पतन नहीं होने देते हैं।

**यदन्यासु वृषभो रोरवीति सो अन्यस्मिन्यूथ नि दधाति रेतः ।
स हि क्षपावान्त्स भगः स राजा महद्देवानामसुरत्वमेकम् ॥ (3.55.17)**

जिस प्रकार वृषभ अन्य यूथों में जाकर डकारता है और अन्य यूथों में जाकर अपने वीर्य को स्थापित करता है। उसी प्रकार ऋषभदेव भी अन्य दार्शनिक समूह में जाकर अपनी वाणी का प्रकाश करते हैं और अपने सिद्धान्त का स्थापन करते हैं। वे ऋषभ कर्मों का क्षपण करने वाले अथवा संयमी अथवा जिनका प्रमाद नष्ट हो ऐसे अप्रमत्त भगवान्, राजा, देवों और असुरों में महान हैं।

**चत्वारि शृंगा त्रयो अस्य पादा द्वे शीर्षे सप्त हस्तासो अस्य ।
त्रिधा बद्धो वृषभो रोरवीति ऋभो देवो मर्त्या आ विवेश ॥ (4.58.3)**

वे ऋषभ देव अन्नत चतुष्टय रूपी चार शृंगों से तथा सम्यक् ज्ञान, दर्शन एवं चारित्ररूपी तीन पादों से युक्त हैं। ज्ञानोपयोग व दर्शनोपयोग ऐसे दो सिरों, पाँच इन्द्रियों, मन एवं बुद्धि ऐसे सात हाथों से युक्त हैं। वे तीन योगों से बद्ध होकर मृत्यों में निवास करते हैं। वे महादेव ऋषभ अपनी वाणी का प्रकाशन करते हैं।

सन्दर्भ

1. जैन, डॉ. सागरमल, जैन, बौद्ध और गीता का साधना मार्ग, राजस्थान प्राकृत भारती, जयपुर 1982, पृ. भूमिका पृ. 6-10
2. निगंथ सक्क तावस गेरुय आजीव पंचहा समणा-पिण्डनिर्युक्ति 445, निर्युक्तिसंग्रह सं. विजय जिनेन्द्र सूरीश्वर श्री हर्ष पुष्पामृत जैन ग्रन्थ माला लाखाबाबल जामनगर
3. (अ) निगंथ धम्ममि इमा समाही, सुयगडो, जैन विश्वभारती लाहँनू 2 16 142
(ब) निगण्ठो नाटपुत्तो -- दीघनिकाय, महापरिनिव्वाण सुत्त-सुभयपरिव्वाजकवत्थुन 3 123 186
(स) निगण्ठेसु पि मे कटे इमे वियापटा होहंति -- जैन शिलालेखसंग्रह भाग-2, लेख क्रमांक -1
4. इसिभासियाइं सुत्ताइं - प्राकृत भारती अकादमी जयपुर, 1988
देखें-- भूमिका, सागरमल जैन, पृ. 19-20 [सामान्यतया सम्पूर्ण भूमिका ही द्रष्टव्य है]
5. ज्ञातव्य है कि ऋग्वेद 10 185 14 में बार्हत शब्द तो मिलता है, किन्तु आर्हत शब्द नहीं मिलता है यद्यपि अर्हन एवं 'अर्हन्तो' शब्द मिलते हैं, किन्तु ब्राह्मणों, आरण्यकों आदिमें आर्हत और बार्हत दोनों शब्द मिलते हैं ।
6. देखें-- सुतं मेतं भन्ते-वज्जी यानि तानि वज्जीनं वज्जिचेतियानि अब्भन्तरानि घेव बाहिरानि तानि सक्कारोन्ति गरं करोन्तिमानेन्ति पूजेन्ति ।
.. वज्जीनं अरहन्तेसु धम्मिका रक्खाआवरणगुत्ति, सुसंविहिता किन्ति अनागता च अरहन्तो विजितं आगच्छेय्युं आगता च अरहन्तो विजिते फासु विहरेय्युं । -- दीघनिकाय महापरिनिव्वाणसुत्तं 3 11 14 (नालन्दा देवनागरी पालि सिरीज)
7. देखें-- संस्कृत-हिन्दी कोश - बृहत् (वि.) स्त्री. ती, बृहती नपुं. 1 वेद 2 सामवेद का मंत्र, 3 ब्रह्म (सं. वामन शिवराम आप्टे, मोतीलाल बनारसीदास देहली-7 द्वि सं. 1984, पृ. 720)
8. देखें-- देवो देयान् यजत्विग्नरर्हन् ऋग्वेद 1 194 11, 2 13 11, 3, 2 133 110, 5 17 12, 5 152 15, 5 187 15, 7 118 122, 10 199 17,
वैदिक पदानुक्रम-कोष, प्रथमखण्डः विश्वेश्वरानन्द वैदिक शोधसंस्थान, होशियार पुर, 1976, पृ. 518
9. जुद्धारिहं खलु दुल्लभं । -- आचारांग 1 11 15 13
इमेण घेव जुज्झाहि, किं ते जुज्झेण बज्झओ - आचारांग 1 11 15 13
10. (A) Radha Krishnan-Indian philosophy (1st edition) Vol. 1, p. 287.

(B) Indian Antiquary, Vol. IX, Page 163.

11. बर्हिषि तस्मिन्नेव विष्णुदत्त भगवान् परमर्षिभिः नामैः प्रिय चिकीर्षया तद्वरोधाय ने मरुदेव्यां धर्मान् दर्शयितु कामो वातरशानानां श्रमणानामृषीणामूर्ध्वमन्दिनां शुक्लया तन्वावतार । --श्रीमद्भागवत 5।3।20
12. देखें-- (अ) लिगपुराण 48।19-23
 (ब) शिवपुराण 52।85
 (स) आग्नेयपुराण 10।11-12
 (द) ब्रह्मण्डपुराण 14।53
 (इ) विष्णुपुराण-द्वितीयांश अ.1।26-27.
 (एफ) कूर्मपुराण 41।37-38
 (जी) वराहपुराण अ.74
 (एच) स्कन्धपुराण अध्याय 37
 (आई) मार्कण्डेयपुराण अध्याय 50।39-41
 देखें अहिंसावाणी - तीर्थकर भ. ऋषभदेव विशेषांक वर्ष 7 अंक 1-2
 मरुपुर ऋषभ - श्री राजाराम जैन, पृ.87-92
13. वृषभ यथा शृगे शिशानः दविध्वत् - वृषभ = बैल 8।60।13, 6।16।47, 7।19।11
14. वृषभः इन्द्रः वज्रं युजं - वृषभ = बलवान 1।33।10
 त्वं वृषभः पुष्टिर्वधन - वृषभ = वलिष्ट 1।31।5
15. देखें-- ऋषभ एवं बृषभ शब्द - संस्कृत हिन्दी कोश, वामन शिवराम आप्टे, मोतीलाल बनारसी दास, दिल्ली 1984, पृष्ठ 224 एवं 973
16. वृषभः = वर्षा करने वाला 5।58।13
 ज्ञातव्य है कि स्वामी दयानन्द ने इन्द्र के साथ प्रयुक्त वृषभ शब्द को इन्द्र का विशेषण मानकर उसका अर्थ वर्षा करने वाला किया है। देखें - 5।43।13, 5।58।16
17. वृषभः बृहस्पति = कामनाओं के वर्षक बृहस्पति - 10।92।90
 वृषभः प्रजां वर्षतीति वाति बृहतिरेत इति वा तद् वृषकर्मा वर्षणाद् वृषभः ।
 - निरुक्तम् (यास्कमहर्षि प्रकाशितं) 9।22।11
18. अनर्थका हि मन्त्राः - निरुक्त, अध्याय 1 खण्ड 15 पाद 5 सूत्र 2
 - खेमराज श्रीकृष्णदास मुम्बय्या संवत् 1982
19. ऋग्वेद भाषाभाष्य - दयानन्द सरस्वती - दयानन्द संस्थान, नई दिल्ली-5
 देखें - ऋग्वेद 10।111।2 का भाष्य।
20. ऋग्वेद का सुबोध भाष्य पद्मभूषण डॉ. श्री पाद दामोदर सतवलेकर स्वाध्याय मण्डल पारडी - जिला बलसाद, 1985
 देखें ऋग्वेद 10।111।2 का भाष्य।
21. वही, देखें ऋग्वेद 4।58।13

22. ऋग्वेद भाषा भाष्य, दयानन्द सरस्वती, दयानन्द संस्थान, नई दिल्ली-5
देखें - ऋग्वेद 4।58।3
23. भक्तामरस्तोत्र (मानतुंग), 23, 24, 25
त्वामामनन्ति मुनयः परमं पुमांस --
मादित्यवर्णममलं तमसः परस्तात् ।
त्वामेव सम्यगुपलभ्य जयन्ति मृत्युं
नान्यः शिवः शिवपदस्य मुनीन्द्र ! पन्थाः ।।23।।
त्वामव्ययं विभुमचिन्त्यमसंख्यमाद्यं
ब्रह्माण्मीश्वरमनन्तमनङ्गकेतुम् ।
योगीश्वरं विदितयोगमनेकमेकं
ज्ञानस्वरूपममलं प्रवदन्ति सन्तः ।।24।।
बुद्धस्त्वमेव विबुधार्चितबुद्धिबोधात्
त्वं शङ्करोऽसि भुवनत्रयशङ्करत्वात् ।
धातासि धीर शिवमार्गविधोर्विधानाद्
व्यक्तं त्वमेव भगवन् पुरुषोत्तमोऽसि ।।25।।

- डॉ. सागरमल जैन, पार्श्वनाथ शोधपीठ, वाराणसी-5.

निर्युक्ति साहित्य : एक पुनर्चिन्तन

- प्रो. सागरमल जैन

जिस प्रकार वेदों के शब्दों की व्याख्या के रूप में सर्वप्रथम निरुक्त लिखे गये, सम्भवतः उसी प्रकार जैन परम्परा में आगमों की व्याख्या के लिए सर्वप्रथम निर्युक्तियाँ लिखने का कार्य हुआ। जैन आगमों की व्याख्या के रूप में लिखे गये ग्रन्थों में निर्युक्तियाँ प्राचीनतम हैं। आगमिक व्याख्या साहित्य मुख्य रूप से निम्न पाँच रूप में विभक्त किया जा सकता है -- 1. निर्युक्ति 2. भाष्य 3. चूर्णि 4. संस्कृत वृत्तियाँ एवं टीकाएँ और 5. टब्बा अर्थात् आगमिक शब्दों को स्पष्ट करने के लिए प्राचीन मरु-गुर्जर में लिखा गया आगमों का शब्दार्थ। इनके अतिरिक्त सम्प्रति आधुनिक भाषाओं यथा हिन्दी, गुजराती एवं अंग्रेजी में भी आगमों पर व्याख्याएँ लिखी जा रही हैं।

सुप्रसिद्ध जर्मन विद्वान शारपेन्टियर उत्तराध्ययनसूत्र की भूमिका में निर्युक्ति की परिभाषा को स्पष्ट करते हुए लिखते हैं कि 'निर्युक्तियाँ मुख्य रूप से केवल विषयसूची का काम करती हैं। वे सभी विस्तारयुक्त घटनाओं को संक्षेप में उल्लिखित करती हैं।'

अनुयोगद्वारसूत्र में निर्युक्तियों के तीन विभाग किये गये हैं --

1. निक्षेप-निर्युक्ति -- इसमें निक्षेपों के आधार पर पारिभाषक शब्दों का अर्थ स्पष्ट किया जाता है।
2. उपोद्घात-निर्युक्ति -- इसमें आगम में वर्णित विषय का पूर्वभूमिका के रूप में स्पष्टीकरण किया जाता है।
3. सूत्रस्पर्शिक-निर्युक्ति -- इसमें आगम की विषय-वस्तु का उल्लेख किया जाता है।

प्रो. घाटके इण्डियन हिरटारीकल क्वार्टरली खण्ड १२५२७० में निर्युक्तियों को निम्न तीन विभागों में विभक्त किया है --

1. शुद्ध-निर्युक्तियाँ -- जिनमें काल के प्रभाव से कुछ भी मिश्रण न हुआ हो, जैसे आचारांग और सूत्रकृतांग की निर्युक्तियाँ।
2. मिश्रित किन्तु व्यवच्छेद्य-निर्युक्तियाँ -- जिनमें मूलभाष्यों का समिश्रण हो गया है, तथापि वे व्यवच्छेद्य हैं, जैसे दशवैकालिक और आवश्यकसूत्र की निर्युक्तियाँ।
3. भाष्य मिश्रित-निर्युक्तियाँ -- वे निर्युक्तियाँ जो आजकल भाष्य या बृहद्भाष्य में ही समाहित हो गयी हैं और उन दोनों को पृथक्-पृथक् करना कठिन है। जैसे निशीथ आदि की निर्युक्तियाँ।

निर्युक्तियाँ वस्तुतः आगमिक परिभाषिक शब्दों एवं आगमिक विषयों के अर्थ को सुनिश्चित करने की एक प्रयत्न हैं। फिर भी निर्युक्तियाँ अति संक्षिप्त हैं, इनमें मात्र आगमिक शब्दों एवं विषयों के अर्थ-संकेत ही हैं, जिन्हें भाष्य और टीकाओं के माध्यम से ही सम्यक् प्रकार से समझा जा सकता है। जैन आगमों की व्याख्या के रूप में जिन निर्युक्तियों का प्रणयन हुआ, वे मुख्यतः प्राकृत गाथाओं में हैं। आवश्यकनिर्युक्ति में निर्युक्ति शब्द का अर्थ और निर्युक्तियों के लिखने का प्रयोजन बताते हुए कहा गया है -- "एक शब्द के अनेक अर्थ होते हैं, अतः कौन सा अर्थ किस प्रसंग में उपयुक्त है, यह निर्णय करना आवश्यक होता है। भगवान् महावीर के उपदेश के आधार पर लिखित आगमिक ग्रन्थों में कौन से शब्द का क्या अर्थ है, इसे स्पष्ट करना ही निर्युक्ति का प्रयोजन है।"¹ दूसरे शब्दों में निर्युक्ति जैन परम्परा के पारिभाषिक शब्दों का स्पष्टीकरण है; यहाँ हमें स्मरण रहे कि जैन परम्परा में अनेक शब्द अपने व्युत्पत्तिपरक अर्थ में ग्रहीत न होकर अपने पारिभाषिक अर्थ में ग्रहीत हैं, जैसे -- अस्तिकायों के प्रसंग में धर्म एवं अधर्म शब्द, कर्म सिद्धान्त के सन्दर्भ में प्रयुक्त कर्म शब्द अथवा स्याद्वाद में प्रयुक्त स्यात् शब्द। आचारांग में 'दसण' (दर्शन) शब्द का जो अर्थ है, उत्तराध्ययन में उसका वही अर्थ नहीं है। दर्शनावरण में दर्शन शब्द का जो अर्थ होता है वही अर्थ दर्शन मोह के सन्दर्भ में नहीं होता है। अतः आगम ग्रन्थों में शब्द के प्रसंगानुसार अर्थ का निर्धारण करने में निर्युक्तियों का महत्त्वपूर्ण स्थान रहा है।

निर्युक्तियों की व्याख्या-शैली का आधार मुख्य रूप से जैन परम्परा में प्रचलित निक्षेप-पद्धति रही है। जैन परम्परा में वाक्य के अर्थ का निश्चय नयों के आधार पर एवं शब्द के अर्थ का निश्चय निक्षेपों के आधार पर होता है। निक्षेप चार हैं -- नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव। इन चार निक्षेपों के आधार पर एक ही शब्द के चार भिन्न अर्थ हो सकते हैं। निक्षेप-पद्धति में शब्द के सम्भावित विविध अर्थों का उल्लेख कर उनमें से अप्रस्तुत अर्थ का निषेध करके प्रस्तुत अर्थ का ग्रहण किया जाता है। उदाहरण के रूप में आवश्यक-निर्युक्ति के प्रारम्भ में अभिनिबोध ज्ञान के चार भेदों के उल्लेख के पश्चात् उनके अर्थों को स्पष्ट करते हुये कहा गया है कि अर्थों (पदार्थों) का ग्रहण अवग्रह है एवं उनके सम्बन्ध में चिन्तन ईहा है।² इसी प्रकार निर्युक्तियों में किसी एक शब्द के पर्यायवाची अन्य शब्दों का भी संकलन किया गया है, जैसे -- आभिनिबोधिक शब्द के पर्याय हैं -- ईहा, अपोह, विमर्श, मार्गणा, गवेषणा, संज्ञा, स्मृति, मति एवं प्रज्ञा।³ निर्युक्तियों की विशेषता यह है कि जहाँ एक ओर वे आगमों के महत्त्वपूर्ण पारिभाषिक शब्दों के अर्थों को स्पष्ट करती हैं, वहीं आगमों के विभिन्न अध्ययनों और उद्देशकों का संक्षिप्त विवरण भी देती हैं। यद्यपि इस प्रकार की प्रवृत्ति सभी निर्युक्तियों में नहीं है, फिर भी उनमें आगमों के पारिभाषिक शब्दों के अर्थ का तथा उनकी विषय-वस्तु का अति संक्षिप्त परिचय प्राप्त हो जाता है।

प्रमुखनिर्युक्तियाँ

आवश्यकनिर्युक्ति में लेखक ने जिन दस निर्युक्तियों के लिखने की प्रतिज्ञा की थी, वे निम्न हैं⁴ --

1. आवश्यक-निर्युक्ति
2. दशवैकालिक-निर्युक्ति
3. उत्तराध्ययन-निर्युक्ति
4. आचारांग-निर्युक्ति
5. सूत्रकृतांग-निर्युक्ति
6. दशाश्रुतस्कंध-निर्युक्ति
7. बृहत्कल्प-निर्युक्ति
8. व्यवहार-निर्युक्ति
9. सूर्य-प्रज्ञप्ति-निर्युक्ति
10. ऋषिभाषित-निर्युक्ति

वर्तमान में उपर्युक्त दस में से आठ ही निर्युक्तियाँ उपलब्ध हैं, अन्तिम दो अनुपलब्ध हैं। आज यह निश्चय कर पाना अति कठिन है कि वे अन्तिम दो निर्युक्तियाँ लिखी भी गयी या नहीं ? क्योंकि हमें कही भी ऐसा कोई निर्देश उपलब्ध नहीं होता, जिसके आधार पर हम यह कह सकें कि किसी काल में ये निर्युक्तियाँ रहीं और बाद में विलुप्त हो गयीं। यद्यपि मैंने अपनी ऋषिभाषित की भूमिका⁵ में यह सम्भावना व्यक्त की है कि वर्तमान 'इसीमण्डलत्यू' सम्भवतः ऋषिभाषित निर्युक्ति का परिवर्तित रूप हो, किन्तु इस सम्बन्ध में निर्णयात्मक रूप से कुछ भी कहना कठिन है। इन दोनों निर्युक्तियों के सन्दर्भ में हमारे सामने तीन विकल्प हो सकते हैं--

1. सर्वप्रथम यदि हम यह मानें कि इन दसों निर्युक्तियों के लेखक एक ही व्यक्ति हैं और उन्होंने इन निर्युक्तियों की रचना उसी क्रम में की है, जिस क्रम से इनका उल्लेख आवश्यक निर्युक्ति में हैं, तो ऐसी स्थिति में यह सम्भव है कि वे अपने जीवन-काल में आठ निर्युक्तियों की ही रचना कर पायें हों तथा अन्तिम दो की रचना नहीं कर पायें हों।

2. दूसरे यह भी सम्भव है कि ग्रन्थों के महत्त्व को ध्यान में रखते हुए प्रथम तो लेखक ने यह प्रतिज्ञा कर ली हो कि वह इन दसों आगम ग्रन्थों पर निर्युक्ति लिखेगा, किन्तु जब उसने इन दोनों आगम ग्रन्थों का अध्ययन कर यह देखा कि सूर्य-प्रज्ञप्ति में जैन-आचार मर्यादाओं के प्रतिकूल कुछ उल्लेख हैं और ऋषिभाषित में नारद, मंखलिगोशाल आदि उन व्यक्तियों के उपदेश संकलित हैं जो जैन परम्परा के लिए विवादास्पद हैं, तो उसने इन पर निर्युक्ति लिखने का विचार स्थगित कर दिया हो।

3. तीसरी सम्भावना यह भी है कि उन्होंने इन दोनों ग्रन्थों पर निर्युक्तियाँ लिखी हों किन्तु इनमें भी विवादित विषयों का उल्लेख होने से इन निर्युक्तियों को पठन-पाठन से बाहर रखा गया हो और फलतः अपनी उपेक्षा के कारण कालक्रम में वे विलुप्त हो गयी हों। यद्यपि यहाँ एक शंका हो सकती है कि, यदि जैन आचार्यों ने विवादित होते हुए भी इन दोनों ग्रन्थों को संरक्षित करके रखा तो उन्होंने इनकी निर्युक्तियों को संरक्षित करके क्यों नहीं रखा ?

4. एक अन्य विकल्प यह भी हो सकता है कि जिस प्रकार दर्शनप्रभावक ग्रन्थ के रूप

में मान्य गोविन्दनिर्युक्ति विलुप्त हो गई है, उसी प्रकार ये निर्युक्तियाँ भी विलुप्त हो गई हों।

निर्युक्ति साहित्य में उपरोक्त दस निर्युक्तियों के अतिरिक्त पिण्डनिर्युक्ति, ओघनिर्युक्ति एवं आराधनानिर्युक्ति को भी समाविष्ट किया जाता है, किन्तु इनमें से पिण्डनिर्युक्ति और ओघनिर्युक्ति कोई स्वतन्त्र ग्रन्थ नहीं है। पिण्डनिर्युक्ति दशवैकालिक निर्युक्ति का एक भाग है और ओघनिर्युक्ति भी आवश्यक निर्युक्ति का एक अंश है। अतः इन दोनों को स्वतन्त्र निर्युक्ति ग्रन्थ नहीं कहा जा सकता है। यद्यपि वर्तमान में ये दोनों निर्युक्तियाँ अपने मूल ग्रन्थ से अलग होकर स्वतन्त्र रूप में ही उपलब्ध होती हैं। आचार्य मलयगिरि ने पिण्डनिर्युक्ति को दशवैकालिकनिर्युक्ति का ही एक विभाग माना है, उनके अनुसार दशवैकालिक के पिण्डेषणा नामक पाँचवें अध्ययन पर विशद निर्युक्ति होने से उसको वहाँ से पृथक् करके पिण्डनिर्युक्ति के नाम से एक स्वतन्त्र ग्रन्थ बना दिया गया। मलयगिरि स्पष्ट रूप से कहते हैं कि जहाँ दशवैकालिक निर्युक्ति में लेखक ने नमस्कारपूर्वक प्रारम्भ किया, वही पिण्डनिर्युक्ति में ऐसा नहीं है, अतः पिण्डनिर्युक्ति स्वतन्त्र ग्रन्थ नहीं है। दशवैकालिकनिर्युक्ति तथा आवश्यकनिर्युक्ति से इन्हें बहुत पहले ही अलग कर दिया गया था। जहाँ तक आराधनानिर्युक्ति का प्रश्न है, श्वेताम्बर साहित्य में तो कहीं भी इसका उल्लेख नहीं है। प्रो. ए.एन. उपाध्ये ने बृहत्कथाकोश की अपनी प्रस्तावना⁶ (पृ. 31) में मूलाचार की एक गाथा की वसुनन्दी की टीका के आधार पर इस निर्युक्ति का उल्लेख किया है, किन्तु आराधनानिर्युक्ति की उनकी यह कल्पना यथार्थ नहीं है। मूलाचार के टीकाकार वसुनन्दी स्वयं एवं प्रो. ए.एन. उपाध्ये जी मूलाचार की उस गाथा के अर्थ को सम्यक् प्रकार से समझ नहीं पाये हैं।⁷

वह गाथा निम्नानुसार है --

"आराहण णिज्जुति मरणविभक्ती य संगहत्थुदिओ ।
पच्चक्खाणावसय धम्मकहाओ य एरिसओ ।"

[मूलाचार, पंचचारधिकार, 279]

अर्थात् आराधना, निर्युक्ति, मरणविभक्ति, संग्रहणीसूत्र, स्तुति (वीरस्तुति), प्रत्याख्यान (महाप्रत्याख्यान, आतुरप्रत्याख्यान), आवश्यकसूत्र, धर्मकथा तथा ऐसे अन्य ग्रन्थों का अध्ययन अस्वाध्याय काल में किया जा सकता है। वस्तुतः मूलाचार की इस गाथा के अनुसार आराधना एवं निर्युक्ति ये अलग-अलग स्वतन्त्र ग्रन्थ हैं। इसमें आराधना से तात्पर्य आराधना नामक प्रकीर्णक अथवा भगवती-आराधना से तथा निर्युक्ति से तात्पर्य आवश्यक आदि सभी निर्युक्तियों से है।

अतः आराधनानिर्युक्ति नामक निर्युक्ति की कल्पना अयथार्थ है। इस निर्युक्ति के अस्तित्व की कोई सूचना अन्यत्र भी नहीं मिलती है और न यह ग्रन्थ ही उपलब्ध होता है। इन दस निर्युक्तियों के अतिरिक्त आर्य गोविन्द की गोविन्दनिर्युक्ति का भी उल्लेख मिलता है, किन्तु यह भी निर्युक्ति वर्तमान में अनुपलब्ध है। इनका उल्लेख नन्दीसूत्र⁸, व्यवहार-भाष्य⁹, आवश्यकचूर्ण¹⁰ एवं निशीथचूर्ण¹¹ में मिलता है। इस निर्युक्ति की विषय वस्तु मुख्य रूप से

एकेन्द्रिय अर्थात् पृथ्वी, पानी, अग्नि, वायु, वनस्पति आदि में जीवन की सिद्धि करना था। इसे गोविन्द नामक आचार्य ने बनाया था और उनके नाम के आधार पर ही इसका नामकरण हुआ है। कथानकों के अनुसार ये बौद्ध परम्परा से आकर जैन परम्परा में दीक्षित हुए थे। मेरी दृष्टि में यह निर्युक्ति आचारांग के प्रथम अध्ययन और दशवैकालिक के चतुर्थ षट्-जीव निकाय नामक अध्ययन से सम्बन्धित रही होगी और इसका उद्देश्य बौद्धों के विरुद्ध पृथ्वी, पानी आदि में जीवन की सिद्धि करना रहा होगा। यही कारण है इसकी गणना दर्शन प्रभावक ग्रन्थ में की गयी है। संज्ञी-श्रुत के सन्दर्भ में इसका उल्लेख भी यही बताता है।¹²

इसी प्रकार संसक्त निर्युक्ति¹³ नामक एक और निर्युक्ति का उल्लेख मिलता है। इसमें 84 आगमों के सम्बन्ध में उल्लेख है। इसमें मात्र 94 गाथाएं हैं। 84 आगमों का उल्लेख होने से विद्वानों ने इसे पर्याप्त परवर्ती एवं विसंगत रचना माना है। अतः इसे प्राचीन निर्युक्ति साहित्य में परिगणित नहीं किया जा सकता है। इस प्रकार वर्तमान निर्युक्तियाँ दस निर्युक्तियों में समाहित हो जाती हैं। इनके अतिरिक्त अन्य किसी निर्युक्ति नामक ग्रन्थ की जानकारी हमें नहीं है।

दस निर्युक्तियों का रचना क्रम :

यद्यपि दसों निर्युक्तियाँ एक ही व्यक्ति की रचनायें हैं। फिर भी इनकी रचना एक क्रम में हुई होगी। आवश्यकनिर्युक्ति में जिस क्रम से इन दस निर्युक्तियों का नामोल्लेख है¹⁴ उसी क्रम से उनकी रचना हुई होगी, विद्वानों के इस कथन की पुष्टि निम्न प्रमाणों से होती है --

1. आवश्यकनिर्युक्ति की रचना सर्वप्रथम हुई है, यह तथ्य स्वतः सिद्ध है, क्योंकि इसी निर्युक्ति में सर्वप्रथम दस निर्युक्तियों की रचना करने की प्रतिज्ञा की गयी है और उसमें भी आवश्यक का नामोल्लेख सर्वप्रथम हुआ है।¹⁵ पुनः आवश्यकनिर्युक्ति से निह्नववाद से सम्बन्धित सभी गाथाएं (गाथा 778 से 784 तक)¹⁶ उत्तराध्ययननिर्युक्ति में (गाथा 164 से 178 तक)¹⁷ में ली गयी है। इससे भी यही सिद्ध होता है कि आवश्यकनिर्युक्ति के बाद ही उत्तराध्ययननिर्युक्ति आदि अन्य निर्युक्तियों की रचना हुई है। आवश्यकनिर्युक्ति के बाद सबसे पहले दशवैकालिकनिर्युक्ति की रचना हुई है और उसके बाद प्रतिज्ञागाथा के क्रमानुसार अन्य निर्युक्तियों की रचना की गई। इस कथन की पुष्टि आगे दिये गये उत्तराध्ययननिर्युक्ति के सन्दर्भों से होती है।

2. उत्तराध्ययननिर्युक्ति गाथा 29 में 'विनय' की व्याख्या करते हुए यह कहा गया है-- 'विणओ पुव्वुदिदट्ठा' अर्थात् विनय के सम्बन्ध में हम पहले कह चुके हैं।¹⁸ इसका तात्पर्य यह है कि उत्तराध्ययननिर्युक्ति की रचना से पूर्व किसी ऐसी निर्युक्ति की रचना हो चुकी थी, जिसमें विनय सम्बन्धी विवेचन था। यह बात दशवैकालिक निर्युक्ति को देखने से स्पष्ट हो जाती है, क्योंकि दशवैकालिकनिर्युक्ति में विनय समाधि नामक नवें अध्ययन की निर्युक्ति (गाथा 309 से 326 तक) में 'विनय' शब्द की व्याख्या है।¹⁹ इसी प्रकार उत्तराध्ययननिर्युक्ति (गाथा, 207) में 'कामापुव्वुदिदट्ठा' कहकर यह सूचित किया गया है कि

काम के विषय में पहले विवेचन किया जा चुका है।²⁰ यह विवेचन भी हमें दशवैकालिकनिर्युक्ति की गाथा 161 से 163 तक में मिल जाता है।²¹ उपरोक्त दोनों सूचनाओं के आधार पर यह बात सिद्ध होती है कि उत्तराध्ययननिर्युक्ति दशवैकालिकनिर्युक्ति के बाद ही लिखी गयी।

3. आवश्यकनिर्युक्ति के बाद दशवैकालिकनिर्युक्ति और फिर उत्तराध्ययननिर्युक्ति की रचना हुई, यह तो पूर्व चर्चा से सिद्ध हो चुका है। इन तीनों निर्युक्तियों की रचना के पश्चात् आचारांगनिर्युक्ति की रचना हुई है, क्योंकि आचारांग निर्युक्ति की गाथा 5 में कहा गया है -- 'आयारे अंगम्मि य पुव्वुदिदट्ठा चउक्कयं निक्खेवो' -- आचार और अंग के निक्षेपों का विवेचन पहले हो चुका है।²² दशवैकालिकनिर्युक्ति में दशवैकालिकसूत्र के क्षुल्लकाचार अध्ययन की निर्युक्ति (गाथा 79-88) में 'आचार' शब्द के अर्थ का विवेचन²² तथा उत्तराध्ययननिर्युक्ति में उत्तराध्ययनसूत्र के तृतीय 'चतुरंग' अध्ययन की निर्युक्ति करते हुए गाथा 143-144 में 'अंग' शब्द का विवेचन किया है।²³ अतः यह सिद्ध होता है कि आवश्यक, दशवैकालिक एवं उत्तराध्ययन के पश्चात् ही आचारांगनिर्युक्ति का काम है।

इसी प्रकार आचारांग की चतुर्थ विमुक्तिचूलिका की निर्युक्ति में 'विमुक्ति' शब्द की निर्युक्ति करते हुए गाथा 331 में लिखा है कि 'मोक्ष' शब्द की निर्युक्ति के अनुसार ही 'विमुक्ति' शब्द की निर्युक्ति भी समझना चाहिए।²⁴ चूंकि उत्तराध्ययन के अट्ठावीसवें अध्ययन की निर्युक्ति (गाथा 497-98) में मोक्ष शब्द की निर्युक्ति की जा चुकी थी।²⁵ अतः इससे यही सिद्ध हुआ कि आचारांगनिर्युक्ति का क्रम उत्तराध्ययन के पश्चात् है। आवश्यकनिर्युक्ति, दशवैकालिकनिर्युक्ति, उत्तराध्ययननिर्युक्ति एवं आचारांगनिर्युक्ति के पश्चात् सूत्रकृतांगनिर्युक्ति का क्रम आता है। इस तथ्य की पुष्टि इस आधार पर भी होती है कि सूत्रकृतांगनिर्युक्ति की गाथा 99 में यह उल्लिखित है कि 'धर्म' शब्द के निक्षेपों का विवेचन पूर्व में हो चुका है (धम्मोपुव्वुदिदट्ठो)।²⁶ दशवैकालिकनिर्युक्ति में दशवैकालिकसूत्र की प्रथम गाथा का विवेचन करते समय धर्म शब्द के निक्षेपों का विवेचन हुआ है।²⁷ इससे यह सिद्ध होता है कि सूत्रकृतांगनिर्युक्ति, दशवैकालिकनिर्युक्ति के बाद निर्मित हुई है। इसी प्रकार सूत्रकृतांगनिर्युक्ति की गाथा 127 में कहा है 'गथोपुव्वुदिदट्ठो'।²⁸ हम देखते हैं कि उत्तराध्ययननिर्युक्ति गाथा 267-268 में ग्रन्थ शब्द के निक्षेपों का भी कथन हुआ है।²⁹ इससे सूत्रकृतांगनिर्युक्ति भी दशवैकालिकनिर्युक्ति एवं उत्तराध्ययननिर्युक्ति से परवर्ती ही सिद्ध होती है।

4. उपर्युक्त पाँच निर्युक्तियों के यथाक्रम से निर्मित होने के पश्चात् ही तीन छेद सूत्रों यथा -- दशाश्रुतस्कंध, बृहत्कल्प एवं व्यवहार पर निर्युक्तियाँ भी उनके उल्लेख क्रम से ही लिखीं गयीं हैं, क्योंकि दशाश्रुतस्कंधनिर्युक्ति के प्रारम्भ में ही प्राचीनगोत्रीय सकल श्रुत के ज्ञाता और दशाश्रुतस्कंध, बृहत्कल्प एवं व्यवहार के रचयिता भद्रबाहु को नमस्कार किया गया है। इसमें भी इन तीनों ग्रन्थों का उल्लेख उसी क्रम से है जिस क्रम से निर्युक्ति-लेखन की प्रतिज्ञा में है।³⁰ अतः यह कहा जा सकता है कि इन तीनों ग्रन्थों की निर्युक्तियाँ इसी क्रम में लिखी गयी होंगी। उपर्युक्त आठ निर्युक्तियों की रचना के पश्चात् ही सूर्यप्रज्ञप्ति एवं इसिभासियाइ की निर्युक्ति की रचना होनी थी। इन दोनों ग्रन्थों पर निर्युक्तियाँ लिखीं भी गयीं या नहीं, आज यह

निर्णय करना अत्यन्त कठिन है, क्योंकि पूर्वोक्त प्रतिज्ञा गाथा के अतिरिक्त हमें इन निर्युक्तियों के सम्बन्ध में कहीं भी कोई भी सूचना नहीं मिलती है। अतः इन निर्युक्तियों की रचना होना संदिग्ध ही है। या तो इन निर्युक्तियों के लेखन का क्रम आने से पूर्व ही निर्युक्तिकार का स्वर्गवास हो चुका होगा या फिर इन दोनों ग्रन्थों में कुछ विवादित प्रसंगों का उल्लेख होने से निर्युक्तिकार ने इनकी रचना करने का निर्णय ही स्थगित कर दिया होगा।

अतः सम्भावना यही है कि ये दोनों निर्युक्तियाँ लिखी ही नहीं गईं, चाहे इनके नहीं लिखे जाने के कारण कुछ भी रहे हों। प्रतिज्ञागाथा के अतिरिक्त सूत्रकृतांगनिर्युक्ति गाथा 189 में ऋषिभाषित का नाम अवश्य आया है।³¹ वहाँ यह कहा गया है कि जिस-जिस सिद्धान्त या मत में जिस किसी अर्थ का निश्चय करना होता है उसमें पूर्व कहा गया अर्थ ही मान्य होता है, जैसे कि-- ऋषिभाषित में। किन्तु यह उल्लेख ऋषिभाषित मूल ग्रन्थ के सम्बन्ध में ही सूचना देता है न कि उसकी निर्युक्ति के सम्बन्ध में।

निर्युक्ति के लेखक और रचना-काल :

निर्युक्तियों के लेखक कौन हैं और उनका रचना काल क्या है ये दोनों प्रश्न एक-दूसरे से जुड़े हुए हैं। अतः हम उन पर अलग-अलग विचार न करके एक साथ ही विचार करेंगे।

परम्परागत रूप से अन्तिम श्रुतकेवली, चतुर्दशपूर्वधर तथा छेदसूत्रों के रचयिता आर्य भद्रबाहु प्रथम को ही निर्युक्तियों का कर्त्ता माना जाता है। मुनि श्री पुण्यविजय जी ने अत्यन्त परिश्रम द्वारा श्रुत-केवली भद्रबाहु को निर्युक्तियों के कर्त्ता के रूप में स्वीकार करने वाले निम्न साक्ष्यों को संकलित करके प्रस्तुत किया है। जिन्हें हम यहाँ अविकल रूप से दे रहे हैं³² --

1. "अनुयोगदायिनः -- सुधर्मस्वामिप्रभृतयः यावदस्य भगवतो निर्युक्तिकारस्य भद्रबाहुस्वामिनश्चतुर्दशपूर्वधरस्याचार्योऽतस्तान् सर्वानिति ।।"
- आचारांगसूत्र, शीलाङ्काचार्य कृत टीका-पत्र 4.
2. "न च केषांचिदिहोदाहरणानां निर्युक्तिकालादर्वाकालाभाविता इत्यन्योक्तत्वमाशङ्कनीयम्, स हि भगवौश्चतुर्दशपूर्वधरश्च श्रुतकेवली कालत्रयविषयं वस्तु पश्यत्येवेति कथमन्यक्तत्वाशङ्का ? इति ।" उत्तराध्ययनसूत्र शान्तिसुरिकृता पाइयटीका-पत्र 139.
3. "गुणाधिकस्य वन्दनं कर्त्तव्यम् न त्वधमस्य, यत उक्तम् --" गुणाहिए वंदनयं" । भद्रबाहुस्वामिनश्चतुर्दशपूर्वधरत्वाद् दशपूर्वधरादीनां च न्यूनत्वात् किं तेषां नमस्कारमसौ करोति ? इति । अत्रोच्यते -- गुणाधिका एव ते, अव्यवच्छित्तिगुणाधिक्यात्, अतो न दोष इति ।" ओघनिर्युक्ति द्रोणाचार्यकृतशटीका-पत्र 3.
4. "इह चरणकरणक्रियाकलापतरुमूलकल्पं सामायिकादिषडध्ययनात्मकश्रुतस्कन्धरूपमावश्यकं तावदर्थतस्तीर्थकरैः सूत्रतस्तु गणधरैर्विरचितम् । अस्य चातीव गम्भीरार्थतां सकलसाधु -- श्रावकवर्गस्य नित्योपयोगितां च विज्ञाय चतुर्दशपूर्वधरेण श्रीमद्भद्रबाहुनेतद्र्याख्यानरूपा" आभिणिबोहियनानां०" इत्यादिप्रसिद्धग्रन्थरूपा निर्युक्तिः कृता ।" विशेषावश्यकं मल्लधारिहेमचन्द्रसुरिकृत-टीका-पत्र 1.

5. "साधूनामनुग्रहाय चतुर्दशपूर्वधरेण भगवता भद्रबाहुस्वामिना कल्पसूत्रं व्यवहारसूत्रं चाकारि, उभयोरपि च सूत्रस्पर्शिकानिर्युक्तिः ।" बृहत्कल्पपीठिका मलयगिरिकृत टीका-पत्र 2.
6. "इह श्रीमदावश्यकविसिद्धान्तप्रतिबद्धनिर्युक्तिशास्त्रसंसूत्रणसूत्रधारः... श्रीभद्रबाहुस्वामी... कल्पनामधेयमध्ययनं निर्युक्तियुक्तं निर्युदवान् ।" बृहत्कल्पपीठिका श्रीक्षेमकीर्तिसूरिअनुसन्धिता टीका-पत्र 177 ।

इन समस्त सन्दर्भों को देखने से स्पष्ट होता है कि श्रुत-केवली चतुर्दश पूर्वधर भद्रबाहु प्रथम को निर्युक्तियों के कर्त्ता के रूप में मान्य करने वाला प्राचीनतम सन्दर्भ आर्यशीलांक का है । आर्यशीलांक का समय लगभग विक्रम संवत् की 9वीं-10वीं सदी माना जाता है । जिन अन्य आचार्यों ने निर्युक्तिकार के रूप में भद्रबाहु प्रथम को माना है, उनमें आर्यद्रोण, मल्गारी हेमचन्द्र, मलयगिरि, शान्तिसूरि तथा क्षेमकीर्ति सूरि के नाम प्रमुख हैं, किन्तु ये सभी आचार्य विक्रम की दसवीं सदी के पश्चात् हुए हैं । अतः इनका कथन बहुत अधिक प्रामाणिक नहीं कहा जा सकता है । उन्होंने जो कुछ भी लिखा है, वह मात्र अनुश्रुतियों के आधार पर लिखा है । दुर्भाग्य से 8-9वीं सदी के पश्चात् चतुर्दश पूर्वधर श्रुत-केवली भद्रबाहु और वाराहमिहिर के भाई नैमित्तिक भद्रबाहु के कथानक, नामसाम्य के कारण एक-दूसरे में घुल-मिल गये और दूसरे भद्रबाहु की रचनायें भी प्रथम के नाम चढ़ा दी गईं । यही कारण रहा कि नैमित्तिक भद्रबाहु को भी प्राचीनगोत्रीय श्रुत-केवली चतुर्दश पूर्वधर भद्रबाहु के साथ जोड़ दिया गया है और दोनों के जीवन की घटनाओं के इस घाल-मेल से अनेक अनुश्रुतियाँ प्रचलित हो गईं । इन्हीं अनुश्रुतियों के परिणामस्वरूप निर्युक्ति के कर्त्ता के रूप में चतुर्दश पूर्वधर भद्रबाहु की अनुश्रुति प्रचलित हो गयी । यद्यपि मुनि श्री पुण्यविजय जी ने बृहत्कल्प-सूत्र (निर्युक्ति, लघु भाष्य वृत्यूपेतम्) के षष्ठ विभाग के आमुख में यह लिखा है कि निर्युक्तिकार स्थविर आर्य भद्रबाहु है, इस मान्यता को पुष्ट करने वाला एक प्रमाण जिनभद्र गणिक्षमाश्रमण के विशेषावश्यक भाष्य की स्वोपज्ञ टीका में भी मिलता है ।³³ यद्यपि उन्होंने वहाँ उस प्रमाण का सन्दर्भ सहित उल्लेख नहीं किया है । मैं इस सन्दर्भ को खोजने का प्रयत्न कर रहा हूँ, किन्तु उसके मिल जाने पर भी हम केवल इतना ही कह सकेंगे कि विक्रम की लगभग सातवीं शती से निर्युक्तिकार प्राचीनगोत्रीय चतुर्दश पूर्वधर भद्रबाहु हैं, ऐसी अनुश्रुति प्रचलित हो गयी थी ।

निर्युक्तिकार प्राचीनगोत्रीय चतुर्दश पूर्वधर भद्रबाहु है अथवा नैमित्तिक (वाराहमिहिर के भाई) भद्रबाहु हैं, यह दोनों ही प्रश्न विवादास्पद है । जैसा कि हमने संकेत किया है निर्युक्तियों को प्राचीनगोत्रीय चतुर्दश पूर्वधर आर्य भद्रबाहु की मानने की परम्परा आर्यशीलांक से या उसके पूर्व जिनभद्रगणिक्षमाश्रमण से प्रारम्भ हुई है । किन्तु उनके इन उल्लेखों में कितनी प्रामाणिकता है यह विचारणीय है, क्योंकि निर्युक्तियों में ही ऐसे अनेक प्रमाण उपस्थित हैं, जिनसे निर्युक्तिकार पूर्वधर भद्रबाहु हैं, इस मान्यता में बाधा उत्पन्न होती है । इस सम्बन्ध में मुनिश्री पुण्यविजयजी ने अत्यन्त परिश्रम द्वारा वे सब सन्दर्भ प्रस्तुत किये हैं, जो निर्युक्तिकार पूर्वधर भद्रबाहु हैं, इस मान्यता के विरोध में जाते हैं । हम उनकी स्थापनाओं के हार्द को ही हिन्दी भाषा में रूपान्तरित कर निम्न पंक्तियों में प्रस्तुत कर रहे हैं --

1. आवश्यकनिर्युक्ति की गाथा 764 से 776 तक में वज्रस्वामी के विद्यागुरु आर्यसिंहगिरि, आर्यवज्रस्वामी, तोषलिपुत्र, आर्यरक्षित, आर्य फल्गुमित्र, स्थविर भद्रगुप्त जैसे आचार्यों का स्पष्ट उल्लेख है³⁴। ये सभी आचार्य चतुर्दश पूर्वधर भद्रबाहु से परवर्ती हैं और तोषलिपुत्र को छोड़कर शेष सभी का उल्लेख कल्पसूत्र स्थविरावली में है। यदि निर्युक्तियों चतुर्दश पूर्वधर आर्यभद्रबाहु की कृति होती तो उनमें इन नामों के उल्लेख सम्भव नहीं थे।

2. इसीप्रकार पिण्डनिर्युक्ति की गाथा 498 में पादलिप्ताचार्य³⁵ का एवं गाथा 503 से 505 में वज्रस्वामी के मामा समितसूरि³⁶ का उल्लेख है साथ ही ब्रह्मदीपकशाखा³⁷ का उल्लेख भी है -- ये तथ्य यही सिद्ध करते हैं कि पिण्डनिर्युक्ति भी चतुर्दश पूर्वधर प्राचीनगोत्रीय भद्रबाहु की कृति नहीं है, क्योंकि पादलिप्तसूरि, समितसूरि तथा ब्रह्मदीपकशाखा की उत्पत्ति ये सभी प्राचीनगोत्रीय भद्रबाहु से परवर्ती हैं।

3. उत्तराध्ययननिर्युक्ति की गाथा 120 में कालकाचार्य³⁸ की कथा का संकेत है। कालकाचार्य भी प्राचीनगोत्रीय पूर्वधर भद्रबाहु से लगभग तीनसौ वर्ष पश्चात् हुए हैं।

4. ओघनिर्युक्ति की प्रथम गाथा में चतुर्दश पूर्वधर, दश पूर्वधर एवं एकादश-अंगों के ज्ञाताओं को सामान्य रूप से नमस्कार किया गया है³⁹, ऐसा द्रोणाचार्य ने अपनी टीका में सूचित किया है।⁴⁰ यद्यपि मुनि श्री पुण्यविजय जी सामान्य कथन की दृष्टि से इसे असंभावित नहीं मानते हैं, क्योंकि आज भी आचार्य, उपाध्याय एवं मुनि नमस्कारमंत्र में अपने से छोटे पद और व्यक्तियों को नमस्कार करते हैं। किन्तु मेरी दृष्टि में कोई भी चतुर्दश पूर्वधर दसपूर्वधर को नमस्कार करे, यह उचित नहीं लगता। पुनः आवश्यकनिर्युक्ति की गाथा 769 में दस पूर्वधर वज्रस्वामी को नाम लेकर जो वंदन किया गया है⁴¹, वह तो किसी भी स्थिति में उचित नहीं माना जा सकता है।

5. पुनः आवश्यकनिर्युक्ति की गाथा 763 से 774 में यह कहा गया है कि शिष्यों की स्मरण शक्ति के हास को देखकर आर्य रक्षित ने, वज्रस्वामी के काल तक जो आगम अनुयोगों में विभाजित नहीं थे, उन्हें अनुयोगों में विभाजित किया।⁴² यह कथन भी एक परवर्ती घटना को सूचित करता है। इससे भी यही फलित होता है कि निर्युक्तियों के कर्त्ता चतुर्दशपूर्वधर प्राचीनगोत्रीय भद्रबाहु नहीं हैं, अपितु आर्यरक्षित के पश्चात् होने वाले कोई भद्रबाहु है।

6. दशवैकालिकनिर्युक्ति⁴³ की गाथा 4 एवं ओघनिर्युक्ति⁴⁴ की गाथा 2 में चरणकरणानुयोग की निर्युक्ति कहींगा ऐसा उल्लेख है। यह भी इसी तथ्य की पुष्टि करता है कि निर्युक्ति की रचना अनुयोगों के विभाजन के बाद अर्थात् आर्यरक्षित के पश्चात् हुई है।

7. आवश्यकनिर्युक्ति⁴⁵ की गाथा 778-783 में तथा उत्तराध्ययन निर्युक्ति 46 की गाथा 164 से 178 तक में 7 निहन्वों और आठवें बोटिक मत की उत्पत्ति का उल्लेख हुआ है। अन्तिम सातवाँ निहन्व वीरनिर्वाण संवत् 584 में तथा बोटिक मत की उत्पत्ति वीरनिर्वाण संवत् 609 में हुई। ये घटनाएं चतुर्दशपूर्वधर प्राचीनगोत्रीय भद्रबाहु के लगभग चार सौ वर्ष

पश्चात् हुई है। अतः उनके द्वारा रचितनिर्युक्ति में इनका उल्लेख होना सम्भव नहीं लगता है। वैसे मेरी दृष्टि में बोटिक मत की उत्पत्ति का कथन निर्युक्तिकार का नहीं है -- निर्युक्ति में सात निह्नवों का ही उल्लेख है। निह्नवों के काल एवं स्थान सम्बन्धी गाथाएँ भाष्य गाथाएँ हैं-- जो बाद में निर्युक्ति में मिल गई हैं। किन्तु निर्युक्तियों में सात निह्नवों का उल्लेख होना भी इस बात का प्रमाण है कि निर्युक्तियाँ प्राचीनगोत्रीयपूर्वधर भद्रबाहु की कृतियाँ नहीं हैं।

8. सूत्रकृतांगनिर्युक्ति की गाथा 146 में द्रव्य-निक्षेप के सम्बन्ध में एकभक्तिक, बद्धायुष्य और अभिमुखित नाम-गोत्र ऐसे तीन आदेशों का उल्लेख हुआ है।⁴⁷ ये विभिन्न मान्यताएँ भद्रबाहु के काफी पश्चात् आर्य सुहस्ति, आर्य मंक्षु आदि परवर्ती आचार्यों के काल में निर्मित हुई हैं। अतः इन मान्यताओं के उल्लेख से भी निर्युक्तियों के कर्त्ता चतुर्दश पूर्वधर प्राचीनगोत्रीय भद्रबाहु हैं, यह मानने में बाधा आती है।

मुनिजी पुण्यविजयजी ने उत्तराध्ययन के टीकाकार शान्त्याचार्य, जो निर्युक्तिकार के रूप में चतुर्दश पूर्वधर भद्रबाहु को मानते हैं, की इस मान्यता का भी उल्लेख किया है कि निर्युक्तिकार त्रिकालज्ञानी है। अतः उनके द्वारा परवर्ती घटनाओं का उल्लेख होना असम्भव नहीं है।⁴⁸ यहाँ मुनि पुण्यविजयजी कहते हैं कि हम शान्त्याचार्य की इस बात स्वीकार कर भी लें, तो भी निर्युक्तियों में नामपूर्वक वज्रस्वामी को नमस्कार आदि किसी भी दृष्टि से युक्ति संगत नहीं कहा जा सकता। वे लिखते हैं यदि उपर्युक्त घटनाएँ घटित होने के पूर्व ही निर्युक्तियों में उल्लिखित कर दी गयीं हों तो भी अमुक मान्यता अमुक पुरुष द्वारा स्थापित हुई यह कैसे कहा जा सकता है।⁴⁹

पुनः जिन दस आगम ग्रन्थों पर निर्युक्ति लिखने का उल्लेख आवश्यक निर्युक्ति में है, उससे यह स्पष्ट है कि भद्रबाहु के समय आचारांग, सूत्रकृतांग आदि अतिविस्तृत एवं परिपूर्ण थे। ऐसी स्थिति में उन आगमों पर लिखी गयी निर्युक्ति भी अतिविशाल एवं चारों अनुयोगमय होना चाहिए। इसके विरोध में यदि निर्युक्तिकार भद्रबाहु थे, ऐसी मान्यता रखने वाले विद्वान् यह कहते हैं कि निर्युक्तिकार तो भद्रबाहु ही थे और वे निर्युक्तियाँ भी अतिविशाल थीं, किन्तु बाद में स्थविर आर्यरक्षित ने अपने शिष्य पुष्यमित्र की विस्मृति एवं भविष्य में होने वाले शिष्यों की मंद-बुद्धि को ध्यान में रखकर जिस प्रकार आगमों के अनुयोगों को पृथक् किया, उसी प्रकार निर्युक्तियों को भी व्यवस्थित एवं संक्षिप्त किया। इसके प्रत्युत्तर में मुनि श्री पुण्यविजयजी का कथन है कि प्रथम तो यह कि आर्यरक्षित द्वारा अनुयोगों के पृथक् करने की बात तो कही जाती है, किन्तु निर्युक्तियों को व्यवस्थित करने का एक भी उल्लेख नहीं है। स्कंदिल आदि ने विभिन्न वाचनाओं में 'आगमों' को ही व्यवस्थित किया, निर्युक्तियों को नहीं।⁵⁰

दूसरे उपलब्ध निर्युक्तियाँ उन अंग-आगमों पर नहीं हैं जो भद्रबाहु प्रथम के युग में थे। परम्परागत मान्यता के अनुसार आर्यरक्षित के युग में भी आचारांग एवं सूत्रकृतांग उतने ही विशाल थे, जितने भद्रबाहु के काल में थे। ऐसी स्थिति में चाहे एक ही अनुयोग का अनुसरण करके निर्युक्तियाँ लिखी गयीं हों, उनकी विषयवस्तु तो विशाल होनी चाहिए थी। जबकि जो भी

निर्युक्तियाँ उपलब्ध हैं वे सभी माथुरीवाचना द्वारा या वलमी वाचना द्वारा निर्धारित पाठ वाले आगमों का ही अनुसरण कर रही हैं। यदि यह कहा जाय कि अनुयोगों का पृथक्करण करते समय आर्यरक्षित ने निर्युक्तियों को भी पुनः व्यवस्थित किया और उनमें अनेक गाथायें प्रक्षिप्त भ कीं, तो प्रश्न होता है कि फिर उनमें गोष्ठामाहिल और बोटिक मत की उत्पत्ति सम्बन्धी विवरण कैसे आये, क्योंकि इन दोनों की उत्पत्ति आर्यरक्षित के स्वर्गवास के पश्चात् ही हुई है।

यद्यपि इस सन्दर्भ में मेरा मुनिश्री से मतभेद है। मेरे अध्ययन की दृष्टि से सप्त निह्नवों के उल्लेख वाली गाथाएँ तो मूल गाथाएँ हैं, किन्तु उनमें बोटिक मत के उत्पत्ति स्थल रथवीरपुर एवं उत्पत्तिकाल वीर नि.सं. 609 का उल्लेख करने वाली गाथायें बाद में प्रक्षिप्त हैं। वे निर्युक्ति की गाथाएँ न होकर भाष्य की हैं, क्योंकि जहाँ निह्नवों एवं उनके मतों का उल्लेख है वहाँ सर्वत्र सात का ही नाम आया है। जबकि उनके उत्पत्तिस्थल एवं काल को सूचित करने वाली इन दो गाथाओं में यह संख्या आठ हो गयी।⁵¹ आश्चर्य यह है कि आवश्यकनिर्युक्ति में बोटिकों की उत्पत्ति की कहीं कोई चर्चा नहीं है और यदि बोटिकमत के प्रस्तोता एवं उनके मन्तव्य का उल्लेख मूल आवश्यकनिर्युक्ति में नहीं है, तो फिर उनके उत्पत्ति-स्थल एवं उत्पत्ति काल का उल्लेख निर्युक्ति में कैसे हो सकता है? वस्तुतः भाष्य की अनेक गाथायें निर्युक्तियों में मिल गई हैं। अतः ये नगर एवं काल सूचक गाथाएँ भाष्य की होनी चाहिये। यद्यपि उत्तराध्ययननिर्युक्ति के तृतीय अध्ययन की निर्युक्ति के अन्त में इन्हीं सप्त निह्नवों का उल्लेख होने के बाद अन्त में एक गाथा में शिवभूति का रथवीरपुर नगर के दीपक उद्यान में आर्यकृष्ण से विवाद होने के उल्लेख है।⁵² किन्तु न तो इसमें विवाद के स्वरूप की चर्चा है और न कोई अन्य बात, जबकि उसके पूर्व प्रत्येक निह्नव के मन्तव्य का आवश्यकनिर्युक्ति की अपेक्षा विस्तृत विवरण दिया गया है। अतः मेरी दृष्टि में यह गाथा भी प्रक्षिप्त है। यह गाथा वैसी ही है जैसी कि आवश्यक मूलभाष्य में पायी जाती है। पुनः वहाँ यह गाथा बहुत अधिक प्रासंगिक भी नहीं कही जा सकती। मुझे स्पष्ट रूप से लगता है कि उत्तराध्ययननिर्युक्ति में भी निह्नवों की चर्चा के बाद यह गाथा प्रक्षिप्त की गयी है।

यह मानना भी उचित नहीं लगता कि चतुर्दश पूर्वधर भद्रबाहु के काल में रचित निर्युक्तियों को सर्वप्रथम आर्यरक्षित के काल में व्यवस्थित किया गया और पुनः उन्हें परवर्ती आचार्यों ने अपने युग की आगमिक वाचना के अनुसार व्यवस्थित किया। आश्चर्य तब और अधिक बढ़ जाता है कि इस सब परिवर्तन के विरुद्ध भी कोई स्वर उभरने की कहीं कोई सूचना नहीं है। वास्तविकता यह है कि आगमों में जब भी कुछ परिवर्तन करते का प्रयत्न किया गया तो उसके विरुद्ध स्वर उभरे हैं और उन्हें उल्लिखित भी किया गया।

उत्तराध्ययननिर्युक्ति में उसके 'अकाममरणीय' नामक अध्ययन की निर्युक्ति में निम्न गाथा प्राप्त होती है --

"सव्वे ए ए दारा मरणविभत्तीए वणिणआ कमसो ।

सगलणिउणे पयत्थे जिण चउदस पुव्वि भासंति" ॥ 232 ॥

[ज्ञातव्य है कि मुनिपुण्यविजय जी ने इसे गाथा 233 लिखा है। किन्तु निर्युक्तिसंग्रह में इस गाथा का क्रम 232 ही है।]

इस गाथा में कहा गया है कि "मरणविभक्ति में इन सभी द्वारों का अनुक्रम से वर्णन किया गया है, पदार्थों को सम्पूर्ण रूप से तो जिन अथवा चतुर्दशपूर्वधर ही जान सकते हैं।" यदि निर्युक्तिकार चतुर्दशपूर्वधर होते तो वे इस प्रकार नहीं लिखते। शान्त्याचार्य ने स्वयं इसे दो आधारों पर व्याख्यायित किया। प्रथम चतुर्दश पूर्वधरों में आपस में अर्थज्ञान की अपेक्षा से कमी-अधिकता होती है, इसी दृष्टि से यह कहा गया हो कि पदार्थों का सम्पूर्ण स्वरूप तो चतुर्दश पूर्वी ही बता सकते हैं अथवा द्वार गाथा से लेकर आगे की ये सभी गाथाएँ भाष्य गाथाएँ हों।⁵³ यद्यपि मुनि पुण्यविजय जी इन्हें भाष्य गाथाएँ स्वीकार नहीं करते हैं। चाहे वे गाथाएँ भाष्य- गाथा हों या न हो किन्तु मेरी दृष्टि में शान्त्याचार्य ने निर्युक्तियों में भाष्य गाथा मिली होने की जो कल्पना की है, वह पूर्णतया असंगत नहीं है।

पुनः जैसा पूर्व में सूचित किया जा चुका है, सूत्रकृतांग के पुण्डरीक अध्ययन की निर्युक्ति में पुण्डरीक शब्द की निर्युक्ति करते समय उसके द्रव्य निक्षेप से एकभक्ति, बद्रायुष्य और अभिमुखित नाम-गोत्र ऐसे तीन आदेशों का निर्युक्तिकार ने स्वयं ही संग्रह किया है।⁵⁴ बृहत्कल्पसूत्रभाष्य (प्रथमविभाग, पृ. 44-45) में ये तीनों आदेश आर्यसुहस्ति, आर्य मंगू एवं आर्यसमुद्र की मान्यताओं के रूप में उल्लिखित हैं।⁵⁵ इतना तो निश्चित है कि ये तीनों आचार्य पूर्वधर प्राचीनगोत्रीय भद्रबाहु (प्रथम) से परवर्ती हैं और उनके मतों का संग्रह पूर्वधर भद्रबाहु द्वारा सम्भव नहीं है।

दशाश्रुतस्कंध की निर्युक्ति के प्रारम्भ में निम्न गाथा दी गयी है --

*"वंदामिभद्रबाहुं पाईणं चरिमसयलसुयनाणि।
सुत्तस्स कारगामिसिं दसासु कप्पे य ववहारे।।"*

इसमें सकलश्रुतज्ञानी प्राचीनगोत्रीय भद्रबाहु का न केवल वंदन किया गया है, अपितु उन्हें दशाश्रुतस्कंध, कल्प एवं व्यवहार का रचयिता भी कहा है, यदि निर्युक्तियों के लेखक पूर्वधर श्रुतकेवली भद्रबाहु होते तो, वे स्वयं ही अपने को कैसे नमस्कार करते ? इस गाथा को हम प्रक्षिप्त या भाष्य गाथा भी नहीं कह सकते, क्योंकि प्रथम तो यह ग्रन्थ की प्रारम्भिक मंगल गाथा है, दूसरे चूर्णिकार ने स्वयं इसको निर्युक्तिगाथा के रूप में मान्य किया है। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि निर्युक्तिकार चतुर्दश पूर्वधर प्राचीनगोत्रीय भद्रबाहु नहीं हो सकते।

इस समस्त चर्चा के अन्त में मुनि जी इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि परम्परागत दृष्टि से दशाश्रुतस्कंध, कल्पसूत्र, व्यवहारसूत्र एवं निशीथ ये चार छेदसूत्र, आवश्यक आदि दस निर्युक्तियाँ, उवसगगहर एवं भद्रबाहु संहिता ये सभी चतुर्दश पूर्वधर प्राचीनगोत्रीय भद्रबाहु स्वामी की कृति माने जाते हैं, किन्तु इनमें से 4 छेद सूत्रों के रचयिता तो चतुर्दश पूर्वधर आर्य भद्रबाहु ही हैं। शेष दस निर्युक्तियों, उवसगगहर एवं भद्रबाहु संहिता के रचयिता अन्य कोई भद्रबाहु होने चाहिए और सम्भवतः ये अन्य कोई नहीं, अपितु वाराहसंहिता के रचयिता वाराहमिहिर के

भाई, मंत्रविद्या के पारगामी नैमित्तिक भद्रबाहु ही होना चाहिए।⁵⁵

मुनिश्री पुण्यविजयजी ने निर्युक्तियों के कर्त्ता नैमित्तिक भद्रबाहु ही थे, यह कल्पना निम्न तर्कों के आधार पर की है⁵⁶ --

1. आवश्यकनिर्युक्ति की गाथा 1252 से 1270 तक में गंधर्व नागदत्त का कथानक आया है। इसमें नागदत्त के द्वारा सर्प के विष उतारने की क्रिया का वर्णन है।⁵⁷ उवसगहहर (उपसर्गहहर) में भी सर्प के विष उतारने की चर्चा है। अतः दोनों के कर्त्ता एक ही हैं और वे मन्त्र-तन्त्र में आस्था रखते थे।

2. पुनः नैमित्तिक भद्रबाहु ही निर्युक्तियों के कर्त्ता होने चाहिए, इसका एक आधार यह भी है कि उन्होंने अपनी प्रतिज्ञागाथा में सूर्यप्रज्ञप्ति पर निर्युक्ति लिखने की प्रतिज्ञा की थी।⁵⁸ ऐसा साहस कोई ज्योतिष का विद्वान् ही कर सकता था। इसके अतिरिक्त आचारांगनिर्युक्ति में तो स्पष्ट रूप से निमित्त विद्या का निर्देश भी हुआ है।⁵⁹ अतः मुनिश्री पुण्यविजयजी निर्युक्ति के कर्त्ता के रूप में नैमित्तिक भद्रबाहु को स्वीकार करते हैं।

यदि हम निर्युक्तिकार के रूप में नैमित्तिक भद्रबाहु को स्वीकार करते हैं तो हमें यह भी मानना होगा कि निर्युक्तियाँ विक्रम की छठों सदी की रचनाएँ हैं, क्योंकि वाराहमिहिर ने अपने ग्रन्थ के अन्त में शक संवत् 427 अर्थात् विक्रम संवत् 566 का उल्लेख किया है।⁶⁰ नैमित्तिक भद्रबाहु बाराहमिहिर के भाई थे, अतः वे उनके समकालीन हैं। ऐसी स्थिति में यही मानना होगा कि निर्युक्तियों का रचनाकाल भी विक्रम की छठों शताब्दी का उत्तरार्द्ध है।

यदि हम उपर्युक्त आधारों पर निर्युक्तियों को विक्रम की छठों सदी में हुए नैमित्तिक भद्रबाहु की कृति मानते हैं, तो भी हमारे सामने कुछ प्रश्न उपस्थित होते हैं --

1. सर्वप्रथम तो यह कि पाक्षिक सूत्र एवं नन्दीसूत्र में निर्युक्तियों के अस्तित्व का स्पष्ट उल्लेख है --

"स सुत्ते सअत्ये सगंधे सनिज्जुतिए ससंगहणिए"

-(पाक्षिकसूत्र, पृ. 80)

"संखेज्जाओ निज्जुत्तीओ संखेज्जा संगहणीओ"

-(नन्दीसूत्र, सूत्र सं. 46)

इतना निश्चित है कि ये दोनों ग्रन्थ विक्रम की छठवीं सदी के पूर्व निर्मित हो चुके थे। यदि निर्युक्तियाँ छठों सदी उत्तरार्द्ध की रचना है तो फिर विक्रम की पौचवी शती के उत्तरार्द्ध या छठों शती के पूर्वार्द्ध के ग्रन्थों में छठी सदी के उत्तरार्द्ध में रचित निर्युक्तियों का उल्लेख कैसे संभव है ? इस सम्बन्ध में मुनिश्री पुण्यविजय जी ने तर्क दिया है कि नन्दीसूत्र में जो निर्युक्तियों का उल्लेख है, वह गोविन्द-निर्युक्ति आदि को ध्यान में रखकर किया गया होगा।⁶¹ यह सत्य है कि गोविन्दनिर्युक्ति एक प्राचीन रचना है क्योंकि निशीथचूर्णि में गोविन्द-निर्युक्ति के उल्लेख के साथ-साथ गोविन्दनिर्युक्ति की उत्पत्ति की कथा भी दी गई है।⁶² गोविन्दनिर्युक्ति के

रचयिता वही आर्यगोविन्द होने चाहिए, जिनका उल्लेख नन्दीसूत्र में अनुयोगद्वार के ज्ञाता के रूप में किया गया है। स्थविरावली के अनुसार ये आर्य स्कंदिल की चौथी पीढ़ी में हैं।⁶³ अतः इनका काल विक्रम की पाँचवीं सदी निश्चित होता है। अतः मुनि श्रीपुण्यविजय जी इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि पाक्षिकसूत्र एवं नन्दीसूत्र में निर्युक्ति का जो उल्लेख है वह आर्य गोविन्द की निर्युक्ति को लक्ष्य में रखकर किया गया है। इस प्रकार मुनि जी दसों निर्युक्तियों के रचयिता के रूप में नैमित्तिक भद्रबाहु को ही स्वीकार करते हैं और नन्दीसूत्र अथवा पाक्षिकसूत्र में जो निर्युक्ति का उल्लेख है उसे वे गोविन्दनिर्युक्ति का मानते हैं।

हम मुनि श्रीपुण्यविजयजी की इस बात से पूर्णतः सहमत नहीं हो सकते हैं, क्योंकि उपरोक्त दस निर्युक्तियों की रचना से पूर्व चाहे आर्यगोविन्द की निर्युक्ति अस्तित्व में हो, किन्तु नन्दीसूत्र एवं पाक्षिक सूत्र में निर्युक्ति सम्बन्धी उल्लेख हैं, वे आचारांग आदि आगम ग्रन्थों की निर्युक्ति के सम्बन्ध में हैं, जबकि गोविन्दनिर्युक्ति किसी आगम ग्रन्थ पर निर्युक्ति नहीं है। उसके सम्बन्ध में निशीथचूर्ण आदि में जो उल्लेख हैं वे सभी उसे दर्शनप्रभावक ग्रन्थ और एकेन्द्रिय में जीव की सिद्धि करने वाला ग्रन्थ बतलाते हैं।⁶⁴ अतः उनकी यह मान्यता कि नन्दीसूत्र और पाक्षिकसूत्र में निर्युक्ति के जो उल्लेख हैं, वे गोविन्दनिर्युक्ति के सन्दर्भ में हैं, समुचित नहीं है। वस्तुतः नन्दीसूत्र एवं पाक्षिकसूत्र में जो निर्युक्तियों के उल्लेख हैं वे आगम ग्रन्थों की निर्युक्तियों के हैं। अतः यह मानना होगा कि नन्दी एवं पाक्षिकसूत्र की रचना के पूर्व अर्थात् पाँचवीं शती के पूर्व आगमों पर निर्युक्ति लिखी जा चुकी थी।

2. दूसरे इन दस निर्युक्तियों में और भी ऐसे तथ्य हैं जिनसे इन्हें वाराहमिहिर के भाई एवं नैमित्तिक भद्रबाहु (विक्रम संवत् 566) की रचना मानने में शंका होती है। आवश्यकनिर्युक्ति की सामायिकनिर्युक्ति में जो निहन्वों के उत्पत्ति स्थल एवं उत्पत्तिकाल सम्बन्धी गाथाएँ हैं एवं उत्तराध्ययननिर्युक्ति में उत्तराध्ययन के तीसरे अध्ययन की निर्युक्ति में जो शिवभूति का उल्लेख है, वे प्रक्षिप्त हैं। इसका प्रमाण यह है कि उत्तराध्ययनचूर्ण, जो कि इस निर्युक्ति पर एक प्रामाणिक रचना है, में 167 गाथा तक की ही चूर्ण दी गयी है। निहन्वों के सन्दर्भ में अन्तिम चूर्ण 'जेठठा सुदंसण' नामक 167वीं गाथा की है। उसके आगे निहन्वों के वक्तव्य को सामयिकनिर्युक्ति (आवश्यकनिर्युक्ति) के आधार पर जान लेना चाहिए ऐसा निर्देश है।⁶⁵ ज्ञातव्य है कि सामायिकनिर्युक्ति में बोटिकों का कोई उल्लेख नहीं है। हम यह भी बता चुके हैं कि उस निर्युक्ति में जो बोटिक मत के उत्पत्तिकाल एवं स्थल का उल्लेख है, वह प्रक्षिप्त है एवं वे भाष्य गाथाएँ हैं। उत्तराध्ययनचूर्ण में एक संकेत यह भी मिलता है कि उसमें निहन्वों की कालसूचक गाथाओं को निर्युक्तिगाथाएँ न कहकर आख्यानक संग्रहणी की गाथा कहा गया है।⁶⁶ इससे भरे उस कथन की पुष्टि होती है कि आवश्यकनिर्युक्ति में जो निहन्वों के उत्पत्तिनगर एवं उत्पत्तिकाल सूचक गाथाएँ हैं वे मूल में निर्युक्ति की गाथाएँ नहीं हैं, अपितु संग्रहणी अथवा भाष्य से उसमें प्रक्षिप्त की गयी हैं। क्योंकि इन गाथाओं में उनके उत्पत्ति नगरों एवं उत्पत्ति-समय दोनों की संख्या आठ-आठ है। इस प्रकार इनमें बोटिकों के उत्पत्तिनगर और समय का भी उल्लेख है -- आश्चर्य यह है कि ये गाथाएँ सप्त निहन्वों की चर्चा के बाद

दी गई -- जबकि बोटिकों की उत्पत्ति का उल्लेख तो इसके भी बाद में है और मात्रा एक गाथा में है। अतः ये गाथाएँ किसी भी स्थिति में निर्युक्ति की गाथायें नहीं मानी जा सकती हैं।

पुनः यदि हम बोटिक निहयव सम्बन्धी गाथाओं को भी निर्युक्ति गाथाएँ मान भी लें तो भी निर्युक्ति के रचनाकाल की अपर सीमा को वीरनिर्वाण संवत् 610 अर्थात् विक्रम की तीसरी शती के पूर्वार्ध से आगे नहीं ले जाया जा सकता है क्योंकि इसके बाद के कोई उल्लेख हमें निर्युक्तियों में नहीं मिले। यदि निर्युक्ति नैमित्तिक भद्रबाहु (विक्रम की छठी सदी उत्तरार्द्ध) की रचनाएँ होतीं तो उनमें विक्रम की तीसरी सदी से लेकर छठी सदी के बीच के किसी न किसी आचार्य एवं घटना का उल्लेख भी, चाहे संकेत रूप में ही क्यों न हो, अवश्य होता। अन्य कुछ नहीं तो माथुरी एवं वलभी वाचना के उल्लेख तो अवश्य ही होते, क्योंकि नैमित्तिक भद्रबाहु तो उनके बाद ही हुए हैं। वलभी वाचना के आयोजक देवद्विगण के तो वे कनिष्ठ समकालिक हैं, अतः यदि वे निर्युक्ति के कर्त्ता होते तो वलभी वाचना का उल्लेख निर्युक्तियों में अवश्य करते।

3. यदि निर्युक्तियाँ नैमित्तिक भद्रबाहु (6ठीवीं सदी- उत्तरार्द्ध) की कृति होतीं तो उसमें गुणस्थान की अवधारणा अवश्य ही पाई जाती। छठीं सदी के उत्तरार्द्ध में गुणस्थान की अवधारणा विकसित हो गई थी और उस काल में लिखी गई कृतियों में प्रायः गुणस्थान का उल्लेख मिलता है किन्तु जहाँ तक मुखे ज्ञात है, निर्युक्तियों में गुणस्थान सम्बन्धी अवधारणा का कहीं भी उल्लेख नहीं है। आवश्यकनिर्युक्ति की जिन दो गाथाओं में चौदह गुणस्थानों के नामों का उल्लेख मिलता है,⁶⁷ वे मूलतः निर्युक्ति गाथाएँ नहीं हैं। आवश्यक मूल पाठ में चौदह भूतग्रामों (जीव-जातियों) का ही उल्लेख है, गुणस्थानों का नहीं। अतः निर्युक्ति तो भूतग्रामों की ही लिखी गयी। भूतग्रामों के विवरण के बाद दो गाथाओं में चौदह गुणस्थानों के नाम दिये गये हैं। यद्यपि यहाँ गुणस्थान शब्द का प्रयोग नहीं है। ये दोनों गाथाएँ प्रक्षिप्त हैं, क्योंकि हरिभद्र (आठवीं सदी) ने आवश्यकनिर्युक्ति की टीका में "अधुनामुमैव गुणस्थानद्वारेण दर्शयन्नाह संग्रहणिकार" कहकर इन दोनों गाथाओं को संग्रहणी गाथा के रूप में उद्धृत किया है।⁶⁸ अतः गुणस्थान सिद्धान्त के स्थिर होने के पश्चात् संग्रहणी की ये गाथाएँ निर्युक्ति में डाल दी गई हैं। निर्युक्तियों में गुणस्थान की अवधारणा की अनुपस्थिति इस तथ्य का प्रमाण है कि उनकी रचना तीसरी-चौथी शती के पूर्व हुई थी। इसका तात्पर्य यह है कि निर्युक्तियाँ नैमित्तिक भद्रबाहु की रचना नहीं हैं।

4. साथ ही हम देखते हैं कि आचारांगनिर्युक्ति में आध्यात्मिक विकास की उन्हीं दस अवस्थाओं का विवेचन है⁶⁹ जो हमें तत्त्वार्थसूत्र में भी मिलती है⁷⁰ और जिनसे आगे चलकर गुणस्थान की अवधारणा विकसित हुई है। तत्त्वार्थसूत्र तथा आचारांगनिर्युक्ति दोनों ही विकसित गुणस्थान सिद्धान्त के सम्बन्ध में सर्वथा मौन हैं, जिससे यह फलित होता है कि निर्युक्तियों का रचनाकाल तत्त्वार्थसूत्र के सम-सामयिक (अर्थात् विक्रम की तीसरी-चौथी सदी) है। अतः वे छठीं शती के उत्तरार्ध में होने वाले नैमित्तिक भद्रबाहु की रचना तो किसी स्थिति में नहीं हो सकती। यदि वे उनकी कृतियाँ होती तो उनमें आध्यात्मिक विकास की इन दस अवस्थाओं के चित्रण के स्थान पर चौदह गुणस्थानों का भी चित्रण होता है।

5. निर्युक्ति गाथाओं का निर्युक्ति गाथा के रूप में मूलाचार⁷¹ में उल्लेख तथा अस्वाध्याय काल में भी उनके अध्ययन का निर्देश यही सिद्ध करता है कि निर्युक्तियों का अस्तित्व मूलाचार की रचना और यापनीय सम्प्रदाय के अस्तित्व में आने के पूर्व का था। यह सुनिश्चित है कि यापनीय सम्प्रदाय 5वीं सदी के अन्त तक अस्तित्व में आ गया था। अतः निर्युक्तियाँ 5वीं सदी से पूर्व की रचना होनी चाहिए -- ऐसी स्थिति में भी वे नैमित्तिक भद्रबाहु (वि. 6वीं सदी उत्तरार्द्ध) की कृति नहीं मानी जा सकती है।

पुनः निर्युक्ति का उल्लेख आचार्य कुन्दकुन्द ने भी आवश्यक शब्द की निर्युक्ति करते हुए नियमसार गाथा 142 में किया है।⁷² आश्चर्य यह है कि यह गाथा मूलाचार के षडावश्यक नामक अधिकार में भी यथावत् मिलती है। इसमें आवश्यक शब्द की निर्युक्ति की गई है। इससे भी यही फलित होता है कि निर्युक्तियाँ कम से कम मूलाचार और नियमसार की रचना के पूर्व अर्थात् छठी शती के पूर्व अस्तित्व में आ गई थी।

6. निर्युक्तियों के कर्त्ता नैमित्तिक भद्रबाहु नहीं हो सकते, क्योंकि आचार्य मल्लवादी (लगभग चौथी पाँचवीं शती) ने अपने ग्रन्थ नयचक्र में निर्युक्तिगाथा का उद्धरण दिया है -- निर्युक्ति लक्षणामाह -- "वत्पुणं संकमणं होति अवत्पू णये सम्भिरुदे"। इससे यही सिद्ध होता है कि वलभी वाचना के पूर्व निर्युक्तियों की रचना हो चुकी थी। अतः उनके रचयिता नैमित्तिक भद्रबाहु न होकर या तो काश्यपगोत्रीय आर्यभद्रगुप्त है या फिर गौतमगोत्रीय आर्यभद्र हैं।

7. पुनः वलभी वाचना के आगमों के गद्यभाग में निर्युक्तियों और संग्रहणी की अनेक गाथाएँ मिलती हैं, जैसे ज्ञाताधर्म कथा में मल्ली अध्ययन में जो तीर्थकर-नाम-कर्म-बन्ध सम्बन्धी 20 बोलों की गाथा है, वह मूलतः आवश्यकनिर्युक्ति (179-181) की गाथा है। इससे भी यही फलित होता है कि वलभी वाचना के समय निर्युक्तियों और संग्रहणी-सूत्रों से अनेक गाथायें आगमों में डली गई है। अतः निर्युक्तियाँ और संग्रहणियाँ वलभी वाचना के पूर्व हैं अतः वे नैमित्तिक भद्रबाहु के स्थान पर लगभग तीसरी-चौथी शती के किसी अन्य भद्र नामक आचार्य की कृतियाँ हैं।

8. निर्युक्तियों की सत्ता वलभी वाचना के पूर्व थी, तभी तो नन्दीसूत्र में आगमों की निर्युक्तियों का उल्लेख है। पुनः अगस्त्यसिंह की दशवैकालिकचूर्ण के उपलब्ध एवं प्रकाशित हो जाने पर यह पुष्ट हो जाती है कि आगमिक व्याख्या के रूप में निर्युक्तियाँ वलभी वाचना के पूर्व लिखी जाने लगी थी। इस चूर्ण में प्रथम अध्ययन की दशवैकालिकनिर्युक्ति की ५४ गाथाओं की भी चूर्ण की गई है। यह चूर्ण विक्रम की तीसरी-चौथी शती में रची गई थी। इससे यह तथ्य सिद्ध हो जाता है कि निर्युक्तियाँ भी लगभग तीसरी-चौथी शती की रचना हैं।

ज्ञातव्य है कि निर्युक्तियों में भी परवर्ती काल में पर्याप्त रूप से प्रक्षेप हुआ है, क्योंकि अगस्त्यसिंहचूर्ण में दशवैकालिक के प्रथम अध्ययन की चूर्ण में मात्र ५४ निर्युक्ति गाथाओं की चूर्ण हुई है, जबकि वर्तमान में दशवैकालिकनिर्युक्ति में प्रथम अध्ययन की निर्युक्ति में १५१ गाथाएँ हैं। अतः निर्युक्तियाँ आर्यभद्रगुप्त या गौतमगोत्रीय आर्यभद्र की रचनायें हैं।

इस सम्बन्ध में एक आपत्ति यह उठाई जा सकती है कि निर्युक्तियाँ वलभी वाचना के आगमपाठों के अनुरूप क्यों है ? इसका प्रथम उत्तर तो यह है कि निर्युक्तियों का आगम पाठों से उतना सम्बन्ध नहीं है, जितना उनकी विषयवस्तु से है और यह सत्य है कि विभिन्न वाचनाओं में चाहे कुछ पाठ-भेद रहे हों किन्तु विषयवस्तु तो वही रही है और निर्युक्तियाँ मात्र विषयवस्तु का विवरण देती हैं। पुनः निर्युक्तियाँ मात्र प्राचीन स्तर के और बहुत कुछ अपरिवर्तित रहे आगमों पर हैं, सभी आगम ग्रन्थों पर नहीं हैं और इन प्राचीन स्तर के आगमों का स्वरूप निर्धारण तो पहले ही हो चुका था। माथुरीवाचना या वलभी वाचना में उनमें बहुत अधिक परिवर्तन नहीं हुआ है। आज जो निर्युक्तियाँ हैं वे मात्र आचारांग, सूत्रकृतांग, आवश्यक, उत्तराध्ययन, दशवैकालिक, दशाश्रुतस्कन्ध व्यवहार, बृहत्कल्प पर है ये सभी ग्रन्थ विद्वानों की दृष्टि में प्राचीन स्तर के हैं और इनके स्वरूप में बहुत अधिक परिवर्तन नहीं हुआ है। अतः वलभीवाचना से समरूपता के आधार पर निर्युक्तियों को उससे परवर्ती मानना उचित नहीं है।

उपर्युक्त समग्र चर्चा से यह फलित होता है कि निर्युक्तियों के कर्त्ता न तो चर्तुदश पूर्वधर आर्य भद्रबाहु हैं और न वाराहमिहिर के भाई नैमित्तिक भद्रबाहु। यह भी सुनिश्चित है कि निर्युक्तियों की रचना छेदसूत्रों की रचना के पश्चात् हुई है। किन्तु यह भी सत्य है कि निर्युक्तियों का अस्तित्व आगमों की देवार्द्धि के समय हुई वाचना के पूर्व था। अतः यह अवधारणा भी भ्रान्त है कि निर्युक्तियाँ विक्रम की छठवीं सदी के उत्तरार्द्ध में निर्मित हुई हैं। नन्दीसूत्र एवं पाक्षिकसूत्र की रचना के पूर्व आगमिक निर्युक्तियाँ अवश्य थीं।

अब यह प्रश्न उठता है कि यदि निर्युक्तियों के कर्त्ता श्रुत-केवली पूर्वधर प्राचीनगोत्रीय भद्रबाहु तथा वाराहमिहिर के भाई नैमित्तिक भद्रबाहु दोनों ही नहीं थे, तो फिर वे कौन से भद्रबाहु हैं जिनका नाम निर्युक्ति के कर्त्ता के रूप में माना जाता है। निर्युक्ति के कर्त्ता के रूप में भद्रबाहु की अनुश्रुति जुड़ी होने से इतना तो निश्चित है कि निर्युक्तियों का सम्बन्ध किसी "भद्र" नामक व्यक्ति से होना चाहिए और उनका अस्तित्व लगभग विक्रम की तीसरी-चौथी सदी के आस-पास होना चाहिए। क्योंकि नियमसार में आवश्यक की निर्युक्ति, मूलाचार में निर्युक्तियों के अस्वाध्याय काल में भी पढ़ने का निर्देश तथा उसमें और भगवतीआराधना में निर्युक्तियों की अनेकों गाथाओं की निर्युक्ति-गाथा के उल्लेख पूर्वक उपस्थिति, यही सिद्ध करती है कि निर्युक्ति के कर्त्ता उस अविभक्त परम्परा के होने चाहिए, जिससे श्वेताम्बर एवं यापनीय सम्प्रदायों का विकास हुआ है। कल्पसूत्र स्थविरावली में जो आचार्य परम्परा प्राप्त होती है, उसमें भगवान महावीर की परम्परा में प्राचीनगोत्रीय श्रुत-केवली भद्रबाहु के अतिरिक्त दो अन्य 'भद्र' नामक आचार्यों का उल्लेख प्राप्त होता है -- 1. आर्य शिवभूति के शिष्य काश्यपगोत्रीय आर्यभद्र और 2. आर्य कालक के शिष्य गौतमगोत्रीय आर्यभद्र।

संक्षेप में कल्पसूत्र की यह आचार्य परम्परा इस प्रकार है --

महावीर, गौतम, सुधर्मा, जम्बू, प्रभव, शय्यम्भव, यशोभद्र, संभूति विजय, भद्रबाहु

(चर्तुदशपूर्वधर), स्थूलिभद्र (जातव्य है कि भद्रबाहु एवं स्थूलिभद्र दोनों ही संभूति विजय के शिष्य थे।), आर्य सुहस्ति, सुस्थित, इन्द्रदिन्न, आर्यदिन्न, आर्यसिंहगिरि, आर्यवज्र, आर्य वज्रसेन, आर्यरथ, आर्य पुष्यगिरि, आर्य फल्गुमित्र, आर्य धनगिरि, आर्यशिवभूति, आर्यभद्र (काश्यपगोत्रीय), आर्यकृष्ण, आर्यनक्षत्र, आर्यरक्षित, आर्यनाग, आर्य ज्येष्ठिल, आर्यविष्णु, आर्यकालक, आर्यसंपालित, आर्यभद्र (गौतमगोत्रीय) आर्यवृद्ध, आर्य संघपालित, आर्यहस्ती, आर्यधर्म, आर्यसिंह, आर्यधर्म, षाडिल्य (सम्भवतः स्कंदिल, जो माथुरी वाचना के वाचना प्रमुख थे) आदि। गाथाबद्ध जो स्थविरावली है उसमें इसके बाद जम्बू, नन्दिल, दुष्यगाणि, स्थिरगुप्त, कुमारधर्म एवं देवद्विदक्षपकश्रमण के पाँच नाम और आते हैं।⁷³

जातव्य है कि नैमित्तिक भद्रबाहु का नाम जो विक्रम की छठीं शती के उत्तरार्ध में हुए हैं, इस सूची में सम्मिलित नहीं हो सकता है। क्योंकि यह सूची वीर निर्वाण सं. 980 अर्थात् विक्रम सं. 510 में अपना अन्तिम रूप ले चुकी थी।

इस स्थविरावली के आधार पर हमें जैन परम्परा में विक्रम की छठीं शती के पूर्वार्ध तक होने वाले भद्र नामक तीन आचार्य के नाम मिलते हैं -- प्रथम प्राचीनगोत्रीय आर्य भद्रबाहु, दूसरे आर्य शिवभूति के शिष्य काश्यपगोत्रीय आर्य भद्रगुप्त, तीसरे आर्य विष्णु के प्रशिष्य और आर्यकालक के शिष्य गौतमगोत्रीय आर्यभद्र। इनमें वराहमिहरे के भ्राता नैमित्तिक भद्रबाहु को जोड़ने पर यह संख्या चार हो जाती है। इनमें से प्रथम एवं अन्तिम को तो निर्युक्तिकर्त्ता के रूप में स्वीकार नहीं किया जा सकता है, इस निष्कर्ष पर हम पहुँच चुके हैं। अब शेष दो रहते हैं-- 1. शिवभूति के शिष्य आर्यभद्रगुप्त और दूसरे आर्यकालक के शिष्य आर्यभद्र। इनमें पहले हम आर्य धनगिरि के प्रशिष्य एवं आर्य शिवभूति के शिष्य आर्यभद्रगुप्त के सम्बन्ध में विचार करेंगे कि क्या वे निर्युक्तियों के कर्त्ता हो सकते हैं ?

क्या आर्यभद्रगुप्त निर्युक्तियों के कर्त्ता हैं ?

निर्युक्तियों को शिवभूति के शिष्य काश्यपगोत्रीय भद्रगुप्त की रचना मानने के पक्ष में हम निम्न तर्क दे सकते हैं --

1. निर्युक्तियाँ उत्तर भारत के निर्ग्रन्थ संघ से विकसित श्वेताम्बर एवं यापनीय दोनों सम्प्रदायों में मान्य रही हैं, क्योंकि यापनीय ग्रन्थ मूलाचार में न केवल शताधिक निर्युक्ति गाथाएँ उद्धृत हैं, अपितु उसमें अस्वाध्याय काल में निर्युक्तियों के अध्ययन करने का निर्देश भी है। इससे फलित होता है कि निर्युक्तियों की रचना मूलाचार से पूर्व हो चुकी थी।⁷⁴ यदि मूलाचार को छठीं सदी की रचना भी मानें तो उसके पूर्व निर्युक्तियों का अस्तित्व तो मानना ही होगा, साथ ही यह भी मानना होगा कि निर्युक्तियाँ मूलरूप में अविभक्त धारा में निर्मित हुई थीं। चूँकि परम्परा भेद तो शिवभूति के पश्चात् उनके शिष्यों कौडिन्य और कोट्टवीर से हुआ है। अतः निर्युक्तियाँ शिवभूति के शिष्य भद्रगुप्त की रचना मानी जा सकती हैं, क्योंकि वे न केवल अविभक्त धारा में हुए, अपितु लगभग उसीकाल में अर्थात् विक्रम की तीसरी शती में हुए हैं, जो कि निर्युक्ति का रचना काल है।

2. पुनः आचार्य भद्रगुप्त को उत्तर-भारत की अचेल परम्परा का पूर्वपुरुष दो-तीन आधारों पर माना जा सकता है। प्रथम तो कल्पसूत्र की पट्टावली के अनुसार आर्यभद्रगुप्त आर्यशिवभूति के शिष्य हैं और ये शिवभूति वही हैं जिनका आर्यकृष्ण से मुनि की उपधि (वस्त्र-पात्र) के प्रश्न पर विवाद हुआ था और जिन्होंने अचेलता का पक्ष लिया था। कल्पसूत्र स्थविरावली में आर्य कृष्ण और आर्यभद्र दोनों को आर्य शिवभूति का शिष्य कहा है। चूँकि आर्यभद्र ही ऐसे व्यक्ति हैं -- जिन्हें आर्यवज्र एवं आर्यरक्षित के शिक्षक के रूप में श्वेताम्बरों में और शिवभूति के शिष्य के रूप में यापनीय परम्परा में मान्यता मिली है। पुनः आर्यशिवभूति के शिष्य होने के कारण आर्यभद्र भी अचेलता के पक्षधर होंगे और इसलिए उनकी कृतियाँ यापनीय परम्परा में मान्य रही होंगी।

3. विदिशा से जो एक अभिलेख प्राप्त हुआ है उसमें भद्रान्वय एवं आर्यकुल का उल्लेख है --

शमदमवान चीकरत् [। ।] आचार्य - भद्रान्वयभूषणस्य

शिष्यो ह्यसावार्यकुलोदगतस्य [।] आचार्य - गोश

(जै. शि. सं. ३. पृ. 57)

सम्भावना यही है कि भद्रान्वय एवं आर्यकुल का विकास इन्हीं आर्य भद्र से हुआ हो। यहाँ के अन्य अभिलेखों में मुनि का 'पाणितलभोजी' ऐसा विशेषण होने से यह माना जा सकता है यह केन्द्र अचेल धारा का था। अपने पूर्वज आचार्य भद्र की कृतियाँ होने के कारण निर्युक्तियाँ यापनीयों में भी मान्य रही होंगी। ओघनिर्युक्ति या पिण्डनिर्युक्ति में भी जो कि परवर्ती एवं विकसित हैं, दो चार प्रसंगों के अतिरिक्त कहीं भी वस्त्र-पात्र का विशेष उल्लेख नहीं मिलता है। यह इस तथ्य का भी सूचक है कि निर्युक्तियों के काल तक वस्त्र-पात्र आदि का समर्थन उस रूप में नहीं किया जाता था, जिस रूप में परवर्ती श्वेताम्बर सम्प्रदाय में हुआ। वस्त्र-पात्र के सम्बन्ध में निर्युक्ति की मान्यता भगवतीआराधना एवं मूलाचार से अधिक दूर नहीं है। आचारांगनिर्युक्ति में आचारांग के वस्त्रौषणा अध्ययन की निर्युक्ति केवल एक गाथा में समाप्त हो गयी है और पात्रौषणा पर कोई निर्युक्ति गाथा ही नहीं है। अतः वस्त्र-पात्र के सम्बन्ध में निर्युक्तियों के कर्त्ता आर्य भद्र की स्थिति भी मथुरा के साधु-साध्वियों के अंकन से अधिक भिन्न नहीं है। अतः निर्युक्तिकार के रूप में आर्य भद्रगुप्त को स्वीकार करने में निर्युक्तियों में वस्त्र-पात्र के उल्लेख अधिक बाधक नहीं हैं।

4. चूँकि आर्यभद्र के निर्यापक आर्यरक्षित माने जाते हैं। निर्युक्ति और चूर्ण दोनों से ही यह सिद्ध है आर्यरक्षित भी अचेलता के ही पक्षधर थे और उन्होंने अपने पिता को, जो प्रारम्भ में अचेल दीक्षा ग्रहण करना नहीं चाहते थे, योजनापूर्वक अचेल बना ही दिया था। चूर्ण में जो कटीपट्टक की बात है, वह तो श्वेताम्बर पक्ष की पुष्टि हेतु डाली गयी प्रतीत होती है।

भद्रगुप्त को निर्युक्ति का कर्त्ता मानने के सम्बन्ध में निम्न कठिनाइयाँ हैं :-

1. आवश्यकनिर्युक्ति एवं आवश्यकचूर्ण के उल्लेखों के अनुसार आर्यरक्षित भद्रगुप्त के निर्यापक (समाधिमरण कराने वाले) माने गये। आवश्यकनिर्युक्ति न केवल आर्यरक्षित की विस्तार से चर्चा करती है, अपितु उनका आदरपूर्वक स्मरण भी करती है। भद्रगुप्त आर्यरक्षित से दीक्षा में ज्येष्ठ हैं, ऐसी स्थिति में उनके द्वारा रचित निर्युक्तियों में आर्यरक्षित का उल्लेख इतने विस्तार से एवं इतने आदरपूर्वक नहीं आना चाहिए। यद्यपि परवर्ती उल्लेख एकमत से यह मानते हैं कि आर्यभद्रगुप्त की निर्यापना आर्यरक्षित ने करवायी, किन्तु मूल गाथा को देखने पर इस मान्यता के बारे में किसी को सन्देह भी हो सकता है, मूल गाथा निम्नानुसार है --

"निज्जवण भद्दगुत्ते वीसुं पढणं च तस्स पुव्वगयं।

पव्वाविओ य भाया रक्खिअखमणेहिं जणओ अ"।।

- आवश्यकनिर्युक्ति, 776

यहाँ "निज्जवण भद्दगुत्ते" में यदि "भद्दगुत्ते" को आर्ष प्रयोग मानकर कोई प्रथमाविभक्ति में समझें तो इस गाथा के प्रथम दो चरणों का अर्थ इस प्रकार भी हो सकता है-- भद्रगुप्त ने आर्यरक्षित की निर्यापना की और उनसे समस्त पूर्वगत साहित्य का अध्ययन किया।

गाथा के उपरोक्त अर्थ को स्वीकार करने पर तो यह माना जा सकता है कि निर्युक्तियों में आर्यरक्षित का जो बहुमान पूर्वक उल्लेख है, वह अप्रासंगिक नहीं है। क्योंकि जिस व्यक्ति ने आर्यरक्षित की निर्यापना करवायी हो और जिनसे पूर्वी का अध्ययन किया वह उनका अपनी कृति में सम्मानपूर्वक उल्लेख करेगा ही। किन्तु गाथा का इस दृष्टि से किया गया अर्थ चूर्ण में प्रस्तुत कथानकों के साथ एवं निर्युक्ति गाथाओं के पूर्वापर प्रसंग को देखते हुए किसी भी प्रकार संगत नहीं माना जा सकता है। चूर्ण में तो यही कहा गया है कि आर्यरक्षित ने भद्रगुप्त की निर्यापना करवायी और आर्यवज्र से पूर्वसाहित्य का अध्ययन किया। यहाँ दूसरे चरण में प्रयुक्त "तस्स" शब्द का सम्बन्ध आर्य वज्र से है, जिनका उल्लेख पूर्व गाथाओं में किया गया है। साथ ही यहाँ 'भद्दगुत्ते' में सप्तमी का प्रयोग है, जो एक कार्य को समाप्त कर दूसरा कार्य प्रारम्भ करने की स्थिति में किया जाता है। यहाँ सम्पूर्ण गाथा का अर्थ इस प्रकार होगा -- आर्यरक्षित ने भद्रगुप्त की निर्यापना (समाधिमरण) करवाने के पश्चात् (आर्यवज्र से) पूर्वी का समस्त अध्ययन किया है और अपने भाई और पिता को दीक्षित किया। यदि आर्यरक्षित भद्रगुप्त के निर्यापक हैं और वे ही निर्युक्तियों के कर्त्ता भी हैं, तो फिर निर्युक्तियों में आर्यरक्षित द्वारा उनका निर्यापन (समाधिमरण) करवाने के बाद किये गये कार्यों का उल्लेख नहीं होना था। किन्तु ऐसा उल्लेख है, अतः निर्युक्तियाँ काश्यपगोत्रीय भद्रगुप्त की कृति नहीं हो सकती हैं।

2. दूसरी एक कठिनाई यह भी है कि कल्पसूत्र स्थविरावली के अनुसार आर्यरक्षित आर्यवज्र से 8वीं पीढ़ी में आते हैं। अतः यह कैसे सम्भव हो सकता है कि 8वीं पीढ़ी में होने वाला व्यक्ति अपने से आठ पीढ़ी पूर्व के आर्यवज्र से पूर्वी का अध्ययन करे। इससे कल्पसूत्र स्थविरावली में दिये गये क्रम में संदेह होता है, हालाँकि कल्पसूत्र स्थविरावली एवं अन्य स्रोतों से इतना तो निश्चित होता है कि आर्यभद्र आर्यरक्षित से पूर्व में हुए हैं। उसके अनुसार

आर्यरक्षित आर्यभद्र गुप्त के प्रशिष्य सिद्ध होते हैं। यद्यपि कथानकों में आर्यरक्षित को तोषलिपुत्र का शिष्य कहा गया है। हो सकता है कि तोषलिपुत्र आर्यभद्र गुप्त के शिष्य रहे हों। स्थविरावली के अनुसार आर्यभद्र के शिष्य आर्यनक्षत्र और उनके शिष्य आर्यरक्षित थे। चाहे कल्पसूत्र की स्थविरावली में कुछ अस्पष्टताएँ हों और दो आचार्यों की परम्परा को कहीं एक साथ मिला दिया गया हो, फिर भी इतना तो निश्चित है कि आर्य भद्र आर्यरक्षित से पूर्ववर्ती या ज्येष्ठ समकालिक हैं। ऐसी स्थिति में यदि निर्युक्तियाँ आर्यभद्रगुप्त के समाधिमरण के पश्चात् की आर्यरक्षित के जीवन की घटनाओं का विवरण देती हैं, तो उन्हें शिवभूति के शिष्य काश्यपगोत्रीय आर्यभद्रगुप्त की कृति नहीं माना जा सकता।

यदि हम आर्यभद्र को ही निर्युक्ति के कर्त्ता के रूप में स्वीकार करना चाहते हैं तो इसके अतिरिक्त कोई विकल्प नहीं है कि हम आर्यरक्षित, अन्तिम निह्नव एवं बोटिकों का उल्लेख करने वाली निर्युक्ति गाथाओं को प्रक्षिप्त मानें। यदि आर्यरक्षित आर्यभद्रगुप्त के निर्यापक हैं तो ऐसी स्थिति में आर्यभद्र का स्वर्गवास वीर निर्वाण सं. 560 के आस-पास मानना होगा क्योंकि प्रथम तो आर्यरक्षित ने भद्रगुप्त की निर्यापना अपने युवावस्था में ही करवायी थी और दूसरे तब वीर निर्वाण सं. 584 (विक्रम की द्वितीय शताब्दि) में स्वर्गवासी होने वाले आर्यवज्र जीवित थे। अतः निर्युक्तियों में अन्तिम निह्नव का कथन भी सम्भव नहीं लगता, क्योंकि अबद्धिक नामक सातवाँ निह्नव वीरनिर्वाण के 584 वर्ष पश्चात् हुआ है। अतः हमें न केवल आर्यरक्षित सम्बन्धी अपितु अन्तिम निह्नव एवं बोटिकों सम्बन्धी विवरण भी निर्युक्तियों में प्रक्षिप्त मानना होगा। यदि हम यह स्वीकार करने को सहमत नहीं हैं, तो हमें यह स्वीकार करना होगा कि काश्यपगोत्रीय आर्यभद्रगुप्त भी निर्युक्तियों के कर्त्ता नहीं हो सकते हैं। अतः हमें अन्य किसी भद्र नामक आचार्य की खोज करना होगा।

क्या गौतमगोत्रीय आर्यभद्र निर्युक्तियों के कर्त्ता हैं ?

काश्यपगोत्रीय भद्रगुप्त के पश्चात् कल्पसूत्र पट्टावली में हमें गौतमगोत्रीय आर्यकालक के शिष्य और आर्य संपलित के गुरु भाई आर्य भद्र का भी उल्लेख मिलता है¹⁵। आर्यभद्र आर्य विष्णु के प्रशिष्य एवं आर्यकालक के शिष्य हैं तथा इनके शिष्य के रूप में आर्य वृद्ध का उल्लेख है। यदि हम आर्य वृद्ध को वृद्धवादी मानते हैं, तो ऐसी स्थिति में ये आर्यभद्र सिद्धसेन के दादा गुरु सिद्ध होते हैं। यहाँ हमें यह देखना होगा कि क्या ये आर्यभद्र भी स्पष्ट संघभेद अर्थात् श्वेताम्बर, यापनीय और दिगम्बर सम्प्रदायों के नामकरण के पूर्व हुए हैं ? यह सुनिश्चित है कि सम्प्रदाय भेद के पश्चात् का कोई भी आचार्य निर्युक्ति का कर्त्ता नहीं हो सकता, क्योंकि निर्युक्तियाँ यापनीय और श्वेताम्बर दोनों में मान्य हैं। यदि वे एक सम्प्रदाय की कृति होतीं तो दूसरा सम्प्रदाय उसे मान्य नहीं करता। यदि हम आर्य विष्णु को दिगम्बर पट्टावली में उल्लिखित आर्य विष्णु समझे तो इनकी निकटता अचेल परम्परा से देखी जा सकती है। दूसरे विदिशा के अभिलेख में जिस भद्रान्वय एवं आर्य कुल का उल्लेख है उसका सम्बन्ध इन गौतमगोत्रीय आर्यभद्र से भी माना जा सकता है क्योंकि इनका काल भी स्पष्ट सम्प्रदाय भेद एवं उस अभिलेख के पूर्व है। दुर्भाग्य से इनके सन्दर्भ में आगमिक व्याख्या साहित्य में कहीं कोई

विवरण नहीं मिलता, केवल नाम-साम्य के आधार पर हम इनके निर्युक्तिकार होने की सम्भावना व्यक्त कर सकते हैं।

इनकी विद्वता एवं योग्यता के सम्बन्ध में भी आगमिक उल्लेखों का अभाव है, किन्तु वृद्धवादी जैसे शिष्य और सिद्धसेन जैसे प्रशिष्य के गुरु विद्वान होंगे, इसमें शंका नहीं की जा सकती। साथ ही इनके प्रशिष्य सिद्धसेन का आदरपूर्वक उल्लेख दिगम्बर और यापनीय आचार्य भी करते हैं, अतः इनकी कृतियों को उत्तर-भारत की अचेल परम्परा में मान्यता मिली हो ऐसा माना जा सकता है। ये आर्यरक्षित से पाँचवीं पीढ़ी में माने गये हैं। अतः इनका काल इनके सौ-डेढ़ सौ वर्ष पश्चात् ही होगा अर्थात् ये भी विक्रम की तीसरी सदी के उत्तरार्द्ध या चौथी के पूर्वार्द्ध में कभी हुए होंगे। लगभग यही काल माथुरीवाचना का भी है। चूँकि माथुरीवाचना यापनीयों को भी स्वीकृत रही है, इसलिए इन कालक के शिष्य गौतमगोत्रीय आर्यभद्र को निर्युक्तियों का कर्त्ता मानने में काल एवं परम्परा की दृष्टि से कठिनाई नहीं है।

यापनीय और श्वेताम्बर दोनों में निर्युक्तियों की मान्यता के होने के प्रश्न पर, इससे कोई बाधा नहीं आती, क्योंकि ये आर्यभद्र आर्य नक्षत्र एवं आर्य विष्णु की ही परम्परा शिष्य हैं। सम्भव है कि दिगम्बर परम्परा में आर्यनक्षत्र और आर्य विष्णु की परम्परा में हुए जिन भद्रबाहु के दक्षिण में जाने के उल्लेख मिलते हैं, जिनसे अचेल धारा में भद्रान्वय और आर्यकुल का आविर्भाव हुआ हो वे ये ही आर्यभद्र हों। यदि हम इन्हें निर्युक्तियों का कर्त्ता मानते हैं, तो इससे नन्दीसूत्र एवं पाक्षिक सूत्र में जो निर्युक्तियों के उल्लेख हैं वे भी युक्तिसंगत बन जाते हैं।

अतः हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि निर्युक्तियों के कर्त्ता आर्य नक्षत्र की परम्परा में हुए आर्य विष्णु के प्रशिष्य एवं आर्य संपलित के गुरु-भ्राता गौतमगोत्रीय आर्यभद्र ही हैं। यद्यपि मैं अपने इस निष्कर्ष को अन्तिम तो नहीं कहता, किन्तु इतना अवश्य कहूँगा कि इन आर्यभद्र को निर्युक्ति का कर्त्ता स्वीकार करने पर हम उन अनेक विप्रतिपत्तियों से बच सकते हैं, जो प्राचीनगोत्रीय पूर्वधर भद्रबाहु, काश्यपगोत्रीय आर्यभद्रगुप्त और वाराहमिहिर के भ्राता नैमित्तिक भद्रबाहु को निर्युक्तियों का कर्त्ता मानने पर आती हैं। हमारा यह दुर्भाग्य है कि अचेलधारा में निर्युक्तियाँ संरक्षित नहीं रह सकीं, मात्र भगवती-आराधना, मूलाचार और कुन्दकुन्द के ग्रन्थों में उनकी कुछ गाथायें ही अवशिष्ट हैं। इनमें भी मूलाचार ही मात्र ऐसा ग्रन्थ है जो लगभग सौ निर्युक्ति गाथाओं का निर्युक्ति गाथा के रूप में उल्लेख करता है। दूसरी ओर सचेल धारा में जो निर्युक्तियाँ उपलब्ध हैं, उनमें अनेक भाष्यगाथायें मिश्रित हो गई हैं, अतः उपलब्ध निर्युक्तियों में से भाष्य गाथाओं एवं प्रक्षिप्त गाथाओं को अलग करना एक कठिन कार्य है, किन्तु यदि एक बार निर्युक्तियों के रचनाकाल, उसके कर्त्ता तथा उनकी परम्परा का निर्धारण हो जाये, तो यह कार्य सरल हो सकता है।

आशा है जैन विद्या के निष्पक्ष विद्वानों की अगली पीढ़ी इस दिशा में और भी अन्वेषण कर निर्युक्ति साहित्य सम्बन्धी विभिन्न समस्याओं का समाधान प्रस्तुत करेगी। प्रस्तुत लेखन में मुनि श्री पुण्यविजयजी का आलेख मेरा उपजीव्य रहा है। आचार्य हस्तीमल जी ने जैनधर्म के

मौलिक इतिहास के लेखन में भी उसी का अनुसरण किया है। किन्तु मैं उक्त दोनों के निष्कर्षों से सहमत नहीं हो सका। यापनीय सम्प्रदाय पर मेरे द्वारा ग्रन्थ लेखन के समय मेरी दृष्टि में कुछ नई समस्याएँ और समाधान दृष्टिगत हुए और उन्हीं के प्रकाश में मैंने कुछ नवीन स्थापनाएँ प्रस्तुत की हैं, वे सत्य के कितनी निकट हैं, यह विचार करना विद्वानों का कार्य है। मैं अपने निष्कर्षों को अन्तिम सत्य नहीं मानता हूँ अतः सदैव उनके विचारों एवं समीक्षाओं से लाभान्वित होने का प्रयास करूँगा।

सन्दर्भ

- 1 (अ) निज्जुत्ता ते अत्था, जं बद्धा तेण होइ णिज्जुत्ति।
- आवश्यकनिर्युक्ति, गाथा 88
(ब) सूत्रार्थयो परस्पर निर्योजनं सम्बन्धननिर्युक्तिः
- आवश्यकनिर्युक्ति टीका हरिभद्र, गाथा 83 की टीका
- 2 अत्थाणं उग्गहणं अवगहं तह विआलणं इहं ।
- आवश्यकनिर्युक्ति, 3
- 3 ईहा अपोह वीमंसा, मग्गणा य गवेसणा ।
सण्णा सई मई पण्णा सच्चं आभिनिबोहियं ।।
- आवश्यकनिर्युक्ति, 12
- 4 आवस्सगस्स दसकालिअस्स तह उत्तरज्झमायारे ।
सूयगडे निज्जुत्ति वुच्छामि तहा दसाणं च ।।
कप्पस्स य निज्जुत्ति ववहारस्सेव परमणि णस्स ।
सुरिअपण्णत्तीए वुच्छं इसिभासियाणं च ।।
- आवश्यकनिर्युक्ति, 84, 85 ।
- 5 इसिभासियाहं (प्राकृत भारती, जयपुर), भूमिका, सागरमल जैन, पृ. 93
- 6 बृहत्कथाकोश (सिंघी जैन ग्रन्थमाला) प्रस्तावना ए एन. उपाध्ये, पृ. 31
- 7 आराधना ... तस्या निर्युक्तिराधनानिर्युक्तिः । - मूलाचार, पंचाचाराधिकार, गा. 279
की टीका (भारतीय ज्ञानपीठ 1984)
- 8 गोविंदाणं पि नमो अणुओगे विउलधारणिंदाणं ।
- नन्दिसूत्र स्थविरावली, गा. 41
- 9 व्यवहारभाष्य, भाग 6, गा. 267-268
- 10 सो य हेउगोवएसो गोविन्दनिज्जुत्तिमादितो... । -
दरिसणप्पभावगाणि सत्थाणि जहा गोविंदनिज्जुत्तिमादी ।
- आवश्यकचूर्णि भाग 1, पृ. 31, 353, भाग 2, पृ. 201, 322
- 11 गोविंदो... पच्छालेण एगिदिय जीव साहणं गोविंद निज्जुतिकया ।
निशीथ भाष्य गाथा 3656, निशीथचूर्णि, भाग 3, पृ. 260, भाग 4, पृ. 96
- 12 नन्दीसूत्र, (सं. मधुकरमुनि) सूत्रसंख्या,
- 13 (अ) प्राकृतसाहित्य का इतिहास, डॉ. जगदीश चन्द्रजैन, पृ.
(ब) जैनसाहित्य का बृहद् इतिहास, भाग 3, डॉ. मोहनलाल मेहता, पृ. 6
- 14 आवश्यकनिर्युक्ति, गाथा 84, 85

15. आवश्यकनिर्युक्ति, गाथा 84
16. बहुरय पएस अव्वत्तसमुच्छादुगतिग अबद्धिया चेव ।
 सत्तेए णिणहगा खलु तित्थमि उ वद्धमाणस्स ॥
 बहुरय जमालिपभवा जीवपएसा ये तीसगुत्ताओ ।
 अव्वत्ताऽऽसादाओ सामुच्छेयाऽऽसमित्ताओ ॥
 गंगाओ दोकिरिया छल्लुगा तरासियाण उप्पत्ती ।
 थेराय गोट्ठमाहिल पुट्ठमबद्धं परूविति ॥
 सावत्थी उसभपुरं सेयकिया मिहिल उल्लुगातीरं ।
 पुरिमंतरंजि दसपुर रहवीरपुरं च नगराई ॥
 चोददस सोलस वासा चोददसवीसुत्तरा य दोण्णि सया ।
 अट्ठावीसा य दुवे पंचेव सया उ चोयाला ॥
 पंच सया चुलसीया छच्चेव सया णवोत्तरा होति ।
 णाणुपत्तीय दुवे उप्पण्णा णिव्वुए सेसा ॥
 एवं एए कहिया ओसप्पिणीए उ निणहवा सत्त ।
 वीरवरस्स पवयणे सेसाणं पव्वयणे णत्थि ॥
17. बहुरय जमालिपभवा जीवपएसा य तीसगुत्ताओ ।
 अव्वत्ताऽऽसादाओ सामुच्छेयाऽऽसमित्ताओ ॥
 गंगाए दोकिरिया छल्लुगा तेरासिआण उप्पत्ती ।
 थेरा य गुट्ठमाहिल पुट्ठमबद्धं परूविति ॥
 जिट्ठा सुदंसण जमालि अणुज्ज सावत्थि तिदुगुज्जाणे ।
 पंच सया य सहस्सं ढकेण जमालि मुत्तूणं ॥
 रायगिहे गुणासिलए वसु चउदसपुव्वि तीसगुत्ताओ ।
 आमलकप्पा नयरि मित्तासिरी कूरपिंडादि ॥
 सियवियपोलासाढे जोगे तदिदवसहिययसुले य ।
 सोहम्मि नल्लिणगुम्मे रायगिहे पुरिय बलभददे ॥
 मिहिलाए लच्छिघरे महगिरि कोडिन्न आसमित्तो अ ।
 णेउणमणुप्पवाए रायगिहे खंडरक्खा य ॥
 नइखेडजणव उल्लग महगिरि धणगुत्त अज्जगंगे य ।
 किरिया दो रायगिहे महातवो तीरमणिनाए ॥
 पुरिमंतरंजि भुयगुह बलसिरि सिरिगुत्त रोहगुत्ते य ।
 परिवाय पुट्ठसाले घोसण पडिसेहणा वाए ॥
 विट्ठुय सप्पे मूसग मिगी वराही य कागि पोयाइं ।
 एयाहिं विज्जाहिं सो उ परिव्वायगो कुसलो ॥
 मोरिय नउलि बिराली वघी सीही य उल्लुगि ओवाइ ।
 एयाओ विज्जाओ गिणह परिव्वायमहणीओ ॥

दसपुरनगरुच्छुधरे अज्जरक्खिय पुसमित्तत्तियगं च ।
 गुट्टामाहिल नव अट्ठ सेसपुच्छा य विइस्स ॥
 पुट्ठो जहा अबद्धो कंचुइणं कंचुओ समन्नेइ ।
 एवं पुट्ठमबद्धं जीवं कम्मं समन्नेइ ॥
 पच्चक्खाणं सेयं अपरिमाणेण होइ कायव्वं ।
 जेसिं तु परीमाणं तं दुट्ठं होइ आसंसा ।
 रहवीरपुरं नयरं दीवगमुज्जाण अज्जकणहे अ ।
 सिवभूइस्सुवहिंमि पुच्छा थेराण कहणा य ॥

- उत्तराध्ययननिर्युक्ति, 165-178

18. उत्तराध्ययननिर्युक्ति, गाथा 29
19. दशवैकालिकनिर्युक्ति, गाथा 309-326
20. उत्तराध्ययननिर्युक्ति, गाथा 207
21. दशवैकालिकनिर्युक्ति, गाथा 161-163
22. आचारांगनिर्युक्ति, गाथा, 5
23. (अ) दशवैकालिकनिर्युक्ति, गाथा, 79-88
 (ब) उत्तराध्ययननिर्युक्ति, गाथा 143-144
24. जो चेव होइ मुक्खो सा उ विमुत्ति प्पायं तु भावेणं ।
 देसविमुक्का साहू सव्वविमुक्का भवे सिद्धा ॥
 - आचारांगनिर्युक्ति, 331
25. उत्तराध्ययननिर्युक्ति, गाथा 497-92
26. सूत्रकृतांगनिर्युक्ति, गाथा 99
27. दशवैकालिकनिर्युक्ति, गाथा 3
28. सूत्रकृतांगनिर्युक्ति, गाथा 127
29. उत्तराध्ययननिर्युक्ति, गाथा, 267-268
30. दशाश्रुतस्कंधनिर्युक्ति, गाथा 1
31. तहवि य कोई अत्थो उप्पज्जति तम्मि तंमि समयंमि ।
 पुव्वभणिओ अणुमतो अ होइ इसिभासिप्पसु जहा ॥
 - सूत्रकृतांगनिर्युक्ति, गाथा, 189
32. (क) बृहत्कल्पसूत्रम्, षष्ठ विभाग, प्रकाशक-- श्री आत्मानन्द जैन सभा भावनगर,
 प्रस्तावना, पृ. 4,5
33. वही, आमुख, पृ. 2
34. (क) मूढणइयं सुयं कालियं तु ण णया समयोरंति इहं ।
 अपुहुत्ते समयारो, नत्थि पुहुत्ते समयारो ॥
 जावंति अज्जवइरा, अपुहुत्तं कालियाणुओगे य ।
 तेणास्सरेण पुहुत्तं, कालियसुय दिट्ठिवाए य ॥

- आवश्यकनिर्युक्ति, गाथा 762-776

- (ख) तुंबवणसन्निवेशो, निगयं पिउसगासमल्लीणं ।
 छम्मासियं छसु जयं, माऊय समन्नियं वंदे ॥
 जो गुज्झएहिं बालो, निमंतिओ भोयणेण वासंते ।
 णेच्छइ विणीयविणओ, तं वडररिसिं णमंसामि ॥
 उज्जेणीए जो जंभगेहिं आणक्खिऊण थुयमहिओ ॥
 अक्खीणमहाणसियं सीहगिरिपसंसियं वंदे ॥
 जस्स अणुणाए वायगत्तणे दसपुरम्मि णयरम्मि ।
 देवेहिं कया महिमा, पयाणुसारिं णमंसामि ॥
 जो कन्नाइ धणेण य, णिमंतिओ जुव्वणम्मि गिहवइणा ।
 नयरम्मि कुसुमनामे, तं बडररिसिं णमंसामि ॥
 जणुद्धारआ विज्जा, आगासगमा महारिण्णाओ ।
 वंदामि अज्जवडरं, अपच्छिमो जो सुयहराणं ॥
- (ग) अपुडुत्ते अणुओगो, चत्तारि दुवार भासई एगो ।
 पुहुताणुओगकरणे, ते अत्थ तओ उ वोच्छिन्ना ॥
 देविदवदिएहिं, महाणुभागेहिं रक्खिअज्जेहिं ।
 जुगमासज्ज विभत्तो, अणुओगो तो कओ चउहा ॥
 माया य रुदसोमा, पिया य नामेण सोमदेव त्ति ।
 भाया य फग्गुरक्खिय, तोसलिपुत्ता य आयरिआ ॥
 णिज्जवणभद्गुत्ते, वीसं पढणं च तस्स पुव्वगयं ।
 पव्वाविओ य भाया, रक्खिअखमणेहिं जणओ य ॥

35. जह जह पएसिणी जाणुगाम्मि पालित्तओ भमाडेइ ।
 तह तह सीसे वियणा, पणस्सइ मुहुंढरायस्स ॥

- पिण्डनिर्युक्ति, गाथा - 498

36. नइ कण्ह-विन्न दीवे, पंचसया तावसाण णिंक्संति ।
 पव्वदिवसेसु कुलवइ, पालेवुत्तार सक्कारे ॥
 जण सावगाण खिसण, समियक्खण माइठाण लेवेण ।
 सावय पयत्तकरणं, अविणय लोए चलण धोए ॥
 पडिलाभिय वच्चंता, निबुड्ड नइकूलमिलण समियाओ ।
 विन्धिय पंच सया तावसाण पव्वज्ज साहा य ॥

- पिण्डनिर्युक्ति, गाथा 503-505

37. (अ) वही, गाथा 505

(ब) नन्दीसूत्र स्थविरावली गाथा, 36

(स) मथुरा के अभिलेखों में इस शाखा का उल्लेख ब्रह्मदासिक शाखा के रूप में मिलता है ।

38. उज्जैणी कालखमणा सागरखमणा सुवण्णभूमि।
इंदो आउयसेसं, पुच्छइ सादिक्करणं च ॥
- उत्तराध्ययननिर्युक्ति, गाथा 119
39. अरहंते वंदित्ता चउदसपुव्वी तहेव दसपुव्वी।
एक्कारसंगसुन्तत्थधारण सव्वसाहू य ॥
- ओघनिर्युक्ति, गाथा 1
40. श्रीमती ओघनिर्युक्ति, संपादक- श्री-मद्विजयगुरीश्वर, प्रकाशन-- जैन ग्रन्थमाला,
गोपीपुरा, सूरत, पृ. 3-4
41. जेणुद्धरिया विज्जा आगासगमा महापरिन्नाओ।
वंदामि अज्जवइरं अपच्छिमो जो सुअहराणं ॥
- गाथा, 769
42. आवश्यकनिर्युक्ति, गाथा, 763-774
43. अपुहुत्तपुहुत्ताइं निदिदसिउं एत्थ होइ अहिगारो।
चरणकरणाणुओगेण तस्स दारा इमे हुंति ॥
- दशवैकालिक निर्युक्ति, गाथा 4
44. ओहेण उ निज्जुत्ति वुच्छं चरणकरणाणुओगाओ।
अप्पक्खरं महत्थं अणुग्गहत्थं सुविहियाणं ॥
- ओघनिर्युक्ति, गाथा 2
45. आवश्यकनिर्युक्ति, गाथा 778-783
46. उत्तराध्ययननिर्युक्ति, गाथा 164-178
47. एगभविए य बद्धाउए य अभिमुहियनामगोए य।
एते तिन्निवि देसा दव्वंमि य पोंडरीयस्स ॥
- सूत्रकृतांगनिर्युक्ति, गाथा 146
48. उत्तराध्ययन टीका शान्त्याचार्य, उद्धृत बृहत्कल्पसूत्रम् भाष्य, षष्ठ विभाग प्रस्तावना,
पृ.12
49. वही, पृ. 9
50. बृहत्कल्पसूत्रम्, भाष्य षष्ठविभाग, आत्मानन्द जैन सभा, भावनगर, पृ. 11
51. साव¹ त्थी उसम²पुर सेय³विया मिहिल⁴ उल्लुसुगीतीरं।
पुदिमंत⁶रंजि दस⁷पुर रहवीर⁸पुरं च नगराइं ॥
चोद्द¹स सोल²स वासा चोद्दसवीसु³त्तरा⁴ य दोण्णि सग्ग्या।
अट्ठावीसो⁵ य दुवे पंचेव सया⁶ उ चोयाला ॥
- आवश्यकनिर्युक्ति, गाथा 81-82
52. रहवीरपुरं नयरं दीवगमुज्जाण अज्जकण्हे अ।
सिवभूइस्सुवहिंमि पुच्छा थोराण कहणा य ॥
- उत्तराध्ययननिर्युक्ति, गाथा 178

53. स्वयं चतुर्दशपूर्वित्वेऽपि यच्चतुर्दशपूर्व्युपादानं तत् तेषामपि षट्स्थानपतितत्वेन शेषमहात्म्यस्थापनपरमदुष्टमेव, भाष्यगाथा वा द्वरगाथाद्वयादारभ्य लक्ष्यन्त इति प्रेर्यानवकाश एवेति ।।

- उत्तराध्ययन टीका, शान्त्याचार्य, गाथा 233

54. एगभवि ए य बद्धाउए य अभिमुहियनामगोए य ।

एते तिन्निवि देसा दव्वमि य पोंडरीयस्स ।।

- सूत्रकृतांगनिर्युक्ति, गाथा 146

55. ये चादेशाः⁴, यथा-- आर्यमङ्गुराचार्यस्त्रिविधं शङ्खमिच्छति-- एकभाविकं बद्धायुष्कमभिमुखनामगोत्रं च, आर्यसमुद्रो द्विविधम् -- बद्धायुष्कमभिमुखनामगोत्रं च, आर्यसुहस्ती एकम्-- अभिमुखनाम गोत्रमिति:

- बृहत्कल्पसूत्रम्, भाष्य भाग 1, गाथा 144

56. वही, षष्ठविभाग, पृ. सं. ५५-१७

57. आवश्यकनिर्युक्ति, गाथा 1252-1260

58. वही, गाथा- 85

59. जत्थ य जो पणवओ कस्सवि साहइ दिसासु य णिमित्तं ।

जत्तोमुहो य ढाई सा पुव्वा पच्छवो अवरा ।।

- आचारांगनिर्युक्ति, गाथा 51

60. सप्ताश्विवेदसंख्य, शककालमपास्य चैत्रशुक्लादौ ।

अर्धास्तमिते भानौ, यवनपुरे सौम्यदिवसाद्ये ।।

- पंचसिद्धान्तिका उद्धृत बृहत्कल्पसूत्रम्, भाष्य षष्ठविभाग, प्रस्तावना,

पृ. 17

61. बृहत्कल्पसूत्रम्, षष्ठविभाग, प्रस्तावना, पृ. 18

62. गोविंदो नाम भिक्खू...

पच्छा तेण एरिंदियजीवसाहणं गोविंदनिज्जुत्ती कया ।। एस नाणतेणो ।।

- निशीथचूर्णि, भाग 3, उद्देशक 11-स्सन्मति ज्ञानपीठ, आगरा, पृ. 260

63. (अ) गोविंदाणं पि नमो, अणुओगे विउलधारणिंदाणं ।

णिच्चं खंतिदयाणं पस्वणे दुल्लभिंदाणं ।।

- नन्दीसूत्र, गाथा 81

(ब) आर्य स्कंदिल

।

आर्य हिमवंत

।

आर्य नागार्जुन

।

आर्य गोविन्द

- देखें नन्दीसूत्र स्थविरावली, गाथा 36-41

64. पच्छा तेण एगिंदियजीवसाहणं गोविंदणिज्जुत्ती कया। एस णाणतेणो। एव दंसणपभावागसत्थट्ठा।

- निशीथचूर्णि, पृ. 260

65. निणहयाण वत्तव्वया भाणियव्वा जहा सामाइयनिज्जुत्तीए।

- उत्तराध्ययनचूर्णि, जिनदासगणिमहत्तर, विक्रम संवत् 1989, पृ. 95,

66. इदाणि एतेसिं कालो भण्णति 'चउददस सोलस वीसा' गाहाउ दो, इदाणि भण्णति -- 'चोददस वासा तइया' गाथा अक्खाणयसंगहणी। वही, पृ. 95

67. मिच्छदिदट्ठी सासायणे य तह सम्ममिच्छदिदट्ठी य।

अविरयसम्मदिदट्ठी विरयाविरए पमत्ते य।।

तत्तो य अप्पमत्तो नियट्ठि अनियट्ठि बायरे सुहुमे।

उवसंत खीणमोहे होइ सजोगी अजोगी य।।

- आवश्यकनिर्युक्ति, (निर्युक्तिसंग्रह, पृ. 140)

68. आवश्यकनिर्युक्ति (हरिभद्र) भाग 2, प्रकाशक श्री भेरूलाल कन्हैया लाल कोठारी धार्मिक ट्रस्ट, मुम्बई, वीर सं. 2508, पृ. 106-107

69. सम्मत्तुपत्ती सावए य विरए अणंतकम्मसे।

दंसणमोहक्खवए उवसामंते य उवसते।।

खवए य खीणमोहे जिणे अ सेदी भवे असंखिज्जा।

तव्विवरीओ कालो संखज्जुगुणाइ सेदीए।।

- आचारगनिर्युक्ति, गाथा 222, 223 (निर्युक्तिसंग्रह, पृ. 441)

70. सम्यग्दृष्टिश्चावकविरतानन्तवियोजकदर्शनमोहक्षपकोपशमकोपशान्तमोहक्षपकक्षीण मोहजिनाः क्रमशोऽसंख्येयगुण निर्जराः।।

- तत्त्वार्थसूत्र (उभास्वति) सुखलाल संघवी, 9/47

71. (अ) णिज्जुत्ती णिज्जुत्ती एसा कहिदा मए समासेण।

अह वित्थार पंसगोऽणियोगदो होदि णादव्वो।। -

आवासागणिज्जुत्ती एवं कधिदा समासओ विहिणा।

णो उवज्जुजदि णिच्चं सो सिद्धि, जादि विसुद्धप्पा।।

- मूलाचार (भारतीय ज्ञानपीठ) 691, 692

... एसो अण्णो गंधो कप्पदि पढिदुं असज्झाए।

आराहणा णिज्जुत्ति मरणविभत्ती य संगहत्थुदिओ।

पच्चक्खाणावसय धम्मकहाओ एरिस ओ।।

- मूलाचार, 278, 279

(ब) ण वसो अक्सो अक्सस्सकम्ममाक्ससयंति बोधव्वा।

जुत्ति त्ति उवाअंत्ति ण णिरवयवो होदि णिज्जुत्ती।।

- मूलाचार, 515

72. ण वसो अवसो अवसस्स कम्म वावस्सयं ति बोधव्वा
जुत्ति त्ति उवाअंति य णिरवयवो होदि णिजुत्ती ।।

- नियमसार, गाथा 142, लखनऊ, 1931

73. देखें-- कल्पसूत्र, स्थविरावली विभाग,

74. देखें -- मूलाचार षडावश्यक-अधिकार

75. थेरस्स णं अज्ज विन्हुस्स माढरस्सगुत्तस्स अज्जकालए थेरे अंतेवासी गोयमसगुत्ते
थेरस्सणं अज्जकालस्स गोयमसगुत्तस्स इमे दुवे थेरा अंतेवासी गोयमसगुत्ते अज्ज
संपल्लिए थेरे अज्जभद्दे, एणसि दुन्हवि गोयमसगुत्ताणं अज्ज बुद्धे थेरे ।

- कल्पसूत्र (मुनिप्यारचन्द्रजी, रतलाम) स्थविरावली, पृ. 233

जैन एवं बौद्ध पारिभाषिक शब्दों के अर्थ निर्धारण और अनुवाद की समस्या

- प्रो. सागरमल जैन

किसी शब्द के अर्थ का निर्धारण करने या उसे पारिभाषित करने में अनेक कठिनाइयाँ उपस्थित होती हैं। क्योंकि शब्दों के वाच्यार्थ बदलते रहते हैं। साथ ही उनमें अर्थ संकोच और अर्थ विस्तार भी होता है। यह कठिनाई तब और अधिक समस्याप्रद बन जाती है, जब एक ही परम्परा में कालक्रम में शब्द का अर्थ बदल जाता है। कुछ शब्द कालक्रम में अपने पुराने अर्थ को खोजकर नये अर्थ को ग्रहण करते हैं तो कुछ शब्द एक परम्परा से आकर दूसरी परम्परा में मूल अर्थ से भिन्न किसी अन्य अर्थ में रुढ़ हो जाता है। आसव शब्द जैन और बौद्ध परम्परा में समान रूप से प्रयुक्त हुआ है, किन्तु उसके अर्थ भिन्न हो गये हैं। जैन और बौद्ध परम्परा के अनेक पारिभाषिक शब्दों के साथ यही स्थिति रही है। कुछ शब्द अन्य परम्परा से जैन परम्परा में आये, किन्तु यहाँ आकर उनका अर्थ बदल गया। पुनः कुछ शब्द जैन एवं बौद्ध परम्परा में भी कालक्रम में अपने पुराने अर्थ को छोड़कर नये-नये अर्थ को ग्रहण करते रहे हैं। प्रस्तुत निबन्ध में हम इन्हीं दो कठिनाइयों के सन्दर्भ में जैन पारिभाषिक शब्दों के अर्थ-निर्धारण की समस्या पर प्रकाश डालने का प्रयत्न करेंगे।

शब्द के अर्थ-निर्धारण की समस्या से जैनाचार्य प्राचीन काल से ही परिचित थे, अतः उन्होंने सर्वप्रथम निक्षेप और नय के सिद्धान्तों के सिद्धान्तों का विकास किया, ताकि सन्दर्भ और वक्ता के अभिप्राय के आधार पर शब्द एवं वाक्य के अर्थ का निर्धारण किया जा सके। शब्द के अर्थ निर्धारण में उसके सन्दर्भ का विचार करना यह निक्षेप का कार्य है और वक्ता के अभिप्राय के आधार पर वाक्य का अर्थ समझना यह नय का कार्य माना गया। निक्षेप शब्द के अर्थ का निश्चय करता है और नय वाक्य के अर्थ का निश्चय करता है।

शब्दों के अर्थ-निर्धारण एवं उनको पारिभाषित करने में एक समस्या यह भी होती है कि ग्रन्थ किसी अन्य देश एवं काल की रचना होता है और उसके व्याख्याकार या टीकाकार किसी अन्य देश और काल के व्यक्ति होते हैं; इसलिए कभी-कभी उनके द्वारा की गई शब्द की परिभाषाएँ अपने मूल अर्थ से भिन्न होती हैं और कभी-कभी भ्रांत भी। जैन परम्परा में कई शब्दों के टीकाकारों के द्वारा किये गये अर्थ अपने मूल अर्थ से भिन्न हैं और कभी-कभी तो ग्रन्थ के हार्द को भी समझने में कठिनाई उत्पन्न करते हैं। यह समस्या भी विशेष रूप से उन ग्रन्थों के सन्दर्भ में है जो पर्याप्त प्राचीन है। ऐसे ग्रन्थों में हम आचारांग, सूत्रकृतांग, ऋषिभाषित और कुछ छेदसूत्रों को ले सकते हैं। यहाँ हम इनके सभी शब्दों के सन्दर्भ में तो विचार नहीं कर सकेंगे, किन्तु कुछ प्रतिनिधि पारिभाषिक शब्दों को लेकर उनके अर्थ-निर्धारण की समस्या पर विचार करेंगे।

सर्वप्रथम हम अरिहंत या अरहन्त शब्द को ही लें। प्राचीनकाल में यह शब्द जैन परम्परा का विशिष्ट शब्द न होकर भारतीय परम्परा का एक सामान्य शब्द था। अपने मूल अर्थ में यह शब्द पूजा-योग्य अर्थात् पूजनीय या "सम्माननीय" अर्थ का वाचक था और उसके बाद यह शब्द वासनाओं से मुक्त एवं राग-द्वेष के विजेता वितराग व्यक्ति के लिए प्रयोग किया जाने लगा, क्योंकि वह सम्माननीय या पूजनीय होता था। प्राचीन जैन एवं बौद्धग्रन्थों में यह शब्द इसी अर्थ में प्रयुक्त हुआ, किन्तु जब जैन परम्परा में कर्म-सिद्धान्त का विकास हुआ तो इस शब्द को पुनः एक नया अर्थ मिला और यह कहा गया कि जो व्यक्ति चारघाती कर्मों को अर्थात् ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय और अन्तराय को क्षय कर लेता है, वह "अर्हत्" है। ज्ञानावरण और दर्शनावरण के क्षय करने के कारण "अरहन्त" को सर्वज्ञ का पर्यायवाची माना गया। इस प्रकार "अरहन्त" शब्द ने जैन परम्परा में एक अपना विशेष अर्थ प्राप्त किया। कालान्तर में अरिहन्त के (अरि+हंत) रूप से यह राग-द्वेष रूपी शत्रुओं को मारने वाला और अरुहंत के रूप में जो संसार में पुनः जन्म नहीं लेने वाला माना गया, यह व्याख्या जैन और बौद्ध दोनों में है। अतः आगे चलकर यह अर्थ भी स्थिर नहीं रह सका और जैन परम्परा में अरहन्त शब्द केवल तीर्थंकरों का पर्यायवाची बन गया। यदि हम "सव्वणु" (सर्वज्ञ) और केवली शब्द का इतिहास देखें तो इनके भी अर्थ में कालान्तर में विकास देखा जाता है। प्राचीन स्तर के जैन आगमों जैसे -- सूत्रकृतांग, भगवती आदि में सर्वज्ञ शब्द उस अर्थ का वाचक नहीं था जो उसे बाद में मिला। तत्त्वार्थसूत्र और भाष्य-साहित्य में तथा अन्य ग्रन्थों में "सर्वज्ञ" और "केवली" शब्द सभी द्रव्यों और उनकी पर्यायों के त्रैकालिक ज्ञान के वाचक माने गये हैं, किन्तु सूत्रकृतांग एवं भगवती में सर्वज्ञ और केवली शब्द इस अर्थ में प्रयुक्त नहीं हुए हैं। वहाँ "सर्वज्ञ" शब्द का अर्थ आत्मज्ञ, आत्मद्रष्टा, आत्मसाक्षी और अधिक से अधिक जीवन और जगत् के सम्यक् स्वरूप का ज्ञाता ही था, इसी प्रकार बौद्धदर्शन में भी प्रारम्भ में सर्वज्ञ का तात्पर्य हेय और उपादेय का विवेक था। दूसरे शब्दों में उस काल तक सर्वज्ञ शब्द आत्मज्ञान एवं दार्शनिक ज्ञान का ही पर्यायवाची था, अन्यथा भगवती में केवली "सिय जाणइ सिय ण जाणइ" ऐसा उल्लेख नहीं होता। इस सम्बन्ध में पंडित सुखलालजी ने पर्याप्त विचार किया है। सर्वज्ञ का पर्यायवाची "केवली" शब्द भी अपने प्राचीन अर्थ को खोकर नवीन अर्थ में सर्वज्ञाताद्रष्टा अर्थात् सभी द्रव्यों की सभी पर्यायों के त्रैकालिक ज्ञान का वाचक बन गया, यहाँ यह भी स्मरण रखना होगा कि केवली शब्द प्राचीन सांख्य परम्परा से जैन परम्परा में आया और वहाँ वह आत्मद्रष्टा के अर्थ में या प्रकृति-पुरुष के विवेक का ही वाचक था। यही कारण था कि कुन्दकुन्द को यह कहना पड़ा, कि वस्तुतः केवली आत्मा को जानता है, वह लोकालोक को जानता है यह व्यवहार नय या व्यवहार दृष्टि है। पाली त्रिपिटक में सर्वज्ञ का जो मखौल उड़ाया गया है, वह उसके दूसरे अर्थ को लेकर है। यही स्थिति "बुद्ध", "जिन" और "वीर" शब्दों की है। एक समय तक ये जैन, बौद्ध एवं अन्य श्रमण परम्पराओं के सामान्य शब्द थे। प्रारम्भ में इनका अर्थ क्रमशः इन्द्रियविजेता, प्रज्ञावान और कष्टसहिष्णुसाधक था किन्तु आगे चलकर जहाँ जैन परम्परा में "जिन" शब्द और बौद्ध परम्परा में "बुद्ध" शब्द विशिष्ट अर्थ के वाचक बन गये, जैन परम्परा में "जिन" शब्द को मात्र तीर्थंकर का पर्यायवाची और बौद्ध

परम्परा में बुद्ध को धर्मचक्र प्रवर्तक बुद्ध का वाचक माना गया। "वीर" शब्द जहाँ आचारांग में कष्ट-सहिष्णु साधक या संयमी मुनि का पर्यायवाची था, वहीं आगे चलकर महावीर का पर्यायवाची मान लिया गया। यही स्थिति "तथागत" शब्द की है। आचारांग में "तथागत" शब्द मुख्य रूप से प्रज्ञावान मुनि के लिए प्रयुक्त हुआ किन्तु कालान्तर में जैन परम्परा से यह शब्द लुप्त हो गया और बौद्ध परम्परा का विशिष्ट शब्द बन गया और वहाँ उसे भगवान बुद्ध का पर्यायवाची मान लिया गया।

इसी प्रकार यदि "दंसण" (दर्शन) शब्द को लें तो उसके अर्थ में भी स्वयं जैन परम्परा में ही अर्थ परिवर्तन होता रहा है। प्राचीन जैनागम आचारांग में यह शब्द द्रष्टाभाव या साक्षीभाव के अर्थ में "प्रयुक्त" हुआ, जबकि जैन-ज्ञान मीमांसा में यह शब्द ऐन्द्रिक और मानसिक संवेदनों के रूप में प्रयोग किया गया। आगमों में "जाणई" और "पासई" ऐसे दो शब्दों का प्रयोग मिलता है। वहाँ "पास" या "पासइ" शब्द का अर्थ देखना था और वह दंसण का पर्यायवाची था। प्राचीनस्तर के ग्रन्थों में दर्शन या देखने का तात्पर्य जागतिक घटनाओं को समभावपूर्वक देखने से रहा जैसे "एस पासगस्स दंसणं, एस कुसलस्स दंसणं" किन्तु आगे चलकर यह शब्द जब जिण-दंसण आदि विशेषणों के साथ प्रयुक्त हुआ तो वह "दर्शन" (फिलासोफी) का पर्यायवाची बन गया और उस अर्थ में उसे दृष्टि कहा गया और उसी से सम्यग्दृष्टि एवं मिथ्यादृष्टि शब्द निष्पन्न हुए। पुनः आगे चलकर जैनागमों में ही यह दंसण शब्द श्रद्धान का पर्यायवाची हो गया। आचारांग में "दंसण" शब्द साक्षीभाव के अर्थ में एवं सूत्रकृतांग में दर्शन (फिलासोफी) के अर्थ में प्रयुक्त हुआ। किन्तु उत्तराध्ययन में "णाणेन जाणई भावे दंसणेण सद्दहे" कहकर दर्शन को श्रद्धान का पर्यायवाची बना दिया गया। जैनकर्म सिद्धान्त में ही दर्शन-मोह और दर्शनावरण इन दोनों शब्दों में प्रयुक्त दर्शन शब्द दो भिन्न अर्थों का वाचक बन गया है। "दर्शनावरण" में रहे हुए "दर्शन" शब्द का तात्पर्य जहाँ ऐन्द्रिक और मानसिक संवेदन है वहाँ "दर्शन मोह" में "दर्शन" शब्द का अर्थ दार्शनिक दृष्टिकोण या दर्शन (फिलासोफी) है। सम्प्रदाय भेद से भी जैन परम्परा में शब्दों के अर्थ में भिन्नता आयी है। उदाहरण के रूप में "अचेल" शब्द का अर्थ जहाँ श्वेताम्बरों में अल्प-चेल किया तो दिगम्बरों में वस्त्र का अभाव ऐसा किया है।

इसी प्रकार "पुद्गल" शब्द को लें। "पुद्गल" शब्द भगवतीसूत्र में व्यक्ति (इण्डीविजुअल) अथवा व्यक्ति के शरीर के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है, किन्तु इसके साथ ही साथ उसी ग्रन्थ में "पुद्गल" शब्द भौतिक-पदार्थ के अर्थ में भी प्रयुक्त हुआ है। पुद्गलास्तिकाय में प्रयुक्त पुद्गल शब्द जहाँ भौतिक द्रव्य (मैटर) का सूचक है, वहीं भगवती में यह शब्द व्यक्ति एवं शरीर का तथा दशवैकालिक में "मांस" का वाचक रहा है। आज जैनसाधुओं की भाषा (कोड-लैंग्वेज) में यह शब्द "घन" या "मुद्दा" का पर्यायवाची है। बौद्ध परम्परा में पुद्गल का अर्थ व्यक्ति/शरीर हुआ है। "आत्मा" शब्द जिसके लिए प्राकृत भाषा में "आता", "अत्ता", "अप्पा", "आदा" और "आया" रूप में प्रयुक्त होता है, किन्तु यह शब्द भी मात्र आत्मा का वाचक नहीं रहा है। भगवतीसूत्र में यह अपनेपन के अर्थ में भी प्रयुक्त हुआ है और कभी यह

"स्वधर्म" या "स्वगुणो" का भी प्रतीक माना गया है। भगवतीसूत्र में जब यह पृछा गया कि क्या प्रथम पृथ्वी आत्मा है ? तो वहाँ इसका अर्थ स्वधर्म, स्वगुण है। इसी प्रकार जैन आगमों में "अप्याणवेवासरामि" में "अप्या" शब्द अपनेपन का सूचक है। बौद्ध परम्परा में "अनत्त" (आत्मा) शब्द का प्रयोग "अपना नहीं" इसी अर्थ में हुआ है। इस प्रकार प्राचीन जहाँ बौद्ध परम्परा में भी "अनत्त" (अनात्म) शब्द का प्रयोग अपना नहीं है इसी में हुआ है। इस प्रकार प्राचीन जहाँ बौद्धग्रन्थों के "अत्त" शब्द अपनेपन या मेरेपन का वाचक ही रहा है। वहीं जैन परम्परा में यह चेतना सत्ता का वाचक माना गया। जैन परम्परा में सामान्यतया जीव और आत्मा पर्यायवाची रहें, किन्तु वेदान्त में उन्हें पृथक्-पृथक् अर्थ का वाचक माना गया। उपनिषदों में "आत्मन्" शब्द "ब्रह्म" या परम् सत्ता का वाचक भी रहा है।

इसी प्रकार "धर्म" शब्द को ही लें, उसे जैन परम्परा में अनेक प्रकार से पारिभाषित किया गया। जहाँ "वत्थुसहावोधम्मो" में धर्म को वस्तु का स्वरूप या स्वभाव कहा गया वहीं "सेमियाए आरिए धम्मे पव्वइए" में "धर्म" शब्द सम्भाव का सूचक माना गया, किन्तु यही शब्द जब धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय में प्रयुक्त हुआ तो वहाँ इसका अर्थ बिल्कुल ही बदल गया और वह गति-सहायक द्रव्य के रूप में व्याख्यायित किया गया। ये तो हमने कुछ शब्दों के उदाहरण दिये किन्तु ऐसे अन्य कई शब्द हैं जो कालक्रम में अपना नया-नया अर्थ ग्रहण करते गए और एक ही परम्परा में कालक्रम में वे भिन्न-भिन्न अर्थों में रूढ़ होते चले गये। जैनागमों में कुछ शब्द ऐसे भी मिलते हैं जो अन्य परम्पराओं से उनके मूल अर्थ में ही ग्रहीत हुए थे किन्तु बाद में उनका मूल अर्थ टीकाकारों के समक्ष नहीं रहा और उन्हें भिन्न अर्थ में ही व्याख्यायित किया गया। उदाहरण के रूप में "आचारांग" में प्रयुक्त "विपास्सी" और विपस्सना" शब्द बौद्ध परम्परा के ज्ञान के अभाव में टीकाकारों के द्वारा अन्य अर्थ में पारिभाषित किये गये। कुछ शब्दों का अर्थ तो इसलिए दुर्बोध हो गया कि जिस क्षेत्र का वह शब्द था उस क्षेत्र के सम्बन्ध में टीकाकारों के अज्ञान के कारण वह अन्य अर्थ में ही पारिभाषित किया गया, उदाहरण के रूप में "तालपलम्ब" (ताड़प्रलम्ब) शब्द जो निशीथ में प्रयुक्त हुआ है वह अपने मूल अर्थ में अंकुरित ताड़बीज का सूचक था किन्तु जब जैन मुनिसंघ राजस्थान और गुजरात जैसे क्षेत्र में चला गया तो वह उसके अर्थ से अनभिज्ञ हो गया और आज जैन परम्परा में तालपलम्ब केले (कदलीफल) का वाचक हो गया है। इस प्रकार जैनागमों में प्रयुक्त अनेक शब्द टीकाकारों के काल तक भी अपना अर्थ खो चुके थे और टीकाकारों ने उन्हें अपने ढंग से और अपनी परम्परा के अनुसार पारिभाषित करने का प्रयास किया। वस्तुतः जो ग्रन्थ जिस-जिस देश और काल में निर्मित होता है उसके शब्दों के अर्थों को उस देश और काल की परम्परा और अन्य ग्रन्थों के आधार पर पारिभाषित किया जाना चाहिए। उस देशकाल के ज्ञान के अभाव में अनेक शब्दों को टीकाकारों ने अपनी कल्पना के अनुसार पारिभाषित कर दिया है। उससे बचना आवश्यक है। आचारांग में "संधि" शब्द आसवित या रागात्मकता के अर्थ में प्रयुक्त हुआ था किन्तु टीकाकार भी अनेक स्थलों पर उसे अवसर के रूप में पारिभाषित करते हैं। "आसव" शब्द जैन और बौद्ध परम्पराओं में किन्-किन् अर्थों से गुजरा है, इसकी चर्चा "एलेक्सवेमेन" ने की है। मोक्ष (मोक्ष) और "निव्वाण" (निर्वाण) शब्द सामान्यतया जैन परम्परा में पर्यायवाची रूप

में प्रयुक्त होते हैं। किन्तु उत्तराध्ययन में ये दोनों शब्द भिन्न-भिन्न स्थितियों के वाचक हैं। यहाँ कहा गया कि अमुक्त का निर्वाण नहीं (अमोक्खरस्स नत्थि निव्वाणं)।

इसलिए प्राचीन प्राकृत और पालि साहित्य के अनुवाद और उनमें प्रयुक्त पारिभाषिक शब्दों के अर्थ का निर्धारण एक कठिन और श्रमसाध्य कार्य है जो विस्तृत तुलनात्मक अध्ययन के अभाव में सम्भव नहीं है, जो शब्द किसी काल में पर्यायवाची रूप में या भाषा सौष्ठव के लिए प्रयुक्त होते थे, व्युत्पत्ति और प्रतिभा के आधार पर उन्हें भिन्न-भिन्न अर्थ का वाचक बना दिया है। पालिसाहित्य में निगण्ठ-नाटपुत्त के सन्दर्भ में "सव्ववारिवारितो" शब्द का प्रयोग हुआ है। अनुवादकों ने "वारि" का अर्थ जल किया, जबकि सूत्रकृतांग के वीरस्तुति नामक अध्ययन के आधार पर देखें तो उसमें प्रयुक्त वारि शब्द का अर्थ जल न होकर पाप होगा क्योंकि सूत्रकृतांग में महावीर की स्तुति करते हुए कहा गया है -- "से वारिया सव्व वारं इत्थीसरायभत्तं" अर्थात् उन्होंने लोगों को सभी पाप कर्मों, स्त्री और रात्रिभोजन से निवृत्त किया।

यहाँ मैं इस बात पर विशेष रूप से बल देना चाहूँगा कि जहाँ जैन आगमों के पारिभाषित शब्दों के अर्थ-निर्धारण के लिए बौद्ध पिटक का अध्ययन आवश्यक है वहीं बौद्ध पिटक साहित्य के शब्दों के अर्थ निर्धारण के लिए जैन आगमों का अध्ययन आवश्यक है क्योंकि ये दोनों परम्पराएँ एक ही देश और काल की उपज हैं। बिना बौद्ध साहित्य के अध्ययन के आचारांग जैसे प्राचीनस्तर के ग्रन्थ में प्रयुक्त "विपस्सि, तथागत, पडिसंखा, आयतन, संघि आदि शब्दों के अर्थ स्पष्ट नहीं हो सकते उसी प्रकार पिटक साहित्य में प्रयुक्त "वारि" जैसे अनेक शब्दों का अर्थ बिना जैन आगमों के अध्ययन से स्पष्ट नहीं हो सकता। हमें यह स्मरण रखना होगा कि कोई भी परम्परा शून्य में उत्पन्न नहीं होती उसका एक देश और काल होता है जहाँ से वह अपनी शब्दावली ग्रहण करती है। यह ठीक है कि अनेक बार उस शब्दावली को नया अर्थ दिया जाता है फिर भी शब्द के मूल अर्थ को पकड़ने के लिए हमें उसे देश, काल व परम्परा का ज्ञान भी प्राप्त करना होगा, जिसमें उसका साहित्य निर्मित हुआ है। अतः पारिभाषिक शब्दों के अर्थ-निर्धारण की प्रक्रिया में न तो उस देश व काल की उपेक्षा की जा सकती है, जिसमें उन शब्दों ने अपना अर्थ प्राप्त किया है और न समकालीन परम्पराओं के तुलनात्मक अध्ययन के बिना ही अर्थ-निर्धारण की प्रक्रिया को सम्पन्न किया जा सकता है।

जैन आगमों में हुआ भाषिक स्वरूप परिवर्तन : एक विमर्श

- प्रो. सागरमल जैन

प्राकृत एक भाषा न होकर, भाषा समूह है। प्राकृत के इन अनेक भाषिक रूपों का उल्लेख हेमचन्द्र प्रभृति प्राकृत-व्याकरण-विदों ने किया है। प्राकृत के जो विभिन्न भाषिक रूप उपलब्ध हैं, उन्हें निम्न भाषिक वर्गों में विभक्त किया जाता है -- मागधी, अर्द्धमागधी, शौरसेनी, जैन-शौरसेनी, महाराष्ट्री, जैन महाराष्ट्री, पैशाची, ब्राह्म, चूलिका, ठक्की आदि। इन विभिन्न प्राकृतों से ही आगे चलकर अपभ्रंश के विविध रूपों का विकास हुआ और जिनसे कालान्तर में असमिया, बंगला, उड़िया, भोजपुरी या पूर्वी हिन्दी, पंजाबी, राजस्थानी, गुजराती, मराठी आदि भारतीय भाषायें अस्तित्व में आयीं। अतः प्राकृतें सभी भारतीय भाषाओं की पूर्वज हैं और आधुनिक हिन्दी का विकास भी इन्हीं के आधार पर हुआ।

मेरी दृष्टि में संस्कृत भाषा का विकास भी इन्हीं प्राकृतों को संस्कारित करके और विभिन्न बोलियों के मध्य एक सामान्य सम्पर्क भाषा के रूप में हुआ है, जिसका प्राचीन रूप छान्दस (वैदिक संस्कृत) था। वही साहित्यिक संस्कृत की जननी है। जिस प्रकार विभिन्न उत्तर भारतीय बोलियों (अपभ्रंश के विविध रूपों) से हमारी हिन्दी भाषा का विकास हुआ है, उसी प्रकार प्राचीनकाल में विभिन्न प्राकृत बोलियों से संस्कृत भाषा का निर्माण हुआ। संस्कृत शब्द ही इस तथ्य का प्रमाण है कि वह एक संस्कारित भाषा है, जबकि प्राकृत शब्द ही प्राकृत को मूल भाषा के रूप में अधिष्ठित करता है। प्राकृत की "प्रकृतिर्यस्य संस्कृतम्" कहकर जो व्याख्या की जाती है, वह मात्र संस्कृत-विदों को प्राकृत-व्याकरण का स्वरूप समझाने की दृष्टि से की जाती है।

प्राकृत के सन्दर्भ में हमें एक दो बातें और समझ लेना चाहिए। प्रथम सभी प्राकृत व्याकरण संस्कृत में लिखे गये हैं, क्योंकि उनका प्रयोजन संस्कृत के विद्वानों को प्राकृत भाषा के स्वरूप का ज्ञान कराना रहा है। वास्तविकता तो यह है कि प्राकृत भाषा की आधारागत बहुविधता के कारण उसका कोई एक सम्पूर्ण व्याकरण बना पाना ही कठिन है। उसका विकास विविध बोलियों से हुआ है और बोलियों में विविधता होती है। साथ ही उनमें देश कालगत प्रभावों और मुख-सुविधा (उच्चारण सुविधा) के कारण परिवर्तन होते रहते हैं। प्राकृत निर्झर की भाँति बहती भाषा है उसे व्याकरण में आबद्ध कर पाना सम्भव नहीं है। इसीलिए प्राकृत को "बहुल" अर्थात् विविध वैकल्पिक रूपों वाली भाषा कहा जाता है।

वस्तुतः प्राकृतें अपने मूल रूप में भाषा न होकर बोलियाँ ही रहीं हैं। यहाँ तक कि साहित्यिक नाटकों में भी इनका प्रयोग बोलियों के रूप में ही देखा जाता है और यही कारण है कि मृच्छकटिक जैसे नाटक में अनेक प्राकृतों का प्रयोग हुआ है, उसके विभिन्न पात्र भिन्न-भिन्न प्राकृतें बोलते हैं। इन विभिन्न प्राकृतों में से अधिकांश का अस्तित्व मात्र बोली के रूप में ही रहा, जिनके निदर्शन केवल नाटकों और अभिलेखों में पाये जाते हैं। मात्र अर्द्धमागधी,

जैन-शौरसेनी और जैन-महाराष्ट्री ही ऐसी भाषायें हैं, जिनमें जैनधर्म के विपुल साहित्य का सृजन हुआ है। पेशाची प्राकृत के प्रभाव से युक्त मात्र एक ग्रन्थ प्राकृत धम्मपद मिला है। इन्हीं जन-बोलियों को जब एक साहित्यिक भाषा का रूप देने का प्रयत्न जैनाचार्यों ने किया, तो उसमें भी आधारगत विभिन्नता के कारण शब्द रूपों की विभिन्नता रह गई। सत्य तो यह है कि विभिन्न बोलियों पर आधारित होने के कारण साहित्यिक प्राकृतों में भी शब्द रूपों की यह विविधता रह जाना स्वाभाविक है।

विभिन्न बोलियों की लक्षणगत, विशेषताओं के कारण ही प्राकृत भाषाओं के विविध रूप बने हैं। बोलियों के आधार पर विकसित इन प्राकृतों के जो मागधी, शौरसेनी, महाराष्ट्री आदि रूप बने हैं, उनमें भी प्रत्येक में वैकल्पिक शब्द रूप पाये जाते हैं। अतः उन सभी में व्याकरण की दृष्टि से पूर्ण एकरूपता का अभाव है। फिर भी भाषाविदों ने व्याकरण के नियमों के आधार पर उनकी कुछ लक्षणगत विशेषताएँ मान ली हैं। जैसे मागधी में "स" के स्थान पर "श", "र" के स्थान पर "ल" का उच्चारण होता है। अतः मागधी में "पुरुष" का "पुलिश" और "राजा" का "लाजा" रूप पाया जाता है, जबकि महाराष्ट्री में "पुरिस" और "राया" रूप बनता है। जहाँ अर्द्धमागधी में "त" श्रुति की प्रधानता है और व्यंजनों के लोप की प्रवृत्ति अल्प है, वहीं शौरसेनी में "द" श्रुति की और महाराष्ट्री में "य" श्रुति की प्रधानता पायी जाती है तथा लोप की प्रवृत्ति अधिक है। दूसरे शब्दों में अर्द्धमागधी में "त" यथावत रहता है, शौरसेनी में "त" के स्थान पर "द" और महाराष्ट्री में लुप्त-व्यंजन के बाद शेष रहे "अ" का "य" होता है प्राकृतों में इन लक्षणगत विशेषताओं के बावजूद भी धातु रूपों एवं शब्द रूपों में अनेक वैकल्पिक रूप तो पाये ही जाते हैं। यहाँ यह भी स्मरण रहे कि नाटकों में प्रयुक्त विभिन्न प्राकृतों की अपेक्षा जैन ग्रन्थों में प्रयुक्त इन प्राकृत भाषाओं का रूप कुछ भिन्न है और किसी सीमा तक उनमें लक्षणगत बहुरूपता भी है। इसीलिए जैन आगमों में प्रयुक्त मागधी को अर्द्धमागधी कहा जाता है, क्योंकि उसमें मागधी के अतिरिक्त अन्य बोलियों के प्रभाव के कारण मागधी से भिन्न लक्षण भी पाये जाते हैं। जहाँ अभिलेखीय प्राकृतों का प्रश्न है उनमें शब्द रूपों की इतनी अधिक विविधता या भिन्नता है कि उन्हें व्याकरण की दृष्टि से व्याख्यायित कर पाना सम्भव ही नहीं है। क्योंकि उनकी प्राकृत साहित्यिक प्राकृत न होकर स्थानीय बोलियों पर आधारित हैं।

यापनीय एवं दिगम्बर परम्परा के ग्रन्थों में जिस भाषा का प्रयोग हुआ है, वह जैन-शौरसेनी कही जाती है। उसे जैन-शौरसेनी इसलिये कहते हैं कि उसमें शौरसेनी के अतिरिक्त अर्द्धमागधी के भी कुछ लक्षण पाये जाते हैं। उस पर अर्द्धमागधी -- का स्पष्ट प्रभाव देखा जाता है। क्योंकि इसमें रचित ग्रन्थों का आधार अर्द्धमागधी आगम ही थे। इसी प्रकार श्वेताम्बर आचार्यों ने प्राकृत के जिस भाषायी रूप को अपनाया वह जैन-महाराष्ट्री कही जाती है। इसमें महाराष्ट्री के लक्षणों के अतिरिक्त कहीं-कहीं अर्द्धमागधी और शौरसेनी के लक्षण भी पाये जाते हैं, क्योंकि इसमें रचित ग्रन्थों का आधार भी मुख्यतः अर्द्धमागधी और अंशतः शौरसेनी साहित्य रहा है।

अतः जैन परम्परा में उपलब्ध किसी भी ग्रन्थ की प्राकृत का स्वरूप निश्चित करना एक

कठिन कार्य है, क्योंकि श्वेताम्बर और दिग्म्बर दोनों परम्पराओं में कोई भी ऐसा ग्रन्थ नहीं मिलता, जो विशुद्ध रूप से किसी एक प्राकृत का प्रतिनिधित्व करता हो। आज उपलब्ध विभिन्न श्वेताम्बर अर्द्धमागधी आगमों में चाहे प्रतिशतों में कुछ भिन्नता हो, किन्तु व्यापक रूप से महाराष्ट्री का प्रभाव देखा जाता है। आचारांग और ऋषिभाषित जैसे प्राचीन स्तर के आगमों में अर्द्धमागधी के लक्षण प्रमुख होते हुए भी कहीं-कहीं आंशिक रूप से शौरसेनी का एवं विशेषरूप से महाराष्ट्री का प्रभाव आ ही गया है। इसी प्रकार दिग्म्बर परम्परा के शौरसेनी ग्रन्थों में एक ओर अर्द्धमागधी का तो दूसरी ओर महाराष्ट्री का प्रभाव देखा जाता है। कुछ ऐसे ग्रन्थ भी हैं जिनमें लगभग 60 प्रतिशत शौरसेनी एवं 40 प्रतिशत महाराष्ट्री पायी जाती है -- जैसे वसुनन्दी के श्रावकाचार का प्रथम संस्करण, ज्ञातव्य है कि परवर्ती संस्करणों में शौरसेनीकरण अधिक लिया गया है। कुन्दकुन्द के ग्रन्थों में भी यत्र-तत्र महाराष्ट्री का पर्याप्त प्रभाव देखा जाता है। इन सब विभिन्न भाषिक रूपों के पारस्परिक प्रभाव या मिश्रण के अतिरिक्त मुझे अपने अध्ययन के दौरान एक महत्त्वपूर्ण बात यह मिली कि जहाँ शौरसेनी ग्रन्थों में जब अर्द्धमागधी आगमों के उद्धरण दिये गये, तो वहाँ उन्हें अपने अर्द्धमागधी रूप में न देकर उनका शौरसेनी रूपान्तरण करके दिया गया है। इसी प्रकार महाराष्ट्री के ग्रन्थों में अथवा श्वेताम्बर आचार्यों द्वारा लिखित ग्रन्थों में जब भी शौरसेनी के ग्रन्थ का उद्धरण दिया गया, तो सामान्यतया उसे मूल शौरसेनी में न रखकर उसका महाराष्ट्री रूपान्तरण कर दिया गया। उदाहरण के रूप में भगवतीआराधना की टीका में जो उत्तराध्ययन, आचारांग आदि के उद्धरण पाये जाते हैं, वे उनके अर्द्धमागधी रूप में न होकर शौरसेनी रूप में ही मिलते हैं। इसी प्रकार हरिभद्र ने शौरसेनी प्राकृत के "यापनीय-तन्त्र" नामक ग्रन्थ से "ललितविस्तरा" में जो उद्धरण दिया, वह महाराष्ट्री प्राकृत में ही पाया जाता है।

इस प्रकार चाहे अर्द्धमागधी आगम हो या शौरसेनी आगम, उनके उपलब्ध संस्करणों की भाषा न तो पूर्णतः अर्द्धमागधी है और न ही शौरसेनी। अर्द्धमागधी और शौरसेनी दोनों ही प्रकार के आगमों पर महाराष्ट्री का व्यापक प्रभाव देखा जाता है जो कि इन दोनों की अपेक्षा परवर्ती है। इसी प्रकार महाराष्ट्री प्राकृत के कुछ ग्रन्थों पर परवर्ती अपभ्रंश का भी प्रभाव देखा जाता है। इन आगमों अथवा आगम तुल्य ग्रन्थों के भाषिक स्वरूप की विविधता के कारण उनके कालक्रम तथा पारस्परिक आदान-प्रदान को समझने में विद्वानों को पर्याप्त उलझनों का अनुभव होता है, मात्र इतना ही नहीं कभी-कभी इन प्रभावों के कारण इन ग्रन्थों को परवर्ती भी सिद्ध कर दिया जाता है।

आज आगमिक साहित्य के भाषिक स्वरूप की विविधता को दूर करने तथा उन्हें अपने मूल स्वरूप में स्थिर करने के कुछ प्रयत्न भी प्रारम्भ हुए हैं। सर्वप्रथम डॉ. के. ऋषभचन्द्र ने प्राचीन अर्द्धमागधी आगम जैसे -- आचारांग, सूत्रकृतांग में आये महाराष्ट्री के प्रभाव को दूर करने एवं उन्हें अपने मूल स्वरूप में लाने के लिये प्रयत्न प्रारम्भ किया है। क्योंकि एक ही अध्याय या उद्देशक में "ल्योय" और "ल्योग" या "आया" और "आता" दोनों ही रूप देखे जाते हैं। इसी प्रकार कहीं क्रिया रूपों में भी "त" श्रुति उपलब्ध होती है और कहीं उसके लोप की प्रवृत्ति

देखी जाती है। प्राचीन आगमों में हुए इन भाषिक परिवर्तनों से उनके अर्थ में भी कितनी विकृति आयी, इसका भी डॉ. चन्द्रा ने अपने लेखों के माध्यम से संकेत किया है तथा यह बताया है कि अर्द्धमागधी "खेतन्न" शब्द किस प्रकार "खेयन्न" बन गया और उसका जो मूल "क्षेत्रज्ञ" अर्थ था वह बदलकर "खेदज्ञ" हो गया। इन सब कारणों से उन्होंने पाठ संशोधन हेतु एक योजना प्रस्तुत की और आचारांग के प्रथम श्रुतस्कन्ध के प्रथम अध्यायन के प्रथम उद्देशक की भाषा का सम्पादन कर उसे प्रकाशित भी किया है। इसी क्रम में मैंने भी आगम संस्थान उदयपुर के डॉ. सुभाष कोठारी एवं डॉ. सुरेश सिसोदिया द्वारा आचारांग के विभिन्न प्रकाशित संस्करणों से पाठान्तरों का संकलन करवाया है। इसके विरोध में पहला स्वर श्री जौहरीमल जी पारख ने उठाया है। श्वेताम्बर विद्वानों में आयी इस चेतना का प्रभाव दिगम्बर विद्वानों पर भी पड़ा और आचार्य श्री विद्यानन्द जी के निर्देशन में आचार्य कुन्दकुन्द के ग्रन्थों को पूर्णतः शौरसेनी में रूपान्तरित करने का एक प्रयत्न प्रारम्भ हुआ है, इस दिशा में प्रथम कार्य बलभद्र जैन द्वारा सम्पादित समयसार, नियमसार आदि का कुन्दकुन्द भारती से प्रकाशन है। यद्यपि दिगम्बर परम्परा में ही पं. खुशालचन्द्र गौरावाला, पद्मचन्द्र शास्त्री आदि दिगम्बर विद्वानों ने इस प्रवृत्ति का विरोध किया।

आज श्वेताम्बर एवं दिगम्बर परम्पराओं में आगम या आगम रूप में मान्य ग्रन्थों के भाषिक स्वरूप के पुनः संशोधन की जो चेतना जागृत हुई है, उसका कितना औचित्य है, इसकी चर्चा तो मैं बाद में करूँगा। सर्वप्रथम तो इसे समझना आवश्यक है कि इन प्राकृत आगम ग्रन्थों के भाषिक स्वरूप में किन कारणों से और किस प्रकार के परिवर्तन आयी हैं। क्योंकि इस तथ्य को पूर्णतः समझे बिना केवल एक-दूसरे के अनुकरण के आधार पर अथवा अपनी परम्परा को प्राचीन सिद्ध करने हेतु किसी के भाषिक स्वरूप में परिवर्तन कर देना सम्भवतः इन ग्रन्थों के ऐतिहासिक क्रम एवं काल निर्णय एवं इनके पारस्परिक प्रभाव को समझने में बाधा उत्पन्न करेगा और इससे कई प्रकार के अन्य अनर्थ भी सम्भव हो सकते हैं।

किन्तु इसके साथ ही साथ यह भी सत्य है कि जैनाचार्यों एवं जैन विद्वानों ने अपने भाषिक व्यामोह के कारण अथवा प्रचलित भाषा के शब्द रूपों के आधार पर प्राचीन स्तर के आगम ग्रन्थों के भाषिक स्वरूप में परिवर्तन किया है। जैन आगमों की वाचना को लेकर जो मान्यताएँ प्रचलित हैं, उनके अनुसार सर्वप्रथम ई.पू. तीसरी शती में वीर निर्वाण के लगभग एक सौ पचास वर्ष पश्चात् पाटलीपुत्र में प्रथम वाचना हुई। इसमें उस काल तक निर्मित आगम ग्रन्थों, विशेषतः अंग आगमों का सम्पादन किया गया। यह स्पष्ट है कि पटना की यह वाचना मगध में हुई थी और इसलिए इसमें आगमों की भाषा का जो स्वरूप निर्धारित हुआ होगा, वह निश्चित ही मागधी रहा होगा। इसके पश्चात् लगभग ई.पू. प्रथम शती में खारवेल के शासन काल में उड़ीसा में द्वितीय वाचना हुई यहाँ पर इसका स्वरूप अर्द्धमागधी रहा होगा, किन्तु इसके लगभग चार सौ वर्ष पश्चात् स्कंदिल और आर्य नागार्जुन की अध्यक्षता में क्रमशः मथुरा व वलभी में वाचनाएँ हुई। सम्भव है कि मथुरा में हुई इस वाचना में अर्द्धमागधी आगमों पर व्यापक रूप से शौरसेनी का प्रभाव आया होगा। वलभी के वाचना वाले आगमों में नागार्जुनीय पाठों के तो

उल्लेख मिलते हैं, किन्तु स्कंदिल की वाचना के पाठ भेदों का कोई निर्देश नहीं है। स्कंदिल की वाचना सम्बन्धी पाठभेदों का यह अनुल्लेख विचारणीय है। नन्दीसूत्र में स्कंदिल के सम्बन्ध में यह कहा गया है कि उनके अनुयोग (आगम-पाठ) ही दक्षिण भारत क्षेत्र में आज भी प्रचलित हैं। सम्भवतः यह संकेत यापनीय आगमों के सम्बन्ध में होगा। यापनीय परम्परा जिन आगमों को मान्य कर रही थी, उसमें व्यापक रूप से भाषिक परिवर्तन किया गया था और उन्हें शौरसेनी रूप दे दिया गया था। यद्यपि आज प्रमाण के अभाव में निश्चित रूप से यह बता पाना कठिन है कि यापनीय आगमों की भाषा का स्वरूप क्या था, क्योंकि यापनीयों द्वारा मान्य और व्याख्यायित वे आगम उपलब्ध नहीं हैं। यद्यपि अपराजित के द्वारा दशवैकालिक पर टीका लिखे जाने का निर्देश प्राप्त होता है, किन्तु वह टीका भी आज प्राप्त नहीं है। अतः यह कहना तो कठिन है कि यापनीय आगमों की भाषा कितनी अर्द्धमागधी थी और कितनी शौरसेनी। किन्तु इतना तय है कि यापनीयों ने अपने ग्रन्थों में आगमों, प्रकीर्णकों एवं निर्युक्तियों की जिन गाथाओं को गृहीत किया है अथवा उद्धृत किया है वे सभी आज शौरसेनी रूपों में ही पायी जाती हैं। यद्यपि आज भी उन पर बहुत कुछ अर्द्धमागधी का प्रभाव शेष रह गया है। चाहे यापनीयों ने सम्पूर्ण आगमों के भाषाई स्वरूप को अर्द्धमागधी से शौरसेनी में रूपान्तरित किया हो या नहीं, किन्तु उन्होंने आगम साहित्य से जो गाथाएँ उद्धृत की हैं, वे अधिकांशतः आज अपने शौरसेनी स्वरूप में पायी जाती हैं। यापनीय आगमों के भाषिक स्वरूप में यह परिवर्तन जानबूझकर किया या जब मथुरा जैनधर्म का केन्द्र बना तब सहज रूप में यह परिवर्तन आ गया था, यह कहना कठिन है। जैनधर्म सदैव से क्षेत्रीय भाषाओं को अपनाता रहा और यही कारण हो सकता है कि श्रुत-परम्परा से चली आयी इन गाथाओं में या तो सहज ही क्षेत्रीय प्रभाव आया हो या फिर उस क्षेत्र की भाषा को ध्यान में रखकर उसे उस रूप में परिवर्तित किया गया हो।

यह भी सत्य है कि बलभी में जो देवर्दिगाणि की अध्यक्षता में वी. नि. सं. 980 या 993 में अन्तिम वाचना हुई, उसमें क्षेत्रगत महाराष्ट्री प्राकृत का प्रभाव जैन आगमों पर विशेषरूप से आया होगा, यही कारण है कि वर्तमान में श्वेताम्बर मान्य अर्द्धमागधी आगमों की भाषा का जो स्वरूप उपलब्ध है, उस पर महाराष्ट्री का प्रभाव ही अधिक है। अर्द्धमागधी आगमों में भी उन आगमों की भाषा महाराष्ट्री से अधिक प्रभावित हुई है, जो अधिक व्यवहार या प्रचलन में रहे। उदाहरण के रूप में उत्तराध्ययन और दशवैकालिक जैसे प्राचीन स्तर के आगम महाराष्ट्री से अधिक प्रभावित हैं। जबकि ऋषिभाषित जैसा आगम महाराष्ट्री के प्रभाव से बहुत कुछ मुक्त रहा है। उस पर महाराष्ट्री प्राकृत का प्रभाव अत्यल्प है। आज अर्द्धमागधी का जो आगम साहित्य हमें उपलब्ध है, उसमें अर्द्धमागधी का सर्वाधिक प्रतिशत इसी ग्रन्थ में पाया जाता है।

जैन आगमिक एवं आगम रूप में मान्य अर्द्धमागधी तथा शौरसेनी ग्रन्थों के भाषिक स्वरूप में परिवर्तन क्यों हुआ ? इस प्रश्न का उत्तर अनेक रूपों में दिया जा सकता है। वस्तुतः इन ग्रन्थों में हुए भाषिक परिवर्तनों का कोई एक ही कारण नहीं है, अपितु अनेक कारण हैं, जिन पर हम क्रमशः विचार करेंगे।

1. भारत में जहाँ वैदिक परम्परा में वेद वचनों को मंत्र मानकर उनके स्वर-व्यंजन की

उच्चारण योजना को अपरिवर्तनीय बनाये रखने पर अधिक बल दिया गया, उनके लिये शब्द और ध्वनि ही महत्त्वपूर्ण रही और अर्थ गौण। आज भी अनेक वेदपाठी ब्राह्मण ऐसे हैं, जो वेद मंत्रों के उच्चारण, लय आदि के प्रति अत्यन्त सतर्क रहते हैं, किन्तु वे उनके अर्थों को नहीं जानते हैं। यही कारण है कि वेद शब्द रूप में यथावत् बने रहे। इसके विपरीत जैन परम्परा में यह माना गया कि तीर्थंकर अर्थ के उपदेष्टा होते हैं उनके वचनों को शब्द रूप तो गणधर आदि के द्वारा दिया जाता है। जैनाचार्यों के लिये कथन का तात्पर्य ही प्रमुख था, उन्होंने कभी भी शब्दों पर बल नहीं दिया। शब्दों में चाहे परिवर्तन हो जाय, लेकिन अर्थों में परिवर्तन नहीं होना चाहिये, यही जैन आचार्यों का प्रमुख लक्ष्य रहा। शब्द रूपों की उनकी इस उपेक्षा के फलस्वरूप आगमों के भाषिक स्वरूप में परिवर्तन होते गये।

2. आगम साहित्य में जो भाषिक परिवर्तन हुए, उसका दूसरा कारण यह था कि जैनभिक्षु संघ में विभिन्न प्रदेशों के भिक्षुगण सम्मिलित थे। अपनी-अपनी प्रादेशिक बोलियों से प्रभावित होने के कारण उनकी उच्चारण शैली में भी स्वाभाविक भिन्नता रहती, फलतः आगम साहित्य के भाषिक स्वरूप में भिन्नताएँ आ गयीं।

3. जैनभिक्षु सामान्यतया भ्रमणशील होते हैं, उनकी भ्रमणशीलता के कारण उनकी बोलियों, भाषाओं पर भी अन्य प्रदेशों की बोलियों का प्रभाव पड़ता ही है। फलतः आगमों के भाषिक स्वरूप में भी परिवर्तन या मिश्रण हो गया। उदाहरण के रूप में जब पूर्व का भिक्षु पश्चिमी प्रदेशों में अधिक बिहार करता है तो उसकी भाषा में पूर्व एवं पश्चिम दोनों ही बोलियों का प्रभाव आ ही जाता है। अतः भाषिक स्वरूप की एकरूपता समाप्त हो जाती है।

4. सामान्यतया बुद्ध वचन बुद्ध निर्वाण के 200-300 वर्ष के अन्दर ही अन्दर लिखित रूप में आ गए। अतः उनके भाषिक स्वरूप में उनके रचनाकाल के बाद बहुत अधिक परिवर्तन नहीं आया, तथापि उनकी उच्चारण शैली विभिन्न देशों में भिन्न-भिन्न रही और वह आज भी है। थाई, बर्मा, और श्रीलंका के भिक्षुओं का त्रिपिटक का उच्चारण भिन्न-भिन्न होता है, फिर भी उनके लिखित स्वरूप में बहुत कुछ एकरूपता है। इसके विपरीत जैन आगमिक एवं आगमतुल्य साहित्य एक सुदीर्घकाल तक लिखित रूप में नहीं आ सका, वह गुरुशिष्य परम्परा से मौखिक ही चलता रहा फलतः देशकालगत उच्चारण भेद से उनके भाषिक स्वरूप में भी परिवर्तन होता गया।

भारत में कागज का प्रचलन न होने से ग्रन्थ भोजपत्रों या ताड़पत्रों पर लिखे जाते थे। ताड़पत्रों पर ग्रन्थों को लिखवाना और उन्हें सुरक्षित रखना जैन मुनियों की अहिंसा एवं अपरिग्रह की भावना के प्रतिकूल था। लगभग ई. सन् की 5वीं शती तक इस कार्य को पाप-प्रवृत्ति माना जाता तथा इसके लिए दण्ड की व्यवस्था भी थी। फलतः महावीर के पश्चात् लगभग 1000 वर्ष तक जैन साहित्य श्रुत-परम्परा पर ही आधारित रहा। श्रुत-परम्परा के आधार पर आगमों के भाषिक स्वरूप को सुरक्षित रखना कठिन था। अतः उच्चारण शैली का भेद आगमों के भाषिक स्वरूप के परिवर्तन का कारण बन गया।

5. आगमिक एवं आगम-तुल्य साहित्य में आज भाषिक रूपों का जो परिवर्तन देखा जाता है, उसका एक कारण लहियों (प्रतिलिपिकारों) की असावधानी भी रही है। प्रतिलिपिकार जिस क्षेत्र के होते थे, उन पर भी उस क्षेत्र की बोली/भाषा का प्रभाव रहता था और असावधानी से अपनी प्रादेशिक बोली के शब्द रूपों को लिख देता था। उदाहरण के रूप में चाहे मूल-पाठ में "गच्छति" लिखा हो लेकिन प्रचलन में "गच्छई" का व्यवहार है, तो प्रतिलिपिकार "गच्छई" रूप ही लिख देगा।

6. जैन आगम एवं आगम तुल्य ग्रन्थ में आये भाषिक परिवर्तनों का एक कारण यह भी है कि वे विभिन्न कालों एवं प्रदेशों में सम्पादित होते रहे हैं। सम्पादकों ने उनके प्राचीन स्वरूप को स्थिर रखने का प्रयत्न नहीं किया अपितु उन्हें सम्पादित करते समय अपने युग एवं क्षेत्र के प्रचलित भाषायी स्वरूप के आधार पर उनमें परिवर्तन कर दिया। यही कारण है कि अर्द्धमागधी में लिखित आगम भी जब मथुरा में संकलित एवं सम्पादित हुए तो उनके भाषिक स्वरूप अर्द्धमागधी की अपेक्षा शौरसेनी के निकट हो गया, और जब बलभी में लिखे गये तो वह महाराष्ट्री से प्रभावित हो गया। यह अलग बात है कि ऐसा परिवर्तन सम्पूर्ण रूप में न हो सका और उसमें अर्द्धमागधी के तत्त्व भी बने रहे।

सम्पादन और प्रतिलिपि करते समय भाषिक स्वरूप की एकरूपता पर विशेष बल नहीं दिए जाने के कारण जैन आगम एवं आगमतुल्य साहित्य अर्द्धमागधी, शौरसेनी एवं महाराष्ट्री की खिचड़ी ही बन गया और विद्वानों ने उनकी भाषा को जैन-शौरसेनी और जैन-महाराष्ट्री ऐसे नाम दे दिये। न प्राचीन संकलन कर्त्ताओं ने उस पर ध्यान दिया और न आधुनिक काल के सम्पादकों, प्रकाशकों में इस तथ्य पर ध्यान दिया गया। परिणामतः एक ही आगम के एक ही विभाग में "लोक", "लोग", "लोअ" और "लोज" ऐसे चारों ही रूप देखने को मिल जाते हैं।

यद्यपि सामान्य रूप से तो इन भाषिक रूपों के परिवर्तनों के कारण कोई बहुत बड़ा अर्थ-भेद नहीं होता है, किन्तु कभी-कभी इनके कारण भयंकर अर्थ-भेद भी हो जाता है। इस सन्दर्भ में एक दो उदाहरण देकर अपनी बात को स्पष्ट करना चाहूँगा। उदाहरण के रूप में सूत्रकृतांग का प्राचीन पाठ "रामपुत्ते" बदलकर चूर्ण में "रामाउत्ते" हो गया, किन्तु वही पाठ सूत्रकृतांग की शीलांक की टीका में "रामगुत्ते" हो गया। इस प्रकार जो शब्द रामपुत्र का वाचक था, वह रामगुप्त का वाचक हो गया। इसी आधार पर कुछ विद्वानों ने उसे गुप्तशासक रामगुप्त मान लिया है और उसके द्वारा प्रतिष्ठापित विदिशा की जिन मूर्तियों के अभिलेखों से उसकी पुष्टि भी कर दी। जबकि वस्तुतः वह निर्देश बुद्ध के समकालीन रामपुत्र नामक श्रमण आचार्य के सम्बन्ध में था, जो ध्यान एवं योग के महान साधक थे और जिनसे स्वयं भगवान बुद्ध ने ध्यान प्रक्रिया सीखी थी। उनसे सम्बन्धित एक अध्ययन ऋषिभाषित में आज भी है, जबकि अंतकृत-दश में उनसे सम्बन्धित जो अध्ययन था, वह आज विलुप्त हो चुका है। इसकी विस्तृत चर्चा Aspects of Jainology Vol. II में मैंने अपने एक स्वतन्त्र लेख में की है। इसी प्रकार आचारांग एवं सूत्रकृतांग में प्रयुक्त "खेतन्न" शब्द, जो "क्षेत्रज्ञ" (आत्मज्ञ) का

वाची था, महाराष्ट्री के प्रभाव से आगे चलकर "खेयण्ण" बन गया और उसे "खेदज्ञ" का वाची मान लिया गया। इसकी चर्चा प्रो. के.आर. चन्द्रा ने श्रमण 1992 में प्रकाशित अपने लेख में की है। अतः स्पष्ट है कि इन परिवर्तनों के कारण अनेक स्थलों पर बहुत अधिक अर्थभेद भी हो गये हैं। आज वैज्ञानिक रूप से सम्पादन की जो शैली विकसित हुई है उसके माध्यम से इन समस्याओं के समाधान की अपेक्षा है। जैसा कि हमने पूर्व में संकेत किया था कि आगमिक एवं आगम तुल्य ग्रन्थों के प्राचीन स्वरूप को स्थिर करने के लिए श्वेताम्बर परम्परा में प्रो. के.आर. चन्द्रा और दिगम्बर परम्परा में आचार्य श्री विद्यानन्द जी के सान्निध्य में श्री बलभद्र जैन ने प्रयत्न प्रारम्भ किया है। किन्तु इन प्रयत्नों का कितना औचित्य है और इस सन्दर्भ में किन्-किन् सावधानियों की आवश्यकता है, यह भी विचारणीय है। यदि प्राचीन रूपों को स्थिर करने का यह प्रयत्न सम्पूर्ण सावधानी और ईमानदारी से न हुआ, तो इसके दुष्परिणाम भी हो सकते हैं।

प्रथमतः प्राकृत के विभिन्न भाषिक रूप लिये हुए इन ग्रन्थों में पारस्परिक प्रभाव और पारस्परिक अवदान को अर्थात् किसने किस परम्परा से क्या लिया है, इसे समझने के लिए आज जो सुविधा है, वह इनमें भाषिक एकरूपता लाने पर समाप्त हो जायेगी। आज नमस्कार मंत्र में "नमो" और "णमो" शब्द का जो विवाद है, उसका समाधान और कौन शब्दरूप प्राचीन है इसका निश्चय, हम खारवेल और मथुरा के अभिलेखों के आधार पर कर सकते हैं और यह कह सकते हैं कि अर्द्धमागधी का "नमो" रूप प्राचीन है, जबकि शौरसेनी और महाराष्ट्री का "णमो" रूप परवर्ती है। क्योंकि ई. की दूसरी शती तक अभिलेखों में कहीं भी "णमो" रूप नहीं मिलता। जबकि छठी शती से दक्षिण भारत के जैन अभिलेखों में "णमो" रूप बहुतायत से मिलता है। इससे फलित यह निकलता है कि णमो रूप परवर्ती है और जिन ग्रन्थों ने "न" के स्थान पर "ण" की बहुलता है, वे ग्रन्थ भी परवर्ती हैं। यह सत्य है कि "नमो" से परिवर्तित होकर ही "णमो" रूप बना है। जिन अभिलेखों में "णमो" रूप मिलता है वे सभी ई. सन् की चौथी शती के बाद के ही हैं। इसी प्रकार से नमस्कार मंत्र की अन्तिम गाथा में -- एसो पंध नमुक्कारो सव्वपावप्पणासणो। मंगलाण च सव्वेसि पढमं हवइ मंगलं -- ऐसा पाठ है। इनमें प्रयुक्त प्रथमाविभक्ति में "एकार" के स्थान पर "ओकार" का प्रयोग तथा "हवति" के स्थान "हवइ" शब्द रूप का प्रयोग यह बताता है कि इसकी रचना अर्द्धमागधी से महाराष्ट्री के संक्रमणकाल के बीच की है और यह अंश नमस्कार मंत्र में बाद में जोड़ा गया है। इसमें शौरसेनी रूप "होदि" या "हवदि" के स्थान पर महाराष्ट्री शब्द रूप "हवई" है जो यह बताता है -- यह अंश मूलतः महाराष्ट्री में निर्मित हुआ था और वही से ही शौरसेनी में लिया गया है।

इसी प्रकार शौरसेनी आगमों में भी इसके "हवई" शब्द रूप की उपस्थिति भी यही सूचित करती है कि उन्होंने इस अंश को परवर्ती महाराष्ट्री प्राकृत के ग्रन्थों से ही ग्रहण किया गया है। अन्यथा वहाँ मूल शौरसेनी का "हवदि" या "होदि" रूप ही होना था। आज यदि किसी को शौरसेनी का अधिक आग्रह हो, तो क्या वे नमस्कार मंत्र के इस "हवई" शब्द को "हवदि" या "होदि" रूप में परिवर्तित कर देंगे ? जबकि तीसरी-चौथी शती से आज तक कहीं भी "हवइ"

के अतिरिक्त अन्य कोई शब्द-रूप उपलब्ध नहीं है।

प्राकृत के भाषिक स्वरूप के सम्बन्ध में दूसरी कठिनाई यह है कि प्राकृत का मूल आधार क्षेत्रीय बोलियाँ होने से उसके एक ही काल में विभिन्न रूप रहे हैं। प्राकृत व्याकरण में जो "बहुल" शब्द है वह स्वयं इस बात का सूचक है कि चाहे शब्द रूप हो, चाहे धातु रूप हो, या उपसर्ग आदि हो, उनकी बहुविधता को अस्वीकार नहीं किया जा सकता। एक बार हम मान भी लें कि एक क्षेत्रीय बोली में एक ही रूप रहा होगा, किन्तु चाहे वह शौरसेनी, अर्द्धमागधी या महाराष्ट्री प्राकृत हो, साहित्यिक भाषा के रूप में इनके विकास के मूल में विविध बोलियाँ रहीं हैं। अतः भाषिक एकरूपता का प्रयत्न प्राकृत की अपनी मूल प्रकृति की दृष्टि से कितना समीचीन होगा, यह भी एक विचारणीय प्रश्न है।

पुनः चाहे हम एक बार यह मान भी लें कि प्राचीन अर्द्धमागधी का जो भी साहित्यिक रूप रहा वह बहुविध नहीं था और उसमें व्यंजनों के लोप, उनके स्थान पर "अ" या "य" की उपस्थिति अथवा "न" के स्थान पर "ण" की प्रवृत्ति नहीं रही होगी और इस आधार पर आचारांग आदि की भाषा का अर्द्धमागधी स्वरूप स्थिर करने का प्रयत्न उचित भी मान लिया जाये, किन्तु यह भी सत्य है कि जैन परम्परा में शौरसेनी का आगम तुल्य साहित्य मूलतः अर्द्धमागधी आगमसाहित्य के आधार पर और उससे ही विकसित हुआ, अतः उसमें जो अर्द्धमागधी या महाराष्ट्री का प्रभाव देखा जाता है, उसे पूर्णतः निकाल देना क्या उचित होगा ? यदि हमने यह दुःसाहस किया भी तो उससे ग्रन्थों के काल निर्धारण आदि में और उनकी पारस्परिक प्रभावकता को समझने में, आज जो सुगमता है, वह नष्ट हो जायेगी।

यही स्थिति महाराष्ट्री प्राकृत की भी है। उसका आधार भी अर्द्धमागधी और अंशतः शौरसेनी आगम रहे हैं यदि उनके प्रभाव को निकालने का प्रयत्न किया गया तो वह भी उचित नहीं होगा। खेयण का प्राचीन रूप खेत्तन्न है। महाराष्ट्री प्राकृत के ग्रन्थ में एक बार खेत्तन्न रूप प्राप्त होता है तो उसे हम प्राचीन शब्द रूप मानकर रख सकते हैं, किन्तु अर्द्धमागधी के ग्रन्थ में "खेत्तन्न" रूप उपलब्ध होते हुए भी महाराष्ट्री रूप "खेयन्न" बनाये रखना उचित नहीं होगा। जहाँ तक अर्द्धमागधी आगम ग्रन्थों का प्रश्न है उन पर परवर्तीकाल में जो शौरसेनी या महाराष्ट्री प्राकृतों का प्रभाव आ गया है, उसे दूर करने का प्रयत्न किसी सीमा तक उचित माना जा सकता है, किन्तु इस प्रयत्न में भी निम्न सावधानियाँ अपेक्षित हैं --

1. प्रथम तो यह कि यदि मूल हस्तप्रतियों में कहीं भी वह शब्द रूप नहीं मिलता है, तो उस शब्द रूप को किसी भी स्थिति में परिवर्तित न किया जाये। किन्तु प्राचीन अर्द्धमागधी शब्द रूप जो किसी भी मूल हस्तप्रति में एक दो स्थानों पर भी उपलब्ध होता है, उसे अन्यत्र परिवर्तित किया जा सकता है। यदि किसी अर्द्धमागधी के प्राचीन ग्रन्थ में "लोग" एवं "लौय" दोनों रूप मिलते हों तो वहाँ अर्वाचीन रूप "लौय" को प्राचीन रूप "लोग" में रूपान्तरित किया जा सकता है किन्तु इसके साथ ही यह भी ध्यान रखना होगा कि यदि एक पूरा का पूरा गद्यांश या पद्यांश महाराष्ट्री में है और उसमें प्रयुक्त शब्दों के वैकल्पिक अर्द्धमागधी रूप किसी एक भी आदर्श के

प्रति में नहीं मिलते हैं तो उन अंशों को परिवर्तित न किया जाये, क्योंकि सम्भावना यह हो सकती है कि वह अंश परवर्ती काल में प्रक्षिप्त हुआ हो, अतः उस अंश के प्रक्षिप्त होने का आधार जो उसका भाषिक स्वरूप है, उसको बदलने से आगमिक शोध में बाधा उत्पन्न होगी। उदाहरण के रूप में आचारांग के प्रारम्भ में "सुयं मे अउसतेण भगवया एयं अक्खाय" के अंश को ही लें, जो सामान्यतया सभी प्रतियों में इसी रूप में मिलता है। यदि हम इसे अर्द्धमागधी में रूपान्तरित करके "सुतं मे आउसन्तेण भगवता एव अक्खाता" कर देंगे तो इसके प्रक्षिप्त होने की जो सम्भावना है वह समाप्त हो जायेगी। अतः प्राचीनस्तर के आगमों में किस अंश के भाषिक स्वरूप को बदला जा सकता है और किसको नहीं, इस पर गम्भीर चिन्तन की आवश्यकता है।

इसी सन्दर्भ में ऋषिभाषित के एक अन्य उदाहरण पर भी विचार कर सकते हैं। इसमें प्रत्येक ऋषि के कथन को प्रस्तुत करते हुए सामान्यतया यह गद्यांश मिलता है -- अरहता इसिणा बुइन्तं, किन्तु हम देखते हैं कि इसके 45 अध्यायों से 37 में "बुइन्तं" पाठ है, जबकि 7 में "बुइयं" पाठ है। ऐसी स्थिति में यदि इस "बुइयं" पाठ वाले अंश के आस-पास अन्य शब्दों के प्राचीन अर्द्धमागधी रूप मिलते हों तो "बुइयं" को बुइन्तं में बदला जा सकता है। किन्तु यदि किसी शब्द रूप के आगे-पीछे के शब्द रूप भी महाराष्ट्री प्रभाव वाले हों, तो फिर उसे बदलने के लिए हमें एक बार सोचना होगा।

कुछ स्थितियों में यह भी होता है कि ग्रन्थ की एक ही आदर्श प्रति उपलब्ध हो, ऐसी स्थिति में जब तक उनकी प्रतियाँ उपलब्ध न हो, तब तक उनके साथ छेड़-छाड़ करना उचित नहीं होगा। अतः अर्द्धमागधी या शौरसेनी के भाषिक रूपों को परिवर्तित करने के किसी निर्णय से पूर्व सावधानी और बौद्धिक ईमानदारी की आवश्यकता है। इस सन्दर्भ में अन्तिम रूप से एक बात और निवेदन करना आवश्यक है, वह है कि यदि मूलपाठ में किसी प्रकार का परिवर्तन किया भी जाता है, तो भी इतना तो अवश्य ही करणीय होगा कि पाठान्तरों के रूप में अन्य उपलब्ध शब्द रूपों को भी अनिवार्य रूप से रखा जाय, साथ ही भाषिक रूपों को परिवर्तित करने के लिए जो प्रति आधार रूप में मान्य की गयी हो उसकी मूल प्रति छाया को भी प्रकाशित किया जाय, क्योंकि छेड़-छाड़ के इस क्रम में जो साम्प्रदायिक आग्रह कार्य करेंगे, उससे ग्रन्थ की मौलिकता को पर्याप्त धक्का लग सकता है।

आचार्य शान्तिसागरजी और उनके समर्थक कुछ दिगम्बर विद्वानों द्वारा षट्खण्डागम (1/1/93) में से "संजद" पाठ को हटाने की एवं श्वेताम्बर परम्परा में मुनि श्री फूलचन्द जी द्वारा परम्परा के विपरीत लगाने वाले कुछ आगम के अंशों को हटाने की कहानी अभी हमारे सामने ताजा ही है। यह तो भाग्य ही था कि इस प्रकार के प्रयत्नों को दोनों ही समाज के प्रबुद्ध वर्ग ने स्वीकार नहीं किया और इस प्रकार से सैद्धान्तिक संगति के नाम पर जो कुछ अनर्थ हो सकता था, उससे हम बच गये। किन्तु आज भी "षट्खण्डागम" के ताम्र पत्रों एवं प्रथम संस्करण की मुद्रित प्रतियों में संजद शब्द अनुपस्थित है, इसी प्रकार फूलचन्द जी द्वारा सम्पादित अंग-सुत्ताणि में कुछ आगम पाठों का जो विलोपन हुआ है वे प्रतियाँ तो भविष्य में

भी रहेगी, अतः भविष्य में तो यह सब निश्चय ही विवाद का कारण बनेगा। इसलिये ऐसे किसी भी प्रयत्न से पूर्व पूरी सावधानी एवं सजगता आवश्यक है। मात्र "संजद" पद हट जाने से उस ग्रन्थ के यापनीय होने की जो पहचान है, वही समाप्त हो जाती और जैन परम्परा के इतिहास के साथ अनर्थ हो जाता।

उपरोक्त समस्त चर्चा से मेरा प्रयोजन यह नहीं है कि अर्द्धमागधी आगम एवं आगम तुल्य शौरसेनी ग्रन्थों के भाषायी स्वरूप की एकरूपता एवं उनके प्राचीन स्वरूप को स्थिर करने का कोई प्रयत्न ही न हो। मेरा दृष्टिकोण मात्र यह है कि उसमें विशेष सर्तकता की आवश्यकता है। साथ ही इस प्रयत्न का परिणाम यह न हो कि जो परवर्ती ग्रन्थ प्राचीन अर्द्धमागधी आगम साहित्य के आधार पर निर्मित हुए हैं, उनकी उस रूप में पहचान ही समाप्त कर दी जाये और इस प्रकार आज ग्रन्थों के पौर्वापर्य के निर्धारण का जो भाषायी आधार है वह भी नष्ट हो जाये। यदि प्रश्नव्याकरण, नन्दीसूत्र आदि परवर्ती आगमों की भाषा को प्राचीन अर्द्धमागधी में बदला गया अथवा कुन्दकुन्द के ग्रन्थों का या मूलाचार और भगवतीआराधना का पूर्ण शौरसेनीकरण किया गया तो यह उचित नहीं होगा, क्योंकि इससे उनकी पहचान और इतिहास ही नष्ट हो जायेगा।

जो लोग इस परिवर्तन के पूर्णतः विरोधी हैं उनसे भी मैं सहमत नहीं हूँ। मैं यह मानता हूँ आचारांग, ऋषिभाषित एवं सूत्रकृतांग जैसे प्राचीन आगमों का इस दृष्टि से पुनः सम्पादन होना चाहिए। इस प्रक्रिया के विरोध में जो स्वर उभर कर सामने आये हैं उनमें जौहरीमलजी पारख का स्वर प्रमुख है। वे विद्वान् अध्येता और श्रद्धाशील दोनों ही हैं। फिर भी तुलसी-प्रज्ञा में उनका जो लेख प्रकाशित हुआ है उसमें उनका वैदुष्य श्रद्धा के अतिरेक में दब सा गया है। उनका सर्वप्रथम तर्क यह है कि आगम सर्वज्ञ के वचन हैं अतः उन पर व्याकरण के नियम थोपे नहीं जा सकते कि वे व्याकरण के नियमों के अनुसार ही बोलें। यह कोई तर्क नहीं मात्र उनकी श्रद्धा का अतिरेक ही है। प्रथम प्रश्न तो यही है कि क्या अर्द्धमागधी आगम अपने वर्तमान स्वरूप में सर्वज्ञ की वाणी है ? क्या उनमें किसी प्रकार का विलोपन, प्रक्षेप या परिवर्तन नहीं हुआ है ? यदि ऐसा है तो उनमें अनेक स्थलों पर अर्न्तविरोध क्यों है ? कहीं लोकान्तिक देवों की संख्या आठ है तो कहीं नौ क्यों हैं ? कहीं चार स्थावर और दो त्रस हैं, कहीं तीन त्रस और तीन स्थावर कहे गये, तो कहीं पाँच स्थावर और एक त्रस। यदि आगम शब्दशः महावीर की वाणी है, तो आगमों और विशेष रूप से अंग आगमों में महावीर के तीन सौ वर्ष पश्चात् उत्पन्न हुए गणों के उल्लेख क्यों हैं ? यदि कहा जाय कि भगवान् सर्वज्ञ थे और उन्होंने भविष्य की घटनाओं को जानकर यह उल्लेख किया तो प्रश्न यह कि वह कथन व्याकरण की दृष्टि से भविष्यकालिक भाषा रूप में होना था वह भूतकाल में क्यों कहा गया। क्या भगवती में गोशालक के प्रति जिस अशिष्ट शब्दावली का प्रयोग हुआ है क्या वह अंश वीतराग भगवान् महावीर की वाणी हो सकती है ? क्या आज प्रश्नव्याकरणदशा, अन्तकृतदशा, अनुतरोपपातिकदशा और विपाकदशा की विषयवस्तु वही है, जो स्थानांक में उल्लिखित है ? तथ्य यह है कि यह सब परिवर्तन हुआ है, आज हम उससे इंकार नहीं कर सकते हैं।

आज ऐसे अनेक तथ्य हैं, जो वर्तमान आगमसाहित्य को अक्षरशः सर्वज्ञ के वचन मानने में बाधक हैं। परम्परा के अनुसार भी सर्वज्ञ तो अर्थ (विषयवस्तु) के प्रवक्ता हैं -- शब्द रूप तो उनको गणधरों या परवर्ती स्थविरों द्वारा दिया गया है। क्या आज हमारे पास जो आगम हैं, वे ठीक वैसे ही हैं जैसे शब्द रूप से गणधर गौतम ने उन्हें रचा था ? आगम ग्रन्थों में परवर्तीकाल में जो विलोपन, परिवर्तन, परिवर्धन आदि हुआ और जिनका साक्ष्य स्वयं आगम ही दे रहे हैं, उससे क्या हम इन्कार कर सकते हैं ? स्वयं देवर्धि ने इस तथ्य को स्वीकार किया है तो फिर हम नकारने वाले कौन होते हैं। आदरणीय पारखजी लिखते हैं-- "पण्डितों से हमारा यही आग्रह रहेगा कि कृपया बिना भेल-सेल के वही पाठ प्रदान करें जो तीर्थंकरों ने अर्थरूप में प्ररूपित और गणधरों ने सूत्ररूप में संकलित किया था। हमारे लिये वही शुद्ध है। सर्वज्ञों को जिस अक्षर, शब्द, पद, वाक्य या भाषा का प्रयोग अभिष्ट था, वह सूचित कर गये, अब उसमें असर्वज्ञ फेर बदल नहीं कर सकता।" उनके इस कथन के प्रति मेरा प्रथम प्रश्न तो यही है कि आज तक आगमों में जो परिवर्तन होता रहा वह किसने किया ? आज हमारे पास जो आगम हैं उनमें एकरूपता क्यों नहीं है ? आज मुर्शिदाबाद, हैदराबाद, बम्बई, लाहनु आदि के संस्करणों में इतना अधिक पाठ भेद क्यों है ? इनमें से हम किस संस्करण को सर्वज्ञ वचन माने और आपके शब्दों में किसे भेल-सेल कहें ? मेरा दूसरा प्रश्न यह है कि क्या आज पण्डित आगमों में कोई भेल-सेल कर रहे हैं या फिर वे उसके शुद्ध स्वरूप को सामने लाना चाहते हैं ? किसी भी पाश्चात्य संशोधक दृष्टि सम्पन्न विद्वान ने आगमों में कोई भेल-सेल किया ? इसका एक भी उदाहरण हो तो हमें बतायें। दुर्भाग्य यह है कि शुद्धि के प्रयत्न को भेल-सेल का नाम दिया जा रहा है और व्यर्थ में उसकी आलोचना की जा रही है। पुनः जहाँ तक मेरी जानकारी है डॉ. चन्द्रा ने एक भी ऐसा पाठ नहीं सुझाया है, जो आदर्श सम्मत नहीं है। उन्होंने मात्र यही प्रयत्न किया है कि जो भी प्राचीन शब्द रूप किसी भी एक आदर्शप्रत में एक-दो स्थानों पर भी मिल गये, उन्हें आधार मानकर अन्य स्थलों पर भी वही प्राचीन रूप रखने का प्रयास किया है। यदि उन्हें भेल-सेल करना होता तो वे इतने साहस के साथ पूज्य मुनिजनों एवं विद्वानों के विचार जानने के लिये उसे प्रसारित नहीं करते। फिर जब पारख जी स्वयं यह कहते हैं कि कुल 116 पाठभेदों में केवल 1 "आउसंतेण" को छोड़कर शेष 115 माठभेद ऐसे हैं कि जिनसे अर्थ में कोई फर्क नहीं पड़ता -- तो फिर उन्होंने ऐसा कौन सा अपराध कर दिया जिससे उनके श्रम की मूल्यवत्ता की स्वीकार करने के स्थान पर उसे नकारा जा रहा है? आज यदि आचारांग के लगभग 40 से अधिक संस्करण हैं-- और यह भी सत्य है कि सभी ने आदर्शों के आधार पर ही पाठ छापे हैं तो फिर किसे शुद्ध और किसे अशुद्ध कहें, क्या सभी को समान रूप से शुद्ध मान लिया जायेगा। क्या हम व्यावर, जैन विश्वभारती, लाहनु और महावीर विद्यालय वाले संस्करणों को समान महत्त्व का समझे ? भय भेल-सेल का नहीं है भय यह है कि अधिक प्रामाणिक एवं शुद्ध संस्करण के निकल जाने से पूर्व संस्करणों की सम्पादन में रही कभीयँ उजागर हो जाने का और यही खीज का मूल कारण प्रतीत होता है। पुनः क्या श्रद्धेय पारखजी यह बता सकते हैं कि कोई भी ऐसी आदर्श प्रति है, जो पूर्णतः शुद्ध है -- जब आदर्शों में भिन्नता और अशुद्धियाँ हैं, तो उन्हें दूर करने के लिये व्याकरण के अतिरिक्त विद्वान

किसका सहारा लेंगे ? क्या आज तक कोई भी आगम ग्रन्थ बिना व्याकरण का सहारा लिये मात्र आदर्श के आधार पर रूपा है। प्रत्येक सम्पादक व्याकरण का सहारा लेकर ही आदर्श की अशुद्धि को ठीक करता है। यदि वे स्वयं यह मानते हैं कि आदर्शों में अशुद्धियाँ स्वाभाविक हैं, तो फिर उन्हें शुद्ध किस आधार पर किया जायेगा ? मैं भी यह मानता हूँ कि सम्पादन में आदर्श प्रति का आधार आवश्यक है किन्तु न तो मात्र आदर्श से और न मात्र व्याकरण के नियमों से समाधान होता है, उसमें दोनों का सहयोग आवश्यक है। मात्र यही नहीं अनेक प्रतों को सामने रखकर तुलना करके एवं विवेक से भी पाठ शुद्ध करना होता है। जैसा कि आचार्य श्री तुलसीजी ने मुनि श्री जम्बूविजयजी को अपनी सम्पादन शैली का स्पष्टीकरण करते हुए बताया था।

आदरणीय पारखजी एवं उनके द्वारा उद्धृत मुनि श्री जम्बूविजयजी का यह कथन कि आगमों में अनुनासिक परसवर्ण वाले पाठ प्रायः नहीं मिलते हैं। स्वयं ही यह बताता है कि क्वचित् तो मिलते हैं। पुनः इस सम्बन्ध में डॉ. चन्द्रा ने आगमोदय समिति के संस्करण, टीका तथा चूर्ण के संस्करणों से प्रमाण भी दिये हैं। वस्तुतः लेखन की सुविधा के कारण ही अनुनासिक परसवर्ण वाले पाठ आदर्शों में कम होते गये हैं। किन्तु लोकभाषा में वे आज भी जीवित हैं। अतः चन्द्रा जी के कार्य को प्रमाणरहित या आदर्शरहित कहना उचित नहीं है।

वर्तमान में उपलब्ध आगमों के संस्करणों में लाइनू और महावीर विद्यालय के संस्करण अधिक प्रमाणिक माने जाते हैं, किन्तु उनमें भी "त" श्रुति और "य" श्रुति को लेकर या मध्यवर्ती व्यंजनों के लोप सम्बन्धी जो वैविध्य हैं, वह न केवल आश्चर्यजनक हैं, अपितु विद्वानों के लिए चिन्तनीय भी हैं।

यहाँ महावीर विद्यालय से प्रकाशित स्थानांगसूत्र के ही एक दो उदाहरण आपके सामने प्रस्तुत कर रहा हूँ।

घत्तारि यत्था पन्नत्ता, तज्जहा-सुती नामं एगे सुती, सुई नामं एगे असुई, घउभंगो।

एवामेव घत्तारि पुरिसज्जाता पन्नत्ता, तज्जहा सुती णामं एगे सुती, घउभंगो।

[घतुर्थ स्थान, प्रथम उद्देशक, सूत्रक्रमांक 241, पृ. 94]

इस प्रकार यहाँ आप देखेंगे कि एक ही सूत्र में "सुती" और "सुई" दोनों रूप उपस्थित हैं। इससे मात्र शब्द-रूप में ही भेद नहीं होता है, अर्थ भेद भी हो सकता है, क्योंकि "सुती" का अर्थ है सूत से निर्मित, जबकि "सुई" (शुचि) का अर्थ है पवित्र। इस प्रकार इसी सूत्र में "णाम" और "नाम" दोनों शब्द रूप एक ही साथ उपस्थित हैं। इसी स्थानांगसूत्र से एक अन्य उदाहरण लीजिए -- सूत्र क्रमांक 445, पृ. 197 पर "निर्गन्थ" शब्द के लिए प्राकृत शब्दरूप "नियंठ" प्रयुक्त है तो सूत्र 446 में "निगन्थ" और पाठान्तर में "नितंठ" रूप भी दिया गया है। इसी ग्रन्थ में सूत्र संख्या 458, पृ. 197 पर धम्मत्थिकात्, अधम्मत्थिकात् और आगासत्थिकात् -- इस प्रकार "काय" शब्द के दो भिन्न शब्द रूप काय और कात् दिये गये हैं। यद्यपि "त" श्रुति प्राचीन अर्द्धमागधी की पहचान है, किन्तु प्रस्तुत सन्दर्भ में सुती, नितंठ

और कातं में जो "त" का प्रयोग है वह मुझे परवर्ती लगता है। लगता है कि "य" श्रुति को "त" श्रुति में बदलने के प्रयत्न भी कालान्तर में हुए और इस प्रयत्न में बिना अर्थ का विचार किये "य" को "त" कर दिया गया है। शुचि का सुती, निर्गन्ध का नितंठ और काय का कातं किस प्राकृत व्याकरण के नियम से बनेगा, मेरी जानकारी में तो नहीं है। इससे भी अधिक आश्चर्यजनक एक उदाहरण हमें हर्षपुष्पामृत जैन ग्रन्थमाला द्वारा प्रकाशित निर्युक्तिसंग्रह में ओघनिर्युक्ति के प्रारम्भिक मंगल में मिलता है --

*नमो अरिहंताणं, णमो सिद्धाणं, णमो आयरियाणं, णमो उवज्झायणं, णमो लोए सव्वसाहूणं,
एसो पंचवनमुक्कारो, सव्वपावप्पणासणो । मंगलाणं च सव्वेसिं, पढमं हवइ मंगलं ॥ १ ॥*

यहाँ हम देखते हैं कि जहाँ नमो अरिहंताणं में प्रारम्भ में "न" रखा गया जबकि णमो सिद्धाणं से लेकर शेष चार पदों में आदि का "न" "ण" कर दिया गया है। किन्तु "एसो पंचवनमुक्कारो" में पुनः "न" उपस्थित है। हम आदरणीय पारिखजी से इस बात में सहमत हो सकते हैं कि भिन्न कालों में भिन्न व्यक्तियों से चर्चा करते हुए प्राकृत भाषा के भिन्न शब्द रूपों का प्रयोग हो सकता है। किन्तु ग्रन्थ निर्माण के समय और वह भी एक ही सूत्र या वाक्यांश में दो भिन्न रूपों का प्रयोग तो कभी भी नहीं होगा। पुनः यदि हम यह मानते हैं कि आगम सर्वज्ञ वचन है, तो जब सामान्य व्यक्ति भी ऐसा नहीं करता है फिर सर्वज्ञ कैसे करेगा ? इस प्रकार की भिन्न रूपता के लिए लेखक नहीं, अपितु प्रतिलिपिकार ही उत्तरदायी होता है। अतः ऐसे पाठों का शुद्धीकरण अनुचित नहीं कहा जा सकता। एक ही सूत्र में "सुती" और "सुई", "नाम" और "णाम", "नियंठ" और "निगंथ", "कातं" और "कायं" ऐसे दो शब्द रूप नहीं हो सकते। उनका पाठ संशोधन आवश्यक है। यद्यपि इसमें भी यह सावधानी आवश्यक है कि "त" श्रुति की प्राचीनता के व्यामोह में कहीं सर्वत्र "य" का "त" नहीं कर दिया जावे जैसे शुचि-सुइ का "सुती", निगंथ का "नितंठ" अथवा कायं का "कातं" पाठ महावीर विद्यालय वाले संस्करण में है। हम पारिखजी से इस बात में सहमत हैं कि कोई भी पाठ आदर्श में उपलब्ध हुए बिना नहीं बदला जाय, किन्तु "आदर्श" में उपलब्ध होने का यह अर्थ नहीं है कि "सर्वत्र" और सभी "आदर्शों" में उपलब्ध हो। हाँ यदि आदर्शों या आदर्श के अंश में प्राचीन पाठ मात्र एक दो स्थलों पर ही मिले और उनका प्रतिशत 20 से भी कम हो तो वहाँ उन्हें प्रायः न बदला जाय। किन्तु यदि उनका प्रतिशत 20 से अधिक हो तो उन्हें बदला जा सकता है -- शर्त यही हो कि आगम का वह अंश परवर्ती या प्रक्षिप्त न हो -- जैसे आचारांग का दूसरा श्रुतस्कन्ध या प्रश्नव्याकरण। किन्तु एक ही सूत्र में यदि इस प्रकार के भिन्न रूप आते हैं तो एक स्थल पर भी प्राचीन रूप मिलने पर अन्यत्र उन्हें परिवर्तित किया जा सकता है।

पाठ शुद्धीकरण में दूसरी सावधानी यह आवश्यक है कि आगमों में कहीं-कहीं प्रक्षिप्त अंश है अथवा संग्रहणीयों और निर्युक्तियों की अनेकों गाथाएँ भी अवतरित की गयीं, ऐसे स्थलों पर पाठ-शुद्धीकरण करते समय प्राचीन रूपों की उपेक्षा करना होगा और आदर्श में उपलब्ध पाठ को परवर्ती होते हुए भी यथावत रखना होगा।

इस तथ्य को हम इस प्रकार भी समझा सकते हैं कि यदि एक अध्ययन, उद्देशक या एक पैराग्राफ में यदि 70 या 80 प्रतिशत प्रयोग महाराष्ट्री या "य" श्रुति के हैं और मात्र 10 प्रतिशत प्रयोग प्राचीन अर्द्धभागधी के हैं तो वहाँ पाठ के महाराष्ट्री रूप को रखना ही उचित होगा। सम्भव है कि वह प्रक्षिप्त रूप हो, किन्तु इसके विपरीत उनमें 60 प्रतिशत प्राचीन रूप हैं और 40 प्रतिशत अर्वाचीन महाराष्ट्री के रूप हैं, तो वहाँ प्राचीन रूप रखे जा सकते हैं।

पुनः आगम संपादन और पाठ शुद्धीकरण के इस उपक्रम में दिये जाने वाले मूलपाठ को शुद्ध एवं प्राचीन रूप में दिया जाय, किन्तु पाद टिप्पणियों में सम्पूर्ण पाठान्तरों का संग्रह किया जाय। इसका लाभ यह होगा कि कालान्तर में यदि कोई संशोधन कार्य करें तो उसमें सुविधा हो।

अन्त में मैं यह कहना चाहूँगा कि प्रो. के. आर. चन्द्रा अपनी अनेक सीमाओं के बावजूद भी जो यह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण और श्रमसाध्य कार्य कर रहे हैं, उसकी मात्र आलोचना करना कथापि उचित नहीं है, क्योंकि वे जो कार्य कर रहे हैं वह न केवल करणीय हैं बल्कि एक सही दिशा देने वाला कार्य है। हम उन्हें सुझाव तो दे सकते हैं, लेकिन अनधिकृत रूप से येन-केन प्रकारेण सर्वज्ञ और शास्त्र-श्रद्धा की दुहाई देकर उनकी आलोचना करने का कोई अधिकार नहीं रखते। क्योंकि वे जो भी कार्य कर रहे हैं वह बौद्धिक ईमानदारी के साथ, निर्लिप्त भाव से तथा सम्प्रदायगत आग्रहों से ऊपर उठकर कर रहे हैं, उनकी नियत में भी कोई शंका नहीं की जा सकती। अतः मैं जैन विद्या के विद्वानों से नम्र निवेदन करूँगा कि वे शान्तचित्त से उनके प्रयत्नों की मूल्यवत्ता को समझें और अपने सुझावों एवं सहयोग से उन्हें इस दिशा में प्रोत्साहित करें।

भगवान महावीर की निर्वाण तिथि पर पुनर्विचार

- प्रो. सागरमल जैन

सामान्यतया जैन लेखकों ने अपनी काल गणना को शक संवत् से समीकृत करके यह माना है कि महावीर के निर्वाण के 605 वर्ष और पाँच माह पश्चात् शक राजा हुआ।¹ इसी मान्यता के आधार पर वर्तमान में भी महावीर का निर्वाण ई.पू. 527 माना जाता है। आधुनिक जैन लेखकों में दिगम्बर परम्परा के पं. जुगलकिशोरजी मुख्तार² एवं श्वेताम्बर परम्परा के मुनि श्री कल्याण विजयजी³ आदि ने भी वीरनिर्वाण ई.पू. 527 वर्ष में माना है। लगभग 7वीं शती से कुछ अपवादों के साथ इस तिथि को मान्यता प्राप्त है। श्वेताम्बर परम्परा में सर्वप्रथम "तिलोयगाली"⁴ नामक प्रकीर्णक में और दिगम्बर परम्परा में सर्वप्रथम "तिलोयपण्णत्ति"⁵ में स्पष्ट रूप से यह उल्लेख मिलता है कि महावीर के निर्वाण के 605 वर्ष एवं 5 माह के पश्चात् शक नृप हुआ। ये दोनों ग्रन्थ ईसा की 6-7वीं शती में निर्मित हुए हैं। इसके पूर्व किसी भी ग्रन्थ में महावीर के निर्वाणकाल को शक सम्वत् से समीकृत करके उनके अन्तर को स्पष्ट किया गया हो -- यह मेरी जानकारी में नहीं है। किन्तु इतना निश्चित है कि लगभग 6-7वीं शती से ही महावीरनिर्वाण शक पूर्व 605 में हुआ था, यह एक सामान्य अवधारणा रही है। इसके पूर्व कल्पसूत्र की स्थविरावली और नन्दीसूत्र की वाचक वंशावली में महावीर की पट्टपरम्परा का उल्लेख तो है, किन्तु इनमें आचार्यों के कालक्रम की कोई चर्चा नहीं है। अतः इनके आधार पर महावीर की निर्वाण तिथि को निश्चित करना एक कठिन समस्या है। कल्पसूत्र में यह तो उल्लेख मिलता है कि अब वीरनिर्वाण के 980 वर्ष वाचनान्तर से 993 वर्ष व्यतीत हो चुके हैं।⁶ इससे इतना ही फलित होता है कि वीरनिर्वाण के 980 या 993 वर्ष पश्चात् देवद्विक्षपणश्रमण ने प्रस्तुत ग्रन्थ की यह अन्तिम वाचना प्रस्तुत की। इसी प्रकार स्थानांग⁷, भगवतीसूत्र⁸ और आवश्यकनिर्युक्ति⁹ में निह्नवों के उल्लेखों के साथ वे महावीर के जीवनकाल और निर्वाण से कितने समय पश्चात् हुए हैं -- यह निर्देश प्राप्त होता है। यहाँ कुछ ऐसे सूत्र हैं जिनकी बाह्य सुनिश्चित समय वाले साक्ष्यों से तुलना करके ही हम महावीर की निर्वाण तिथि पर विचार कर सकते हैं।

महावीर की निर्वाण तिथि के प्रश्न को लेकर प्रारम्भ से मत-वैभिन्य रहे हैं। दिगम्बर परम्परा के द्वारा मान्य तिलोयपण्णत्ति में यद्यपि यह स्पष्ट उल्लेख है कि वीरनिर्वाण के 605 वर्ष एवं 5 मास पश्चात् शक नृप हुआ, किन्तु उसमें इस सम्बन्धी निम्न चार मतान्तरों का भी उल्लेख मिलता है।¹⁰

1. वीर जिनेन्द्र के मुक्ति प्राप्त होने के 461 वर्ष पश्चात् शक नृप हुआ।
2. वीर भगवान् के मुक्ति प्राप्त होने के 9785 वर्ष पश्चात् शक नृप हुआ।
3. वीर भगवान् के मुक्ति प्राप्त होने के 14793 वर्ष पश्चात् शक नृप हुआ।
4. वीर जिन के मुक्ति प्राप्त करने के 605 वर्ष एवं 5 माह पश्चात् शक नृप हुआ।

इसके अतिरिक्त षट्खण्डागम की "धवला" टीका में भी महावीर के निर्वाण के कितने वर्षों के पश्चात् शक (शाल्वाहन शक) नृप हुआ, इस सम्बन्ध में तीन मतों का उल्लेख हुआ है¹¹---

1. वीरनिर्वाण के 605 वर्ष और पाँच माह पश्चात् ।
2. वीरनिर्वाण के 14793 वर्ष पश्चात् ।
3. वीरनिर्वाण के 7995 वर्ष और पाँच माह पश्चात् ।

श्वेताम्बर परम्परा में आम्रों की देवद्वि की अन्तिमवाचना भगवान महावीर के निर्वाण के कितने समय पश्चात् हुई, इस सम्बन्ध में स्पष्टतया दो मतों का उल्लेख मिलता है -- प्रथम मत उसे वीरनिर्वाण के 980 वर्ष पश्चात् मानता है, जबकि दूसरा मत उसे 993 वर्ष पश्चात् मानता है।¹²

श्वेताम्बर परम्परा में चन्द्रगुप्त मौर्य के राज्यारोहणकाल को लेकर भी दो मान्यतायें पायी जाती हैं। प्रथम परम्परागत मान्यता के अनुसार वे वीरनिर्वाण सम्वत् 215 में राज्यासीन हुए¹³ जबकि दूसरी हेमचन्द्र की मान्यता के अनुसार वे वीरनिर्वाण के 155 वर्ष पश्चात् राज्यासीन हुए।¹⁴ हेमचन्द्र द्वारा प्रस्तुत यह दूसरी मान्यता महावीर के ई.पू. 527 में निर्वाण प्राप्त करने की अवधारणा में बाधक है।¹⁵ इस विवेचन से इतना तो स्पष्ट हो जाता है कि महावीर की निर्वाण तिथि के सम्बन्ध में प्राचीनकाल में भी विवाद था।

चूँकि महावीर की निर्वाण तिथि के सम्बन्ध में प्राचीन आन्तरिक साक्ष्य सबल नहीं थे, अतः पाश्चात्य विद्वानों ने बाह्य साक्ष्यों के आधार पर महावीर की निर्वाण तिथि को निश्चित करने का प्रयत्न किया, परिणाम स्वरूप महावीर की निर्वाण तिथि के सम्बन्ध में अनेक नये मत भी प्रकाश में आये। महावीर की निर्वाण तिथि के सम्बन्ध में विभिन्न विद्वानों के मत इस प्रकार हैं--

1. हरमन जकोबी¹⁶ ई.पू. 477

इन्होंने हेमचन्द्र के परिशिष्ट पर्व के उस उल्लेख को प्रामाणिक माना है कि चन्द्रगुप्त मौर्य वीरनिर्वाण के 155 वर्ष पश्चात् राज्यासीन हुआ और इसी आधार पर महावीर की निर्वाण तिथि निश्चित की।

2. जे. शारपेन्टियर¹⁷ ई.पू. 467

इन्होंने भी हेमचन्द्र को आधार बनाया है और चन्द्रगुप्त मौर्य के 155 वर्ष पूर्व महावीर का निर्वाण माना।

3. पं. ए. शान्तिराज शास्त्री¹⁸ ई.पू. 663

इन्होंने शक सम्वत् को विक्रम सम्वत् माना है और विक्रम सं. के 605 वर्ष पूर्व महावीर का निर्वाण माना।

4. प्रो. काशीप्रसाद जायसवाल¹⁹ इन्होंने अपने लेख आइडेन्टीफिकेशन आफ कल्की में मात्र दो परम्पराओं का उल्लेख किया है। महावीर की निर्वाण तिथि का निर्धारण नहीं किया है।
5. एस. व्ही. वैक्टेस्वर²⁰ ई.पू. 437 इनकी मान्यता अनन्द विक्रम संवत् पर आधारित है। यह विक्रम संवत् के 90 वर्ष बाद प्रचलित हुआ था।
6. पं. जुगलकिशोरजी मुख्तार²¹ ई.पू. 528 इन्होंने अनेक तर्कों के आधार पर परम्परागत मान्यता को पुष्ट किया।
7. मुनि श्री कल्याणविजय²² ई.पू. 528 इन्होंने भी परम्परागत मान्यता की पुष्टि करते हुए उसकी असंगति के निराकरण का प्रयास किया है।
8. प्रो. पी.एच. एल इगारमोण्ट²³ ई.पू. 525 इनके तर्क का आधार जैन परम्परा में तिष्यगुप्त की संघभेद की घटना का जो महावीर के जीवनकाल में उनके कैवल्य के 16वें वर्ष में घटित हुई, बौद्ध संघ में तिष्यरक्षिता द्वारा बोधि वृक्ष को सुखाने तथा संघभेद की घटना से जो अशोक के राज्यकाल में हुई थी समीकृत कर लेना है।
9. वी.ए. स्मिथ²⁴ ई.पू. 527 इन्होंने सामान्यतया प्रचलित अवधारणा को मान्य कर लिया है।
10. प्रो. के.आर. नारमन²⁵ लगभग ई.पू. 400

भगवान महावीर की निर्वाण तिथि का निर्धारण करने हेतु जैन साहित्यिक स्रोतों के साथ-साथ हमें अनुश्रुतियों और अभिलेखीय साक्ष्यों पर भी विचार करना होगा। पूर्वोक्त मान्यताओं में कौन सी मान्यता प्रामाणिक है, इसका निश्चय करने के लिये हम तुलनात्मक पद्धति का अनुसरण करेंगे और यथासम्भव अभिलेखीय साक्ष्यों को प्राथमिकता देंगे।

भगवान महावीर के समकालिक व्यक्तियों में भगवान बुद्ध, बिम्बिसार, श्रेणिक और अजातशत्रु कृणिक के नाम सुपरिचित हैं। जैन स्रोतों की अपेक्षा इनके सम्बन्ध में बौद्ध स्रोत हमें अधिक जानकारी प्रदान करते हैं। जैन स्रोतों के अध्ययन से भी इनकी समकालिकता पर कोई सन्देह नहीं किया जा सकता है। जैन आगम साहित्य बुद्ध के जीवन वृत्तान्त के सम्बन्ध में प्रायः मौन है, किन्तु बौद्ध त्रिपिटक साहित्य में महावीर और बुद्ध की समकालिक उपस्थिति के अनेक

सन्दर्भ हैं। किन्तु यहाँ हम उनमें से केवल दो प्रसंगों की चर्चा करेंगे। प्रथम प्रसंग में दीघनिकाय का वह उल्लेख आता है जिसमें अजातशत्रु अपने समय के विभिन्न धर्माचार्यों से मिलता है। इस प्रसंग में अजातशत्रु का महामात्य निर्गन्थ ज्ञातृपुत्र के सम्बन्ध में कहता है -- "हे देव ! ये निर्गन्थ ज्ञातृपुत्र संघ और गण के स्वामी हैं, गण के आचार्य हैं, ज्ञानी, यशस्वी तीर्थंकर हैं, बहुत से लोगों के श्रद्धास्पद और सज्जन मान्य हैं। ये चिरप्रव्रजित एवं अर्धगतवय (अधेड) हैं।²⁶ तात्पर्य यह है कि अजातशत्रु के राज्यासीन होने के समय महावीर लगभग 50 वर्ष के रहे होंगे, क्योंकि उनका निर्वाण अजातशत्रु कोणिक के राज्य के 22वें वर्ष में माना जाता है। उनकी सर्व आयु 72 वर्ष में से 22 वर्ष कम करने पर उस समय वे 50 वर्ष के थे -- यह सिद्ध हो जाता है।²⁷ जहाँ तक बुद्ध का प्रश्न है वे अजातशत्रु के राज्यासीन होने के 8वें वर्ष में निर्वाण को प्राप्त हुए, ऐसी बौद्ध लेखकों की मान्यता है।²⁸ इस आधार पर दो तथ्य फलित होते हैं -- प्रथम महावीर जब 50 वर्ष के थे, तब बुद्ध (80-8) 72 वर्ष के थे अर्थात् बुद्ध, महावीर से उम्र में 22 वर्ष बड़े थे। दूसरे यह कि महावीर का निर्वाण, बुद्ध के निर्वाण के (22-8=14) 14 वर्ष पश्चात् हुआ था। ज्ञातव्य है कि "दीघनिकाय" के इस प्रसंग में जहाँ निर्गन्थ ज्ञातृपुत्र आदि छहों तीर्थंकरों को अर्धवयगत कहा गया वहाँ गौतम बुद्ध की वय के सम्बन्ध में कुछ भी नहीं कहा गया है।²⁹

किन्तु उपरोक्त तथ्य के विपरीत "दीघनिकाय" में यह भी सूचना मिलती है कि महावीर बुद्ध के जीवनकाल में ही निर्वाण को प्राप्त हो गये थे। "दीघनिकाय" के वे उल्लेख निम्नानुसार हैं --

ऐसा मैंने सुना -- एक समय भगवान् शाक्य (देश) में वेधन्जा नामक शाक्यों के आम्रवन प्रासाद में विहार कर रहे थे।

उस समय निगण्ठ नातपुत्त (=तीर्थंकर महावीर) की पावा में हाल ही में मृत्यु हुई थी। उनके मरने पर निगण्ठों में फूट हो गई थी, दो पक्ष हो गये थे, लड़ाई चल रही थी, कलह हो रहा था। वे लोग एक-दूसरे को वचन-रूपी वाणों से बेधते हुए विवाद करते थे -- "तुम इस धर्मविनय (धर्म) को नहीं जानते मैं इस धर्मविनय को जानता हूँ। तुम भला इस धर्मविनय को क्या जानोगे ? तुम मिथ्या प्रतिपन्न हो (तुम्हारा समझना गलत है), मैं सम्यक्-प्रतिपन्न हूँ। मेरा कहना सार्थक है और तुम्हारा कहना निरर्थक। जो (बात) पहले कहनी चाहिये थी वह तुमने पीछे कही और जो पीछे कहनी चाहिये थी, वह तुमने पहले की। तुम्हारा वाद बिना विचार का उल्टा है। तुमने वाद रोपा, तुम निग्रह-स्थान में आ गये। इस आक्षेप से बचने के लिये यत्न करो, यदि शक्ति है तो इसे सुलझाओ। मानो निगण्ठों में युद्ध (बध) हो रहा था।

निगण्ठ नातपुत्त के जो श्वेत-वस्त्रधारी गृहस्थ शिष्य थे, वे भी निगण्ठ के वैसे दुराख्यात (ठीक से न कहे गये), दुष्प्रवेदित (ठीक से न साक्षात्कार किये गये), अ-नैर्याणिक (पार न लगाने वाले), अन्-उपशम-संवर्तनिक (न-शान्तिगामी), अ-सम्यक्-संबुद्ध-प्रवेदित (किस्ती बुद्ध द्वारा न साक्षात् किया गया), प्रतिष्ठा (नींव)-रहित भिन्न-स्तूप, आश्रयरहित धर्म में

अन्यमनस्क हो खिन्न और विरक्त हो रहे थे।³⁰

इस प्रकार हम देखते हैं कि जहाँ एक ओर त्रिपिटक साहित्य में महावीर को अर्धेडवय का कहा गया है, वहीं दूसरी ओर बुद्ध के जीवनकाल में उनके स्वर्गवास की सूचना भी है। इतना निश्चित है कि दोनों बातें एक साथ सत्य सिद्ध नहीं हो सकतीं। मुनि कल्याणविजयजी आदि ने बुद्ध के जीवनकाल में महावीर के निर्वाण सम्बन्धी अवधारणा को भ्रान्त बताया है, उन्होंने महावीर के कालकवलित होने की घटना को उनकी वास्तविक मृत्यु न मानकर, उनकी मृत्यु का प्रवाद माना है। जैन आगमों में भी यह स्पष्ट उल्लेख है कि उनके निर्वाण के लगभग 16 वर्ष पूर्व उनकी मृत्यु का प्रवाद फैल गया था, जिसे सुनकर अनेक जैन श्रमण भी अश्रुपात करने लगे थे। चूँकि इस प्रवाद के साथ महावीर के पूर्व शिष्य मंखलीगोशाल और महावीर एवं उनके अन्य श्रमण शिष्यों के बीच हुए कटु-विवाद की घटना जुड़ी हुई थी। अतः दीघनिकाय का प्रस्तुत प्रसंग इन दोनों घटनाओं का एक मिश्रित रूप है। अतः बुद्ध के जीवनकाल में महावीर की मृत्यु के दीघनिकाय के उल्लेख को उनकी वास्तविक मृत्यु का उल्लेख न मानकर गोशालक के द्वारा विवाद के पश्चात् फेंकी गई तेजोलेख्या से उत्पन्न दाह ज्वार जन्य तीव्र बीमारी के फलस्वरूप फैले उनकी मृत्यु के प्रवाद का उल्लेख मानना होगा।

चूँकि बुद्ध का निर्वाण अजातशत्रुकुणिक के राज्याभिषेक के आठवें वर्ष³¹ में हुआ, अतः महावीर का 22वें वर्ष में³² हुआ होगा। अतः इतना निश्चित है कि महावीर का निर्वाण बुद्ध के निर्वाण के 14 वर्ष बाद हुआ। इसलिये बुद्ध की निर्वाण की तिथि का निर्धारण महावीर की निर्वाण तिथि को प्रभावित अवश्य करेगा।

सर्वप्रथम हम महावीर की निर्वाण तिथि का जैनस्रोतों एवं अभिलेखों के आधार पर निर्धारण करेंगे और फिर यह देखेंगे कि इस आधार पर बुद्ध की निर्वाण तिथि क्या होगी ?

महावीर की निर्वाण तिथि का निर्धारण करते समय हमें यह देखना होगा कि आचार्य भद्रबाहु और स्थूलभद्र की महापद्मनन्द एवं चन्द्रगुप्त मौर्य से, आचार्य सुहस्ति की सम्प्रति से, आर्य मंक्षु (मंगू), आर्य नन्दिल, आर्य नागहस्ति, आर्यवृद्ध एवं आर्य कृष्ण की अभिलेखों में उल्लेखित उनके काल से तथा आर्य देवर्द्धिक्षमाश्रमण की वल्लभी के राज ध्रुवसेन से समकालीनता किसी प्रकार बाधित नहीं हो। इतिहासविद् सामान्यतया इस सम्बन्ध में एक मत हैं कि चन्द्रगुप्त का राज्यसत्ताकाल ई.पू. 321 से ई.पू. 297 तक रहा है।³³ अतः वही सत्ताकाल भद्रबाहु और स्थूलीभद्र का भी होना चाहिये। यह एक निर्विवाद तथ्य है कि चन्द्रगुप्त ने नन्दों से सत्ता हस्तगत की थी और अन्तिम नन्द के मन्त्री शकडाल का पुत्र स्थूलीभद्र था। अतः स्थूलीभद्र को चन्द्रगुप्त मौर्य का कनिष्ठ समसामयिक और भद्रबाहु को चन्द्रगुप्त मौर्य का वरिष्ठ समसामयिक होना चाहिये। चाहे यह कथन पूर्णतः विश्वसनीय माना जाये या नहीं माना जाये कि चन्द्रगुप्त मौर्य ने जैन दीक्षा ग्रहण की थी -- फिर भी जैन अनुश्रुतियों के आधार पर इतना तो मानना ही होगा कि भद्रबाहु और स्थूलीभद्र चन्द्रगुप्त मौर्य के समसामयिक थे। स्थूलीभद्र के वैराग्य का मुख्य कारण उसके पिता के प्रति नन्दवंश के अन्तिम शासक

महापद्मनन्द का दुर्व्यवहार और उनकी घृणित हत्या मानी जा सकती है।³⁴ पुनः स्थूलीभद्र भद्रबाहु से नहीं अपितु सम्भूतिविजय से दीक्षित हुए थे। पाटलिपुत्र की प्रथम वाचना के समय वाचना प्रमुख भद्रबाहु और स्थूलीभद्र न होकर सम्भूतिविजय रहे हैं -- क्योंकि उस वाचना में ही स्थूलीभद्र को भद्रबाहु से पूर्व-ग्रन्थों का अध्ययन कराने का निश्चय किया गया था -- अतः प्रथम वाचना नन्द शासन के ही अन्तिम चरण में कभी हुई है। इस प्रथम वाचना का काल वीरनिर्वाण संवत् माना जाता है। यदि हम एक बार दोनों परम्परागत मान्यताओं को सत्य मानकर यह मानें कि आचार्य भद्रबाहु वीरनिर्वाण सं. 156 से 170 तक आचार्य रहे³⁵ और चन्द्रगुप्त मौर्य वीरनिर्वाण सं. 215 में राज्यासीन हुआ तो दोनों की सम-सामयिकता सिद्ध नहीं होती है। इस मान्यता का फलित यह है कि चन्द्रगुप्त मौर्य के राज्यासीन होने के 45 वर्ष पूर्व ही भद्रबाहु स्वर्गवासी हो चुके थे। इस आधार पर स्थूलीभद्र चन्द्रगुप्त मौर्य के लघु सम-सामयिक भी नहीं रह जाते हैं। अतः हमें यह मानना होगा कि चन्द्रगुप्त मौर्य वीरनिर्वाण के 155 वर्ष पश्चात् ही राज्यासीन हुआ। हिमवन्त स्थविरावली³⁶ एवं आचार्य हेमचन्द्र के परिशिष्ट पूर्व³⁷ में भी यही तिथि मानी गई है। इस आधार पर भद्रबाहु और स्थूलीभद्र की चन्द्रगुप्त मौर्य से सम-सामयिकता भी सिद्ध हो जाती है। लगभग सभी पट्टावलियाँ भद्रबाहु के आचार्यत्वकाल का समय वीरनिर्वाण 156-170 मानती हैं।³⁸ दिगम्बर परम्परा में भी तीन केवली और पाँच श्रुतकेवलि का कुल समय 162 वर्ष माना गया है। भद्रबाहु अन्तिम श्रुतकेवलि थे अतः दिगम्बर परम्परानुसार भी उनका स्वर्गवास वीरनिर्वाण सं. 162 मानना होगा।³⁹ इस प्रकार दोनो परम्पराओं के अनुसार भद्रबाहु और चन्द्रगुप्त मौर्य की सम-सामयिकता सिद्ध हो जाती है। मुनि श्री कल्याणविजयजी ने चन्द्रगुप्त मौर्य और भद्रबाहु की सम-सामयिकता सिद्ध करने हेतु सम्भूतिविजय का आचार्यत्वकाल 8 वर्ष के स्थान पर 60 वर्ष मान लिया। इस प्रकार उन्होंने एक ओर महावीर का निर्वाण समय ई.पू. 527 मानकर भी भद्रबाहु और चन्द्रगुप्त मौर्य की सम-सामयिकता स्थापित करने का प्रयास किया।⁴⁰ किन्तु इस सन्दर्भ में आठ का साठ मान लेना उनकी अपनी कल्पना है, इसका प्रामाणिक आधार उपलब्ध नहीं है।⁴¹ सभी श्वेताम्बर पट्टावलियाँ वीरनिर्वाण सं. 170 में ही भद्रबाहु का स्वर्गवास मानती हैं। पुनः तित्थोगाली में भी यही निर्दिष्ट है कि वीरनिर्वाण संवत् 170 में चौदह पूर्वी के ज्ञान का विच्छेद (क्षय) प्रारम्भ हुआ। भद्रबाहु ही अन्तिम 14 पूर्वघर थे-- उनके बाद कोई भी 14 पूर्वघर नहीं हुआ। अतः भद्रबाहु का स्वर्गवास श्वेताम्बर परम्परा के अनुसार वीरनिर्वाण सं. 170 में और दिगम्बर परम्परा के अनुसार वीरनिर्वाण सं. 162 ही सिद्ध होता है और इस आधार पर भद्रबाहु एवं स्थूलीभद्र की अन्तिम नन्द एवं चन्द्रगुप्त मौर्य से सम-सामयिकता तभी सिद्ध हो सकती है जब महावीर का निर्वाण विक्रम पूर्व 410 तथा ई.पू. 467 माना जाये। अन्य अभी विकल्पों में भद्रबाहु एवं स्थूलीभद्र की अन्तिम नन्दराजा और चन्द्रगुप्त मौर्य से समकालिकता घटित नहीं हो सकती है। "तित्थोगाली पडन्नयं" में भी स्थूलीभद्र और नन्दराजा की समकालिकता वर्णित है।⁴² अतः इन आधारों पर महावीर का निर्वाण ई.पू. 467 ही अधिक युक्ति संगत लगता है।

पुनः आर्य सुहस्ति और सम्प्रति राजा की समकालीनता भी जैन परम्परा में सर्वमान्य है।

इतिहासकारों ने सम्प्रति का समय ई.पू. 231-221 माना है।⁴³ जैन पट्टावलियों के अनुसार आर्य सुहस्ति युग प्रधान आचार्यकाल वीरनिर्वाण सं. 245-291 तक रहा है। यदि हम वीरनिर्वाण ई.पू. 527 को आधार बनाकर गणना करें तो यह मानना होगा कि आर्य सुहस्ति ई.पू. 282 में युग प्रधान आचार्य बने और ई.पू. 236 में स्वर्गवासी हो गये। इस प्रकार वीरनिर्वाण ई.पू. 527 में मानने पर आर्य सुहस्ति और सम्प्रति राजा में किसी भी रूप में समकालीनता नहीं बनती है। किन्तु यदि हम वीरनिर्वाण ई.पू. 467 मानते हैं तो आर्य सुहस्ति आचार्य काल 467-245 ई.पू. 222 से प्रारम्भ होता है। इससे समकालिकता तो बन जाती है-- यद्यपि आचार्य के आचार्यत्वकाल में सम्प्रति का राज्यकाल लगभग 1 वर्ष ही रहता है। किन्तु आर्य सुहस्ति का सम्पर्क सम्प्रति से उसके यौवराज्य काल में, जब वह अवन्ति का शासक था, तब हुआ था और सम्भव है कि तब आर्य सुहस्ति संघ के युग प्रधान आचार्य न होकर भी प्रभावशाली मुनि रहे हो। ज्ञातव्य है कि आर्य सुहस्ति स्थूलीभद्र से दीक्षित हुए थे। पट्टावलियों के अनुसार स्थूलीभद्र की दीक्षा वीरनिर्वाण सं. 146 में हुई थी और स्वर्गवास वीरनिर्वाण 215 में हुआ था। इससे यह फलित होता है कि चन्द्रगुप्त मौर्य के राज्याभिषेक के 9 वर्ष पूर्व अन्तिम नन्द राजा (नव नन्द) के राज्यकाल में वे दीक्षित हो चुके थे। यदि पट्टावली के अनुसार आर्य सुहस्ति की सर्व आयु 100 वर्ष और दीक्षा आयु 30 वर्ष मानें तो वे वीरनिर्वाण सं. 221 अर्थात् ई.पू. 246 (वीरनिर्वाण ई.पू. 467 मानने पर) में दीक्षित हुए हैं। इससे आर्य सुहस्ति की सम्प्रति से समकालिकता तो सिद्ध हो जाती है किन्तु उन्हें स्थूलीभद्र का हस्त-दीक्षित मानने में 6 वर्ष का अन्तर आता है, क्योंकि उनके दीक्षित होने के 6 वर्ष पूर्व ही वीरनिर्वाण से 215 में स्थूलीभद्र का स्वर्गवास हो चुका था। सम्भावना यह भी हो सकती है कि सुहस्ति 30 वर्ष की आयु के स्थान पर 23-24 वर्ष में ही दीक्षित हो गये हों। फिर भी यह सुनिश्चित है कि पट्टावलियों के उल्लेखों के आधार पर आर्य सुहस्ति और सम्प्रति की समकालीनता वीरनिर्वाण ई.पू. 467 पर ही सम्भव है। उसके पूर्व ई.पू. 527 में अथवा उसके पश्चात् की किसी भी तिथि को महावीर का निर्वाण मानने पर यह समकालीनता सम्भव नहीं है।

इस प्रकार "भद्रबाहु और स्थूलीभद्र की महापद्मनन्द और चन्द्रगुप्त मौर्य से तथा आर्य सुहस्ती की सम्प्रति से समकालीनता वीरनिर्वाण ई.पू. 467 मानने पर सिद्ध की जा सकती है। अन्य सभी विकल्पों में इनकी समकालिकता सिद्ध नहीं होती है। अतः मेरी दृष्टि में महावीर का निर्वाण ई.पू. 467 मानना अधिक युक्ति संगत होगा।

अब हम कुछ अभिलेखों के आधार पर भी महावीर के निर्वाण समय पर विचार करेंगे --

मथुरा के अभिलेखों⁴⁴ में उल्लेखित पाँच नामों में से नन्दिसूत्र स्थविरावली⁴⁵ के आर्य मंगु, आर्य नन्दिल और आर्य हस्ति (हस्त हस्ति)-- ये तीन नाम तथा कल्पसूत्र स्थविरावली⁴⁶ के आर्य कृष्ण और आर्य वृद्ध ये दो नाम मिलते हैं। पट्टावलियों के अनुसार आर्य मंगु का युग-प्रधान आचार्यकाल वीरनिर्वाण संवत् 451 से 470 तक माना गया है।⁴⁷ वीरनिर्वाण ई.पू. 467 मानने पर इनका काल ई.पू. 16 से ई.सन् 3 तक और वीरनिर्वाण ई.पू. 527 मानने पर इनका काल ई.पू. 76 से ई.पू. 57 आता है। जबकि अभिलेखीय

आधार पर इनका काल शक सं. 52 (हुविष्क वर्ष 52) अर्थात् ई. सन् 130 आता है⁴⁸ -- अर्थात् इनके पट्टावली और अभिलेख के काल में वीरनिर्वाण ई. पू. 527 मानने पर लगभग 200 वर्षों का अन्तर आता है और वीरनिर्वाण ई. पू. 467 मानने पर भी लगभग 127 वर्ष का अन्तर तो बना ही रहता है। अनेक पट्टावलियों में आर्य मंगु का उल्लेख भी नहीं है। अतः उनके काल के सम्बन्ध में पट्टावलीगत अवधारणा प्रामाणिक नहीं है। पुनः आर्य मंगु का नाम मात्र जिस नन्दीसूत्र स्थविरावली में है और यह स्थविरावली भी गुरु-शिष्य परम्परा की सूचक नहीं है। अतः बीच में कुछ नाम छूटने की सम्भावना है जिसकी पुष्टि स्वयं मुनि कल्याणविजयजी ने भी की है।⁴⁹ इस प्रकार आर्य मंगु के अभिलेखीय साक्ष्य के आधार पर महावीर के निर्वाण काल का निर्धारण सम्भव नहीं है। क्योंकि इस आधार पर ई. पू. 527 की परम्परागत मान्यता ई. पू. 467 की विद्वन्मान्य मान्यता दोनों ही सत्य सिद्ध नहीं होती है। अभिलेख एवं पट्टावली का समीकरण करने पर इससे वीरनिर्वाण ई. पू. 360 के लगभग फलित होता है। इस अनिश्चता का कारण आर्य मंगु के काल को लेकर विविध भ्रान्तियों की उपस्थिति है।

जहाँ तक आर्य नन्दिल का प्रश्न है हमें उनके नाम का उल्लेख भी नन्दीसूत्र में मिलता है। नन्दीसूत्र में उनका उल्लेख आर्य मंगु के पश्चात् और आर्य नागहस्ति के पूर्व मिलता है।⁵⁰ मथुरा के अभिलेखों में नन्दिक (नन्दिल) का एक अभिलेख शक-सम्बत् 32 का है। दूसरे शक सं. 93 के लेख में नाम स्पष्ट नहीं है, मात्र "न्दि" मिला है।⁵¹ आर्य नन्दिल का उल्लेख प्रबन्धकोश एवं कुछ प्राचीन पट्टावलियों में भी है -- किन्तु कहीं पर भी उनके समय का उल्लेख नहीं होने से इस अभिलेखीय साक्ष्य के आधार पर महावीर के निर्वाणकाल का निर्धारण सम्भव नहीं है।

अब हम नागहस्ति की ओर आते हैं -- सामान्यतया सभी पट्टावलियों में आर्य वज्र का स्वर्गवास वीरनिर्वाण सं. 584 में माना गया है। आर्य वज्र के पश्चात् 13 वर्ष आर्य रक्षित, 20 वर्ष पुष्यमित्र और 3 वर्ष वज्रसेन युगप्रधान रहे अर्थात् वीरनिर्वाण सं. 620 में वज्रसेन का स्वर्गवास हुआ। मेरुतुंग की विचारश्रेणी में इसके बाद आर्य निर्वाण 621 से 690 तक युगप्रधान रहे।⁵² यदि मथुरा अभिलेख के हस्तहस्ति ही नागहस्ति हो तो माघहस्ति के गुरु के रूप में उनका उल्लेख शक सं. 54 के अभिलेख में मिलता है अर्थात् वे ई. सन् 132 के पूर्व हुए हैं। यदि हम वीरनिर्वाण ई. पू. 467 मानते हैं तो उनका युग प्रधान काल ई. सन् 154-223 आता है। अभिलेख उनके शिष्य को ई. सन् 132 में होने की सूचना देता है यद्यपि यह मानकर सन्तोष किया जा सकता है युग प्रधान होने के 22 वर्ष पूर्व उन्होंने किसी को दीक्षित किया होगा। यद्यपि इनकी सर्वायु 100 वर्ष मानने पर तब उनकी आयु मात्र 11 वर्ष होगी और ऐसी स्थिति में उनके उपदेश से किसी का दीक्षित होना और उस दीक्षित शिष्य के द्वारा मूर्ति प्रतिष्ठा होना असम्भव सा लगता है। किन्तु यदि हम परम्परागत मान्यता के आधार पर वीरनिर्वाण को शक संवत् 605 पूर्व या ई. पू. 527 मानते हैं तो पट्टावलीगत उल्लेखों और अभिलेखीय साक्ष्यों में संगति बैठ जाती है। इस आधार पर उनका युग प्रधान काल शक सं. 16 से शक

सं. 85 के बीच आता है और ऐसी स्थिति में शक सं. 54 में उनके किसी शिष्य के उपदेश से मूर्ति प्रतिष्ठा होना सम्भव है। यद्यपि 69 वर्ष तक उनका युग प्रधानकाल मानना सामान्य बुद्धि से युक्ति संगत नहीं लगता है। अतः नागहस्ति सम्बन्धी यह अभिलेखीय साक्ष्य पट्टावली की सूचना को सत्य मानने पर महावीर का निर्वाण ई.पू. 527 मानने के पक्ष में जाता है।

पुनः मथुरा के एक अभिलेखयुक्त अंकन में आर्यकृष्ण का नाम सहित अंकन पाया जाता है। यह अभिलेख शक संवत् 95 का है।⁵³ यदि हम आर्यकृष्ण का समीकरण कल्पसूत्र स्थविरावली में शिवभूति के बाद उल्लिखित आर्यकृष्ण से करते हैं⁵⁴ तो पट्टावलियों एवं विशेषावश्यक भाष्य के आधार पर इनका सत्ता समय वीरनिर्वाण सं. 609 के आस-पास निश्चित होता है।⁵⁵ क्योंकि इन्हीं आर्यकृष्ण और शिवभूति के वस्त्र सम्बन्धी विवाद के परिणाम स्वरूप बोटिक निहन्व की उत्पत्ति हुई थी और इस विवाद का काल वीरनिर्वाण संवत् 609 सुनिश्चित है। वीरनिर्वाण ई.पू. 467 मानने पर उस अभिलेख काल का $609-467=142$ ई. आता है। यह अभिलेखयुक्त अंकन $95+78=173$ ई. का है। चूँकि अंकन में आर्यकृष्ण को एक आराध्य के रूप अंकित करवाया गया है। यह स्वाभाविक है कि उनकी ही शिष्य परम्परा के किसी आर्य अर्ह द्वारा ई.सन् 173 में यह अंकन उनके स्वर्गवास के 20-25 वर्ष बाद ही हुआ होगा। इस प्रकार यह अभिलेखीय साक्ष्य वीरनिर्वाण संवत् ई.पू. 467 मानने पर ही अन्य साहित्यिक उल्लेखों से संगति रख सकता है, अन्य किसी विकल्प से इसकी संगति बैठाना सम्भव नहीं है।

मथुरा अभिलेखों में एक नाम आर्यवृद्धहस्ति का भी मिलता है। इनके दो अभिलेख मिलते हैं। एक अभिलेख शक सं. 60 (हुविष्क वर्ष 60) और दूसरा शक सं. 79 का है।⁵⁶ ईस्वी सन् की दृष्टि से ये दोनों अभिलेख ई. सन् 138 और ई.सन् 157 के हैं। यदि ये वृद्धहस्ति ही कल्पसूत्र स्थविरावली के आर्यवृद्ध और पट्टावलियों के वृद्धदेव हों तो पट्टावलियों के अनुसार उन्होंने वीरनिर्वाण 695 में कोरंटक में प्रतिष्ठा करवाई थी।⁵⁷ यदि हम वीरनिर्वाण ई.पू. 467 मानते हैं तो यह काल $695-467=218$ ई. आता है। अतः वीरनिर्वाण ई.पू. 527 मानने पर इस अभिलेखीय साक्ष्य और पट्टावलीगत मान्यता का समीकरण ठीक बैठ जाता है। पट्टावली में वृद्ध का क्रम 25वाँ है। प्रत्येक आचार्य का औसत सत्ता काल 25 वर्ष मानने पर इनका समय वीरनिर्वाण ई.पू. 467 मानने पर भी अभिलेख से वीरनिर्वाण 625 आयेगा और तब $625-467=158$ ई. संगति बैठ जायेगी।

अन्तिम साक्ष्य जिस पर महावीर की निर्वाण तिथि का निर्धारण किया जा सकता है, वह है महाराज ध्रुवसेन के अभिलेख और उनका काल। परम्परागत मान्यता यह है कि वल्लभी की वाचना के पश्चात् सर्वप्रथम कल्पसूत्र की सभा के समक्ष वाचना आनन्दपुर (बडनगर) में महाराज ध्रुवसेन के पुत्र-मरण के दुःख को कम करने के लिये की गयी। यह काल वीरनिर्वाण सं. 980 या 993 माना जाता है।⁵⁸ ध्रुवसेन के अनेक अभिलेख उपलब्ध हैं। ध्रुवसेन प्रथम का काल ई.सं. 525 से 550 तक माना जाता है।⁵⁹ यदि यह घटना उनके राज्यारोहण के द्वितीय वर्ष ई.सन् 526 की हो तो महावीर का निर्वाण $993-526=469$ ई.पू. सिद्ध होता है।

इस प्रकार इन पाँच अभिलेखीय साक्ष्यों में तीन तो ऐसे अवश्य हैं, जिनसे महावीर का निर्वाण ई.पू. 467 सिद्ध होता है। जबकि दो ऐसे हैं जिनसे वीरनिर्वाण ई.पू. 527 भी सिद्ध हो सकता है। एक अभिलेख का इनसे कोई संगति नहीं है। ये असंगतियाँ इसलिये भी हैं कि पट्टावलियों में आचार्यों का जो काल दिया गया है उसकी प्रामाणिकता सन्दिग्ध है और आज हमारे पास ऐसा कोई आधार नहीं है जिसके आधार पर इस असंगति को समाप्त किया जा सके। फिर भी इस विवेचना में हम यह पाते हैं कि अधिकांश साहित्यिक एवं अभिलेखीय साक्ष्य महावीर के निर्वाण काल को ई.पू. 467 मानने की ही पुष्टि करते हैं। ऐसी स्थिति में बुद्ध निर्वाण ई.पू. 482, जिसे अधिकांश पाश्चात्य विद्वानों ने मान्य किया है, मानना होगा और तभी यह सिद्ध होगा कि बुद्ध के निर्वाण के लगभग 15 वर्ष पश्चात् महावीर का निर्वाण हुआ।

सन्दर्भ

- 1 (अ). णिव्वाणे वीर जिणे ढुव्वाससदेसु पंचवरिसेसु। पणमासेसु गदेसु संजादो सगणिओ अहवा ।। -- तिलोयपण्णत्ति, 4/1499
(ब) पंच य मासा पंच य वासा ढुच्येव होंति वाससया । परिणिव्वुअस्सऱरिहतो सो उप्पण्णो सगो राया ।। -- तित्थोगाली पइन्नय 623
2. पं. जुगलकिशोरजी मुख्तार, जैन साहित्य और इतिहास पर विशद प्रकाश, श्री वीरशासन संघ, कलकत्ता, 1956, पृ. 26-44, 45-46
3. मुनि कल्याणविजय, वीरनिर्वाण संवत् और जैन कालगणना, प्रकाशक क.वि. शास्त्र समिति, जालौर (मारवाड़), पृ. 159
4. तित्थोगाली पइन्नयं (गाथा 623), पइण्णयसुत्ताइं, सं.मुनि पुष्यविजय, प्रकाशक श्री महावीर जैन विद्यालय, बम्बई, 400036
5. तिलोयपण्णत्ति, 4/1499 सं. प्रो. हीरालाल जैन, जैन संस्कृतिरक्षक संघ शोलापुर,
6. कल्पसूत्र, 147, पृ. 145, अनुवादक माणिकमुनि, प्रकाशक -- सोभागमल हरकावत, अजमेर
7. ठाणं (स्थानांग), अंगुसुत्ताणि भाग 1, आचार्य तुलसी, जैनविश्वभारती, लाडनू 7/141
8. भगवई 9/222-229 (अंगसुत्ताणि भाग 2 -- आचार्य तुलसी, जैनविश्वभारती लाडनू)
9. बहुरय पएस अव्वत्तसमुच्छादुगतिग अबद्धिया चेव ।
सत्तेए णिण्हगा खलु तित्थमि उ वद्धमाणस्स ।।
बहुरय जमालिपभवा जीवपएसया य तीसगुत्ताओ ।
अव्वत्ताऱसाढाओ सामुच्छेयाऱसमित्ताओ ।।
गंगाओ दोकिरिया ढुल्लुगा तेरासियाण उप्पत्ती ।
थेराय गोठ्ठमाहिल पुठ्ठमबद्धं पसुविति ।।
सावत्थी उसभपुर सेयविया मिहिल उल्लुगातीरं ।
पुरिमंतरजि दसपुर रहवीरपुरं च नगराइ ।।
चौददस सोलस वासा चौददसवीसुत्तरा य दोण्णि सया ।
अट्ठावीसा य दुवे पंचेव सया उ चोयाला ।।
पंच सया चुलसीया ढुच्येव सया णवोत्तरा होंति ।
णाणुपत्तीय दुवे उप्पण्णा णिव्वुए सेसा ।।

-- आवश्यकनिर्युक्ति 778-783 [निर्युक्तिसंग्रह -- सं. विजयजिनसेन
सूरीश्वर हर्षपुष्पामृत, जैनग्रन्थमाला, लाखा बाखल, सौराष्ट, 1989]

10. वीरजिणे सिद्धिगदे चउसदइगिसट्ठिवासपरिमाणे । कालम्मि अदिक्कंते उप्पण्णे एत्थ सकराओ ॥ 461
अहवा वीरे सिद्धे सहस्सणवकम्मि सगसयब्भहिए । पणसीदिम्मि यतीदे पणमासे सकणिओ जादो ॥ 9785 मास 5 ।
चोद्दससहस्ससगसयतेणउदीवासकालविच्छेदे । वीरेसरसिद्धीदो उप्पण्णे सगणिओ अहवा ॥ 14793
णिव्वाणे वीरजिणे छव्वाससदेसु पंचवरिसेसु । पणमासेसु गदेसु संजादो सगणिओ अहवा ॥ 605 मा 5 ।
-- तिलोयपण्णति, 4/1496-1499
11. भवणिदेसु पंचमासाहियपंचुत्तरहस्ससदवासाणि हवति । एसो वीरजिणिदणिव्वाणगददिवसादो जाव सगकालस्स आदी होदि तावदियकालो । कुदो ? 605/5 एदस्सि काले सगणरिदकालम्मि पक्खित्ते वड्ढमाणजिणिव्वुदकालागमणादो वुत्तं च --
पंच य मासा पंच य त्रासा छच्चेव होंति वाससया ।
सगकालेण य सहिया थावेयव्वो तदो रासी ॥
अण्णे के वि आइरिया चोद्दससहस्स-सत्तसद-तिणउदिवासेसु जिणिव्विण्वाणदिणादो अइक्कंतेसु सगणरिदुप्पत्ति भणति ॥ 4793 ॥ वुत्तं च--
गुत्ति-पयत्थ-भयाइं चोद्दसरयणाइ समइकंताई ।
परिणिव्वुदे जिणिदे तो रज्ज सगणरिदस्स ॥
अण्णे के वि आइरिया एवं भणति । तं जहा --
सत्तसहस्स-णवसय-पंचाणउदिवरिसेसु पंचमासाहिएसु बड्ढमाणजिण-
णिव्वुददिणादो अइक्कंतेसु सगणरिदरज्जुप्पत्ती जादो त्ति । एत्थ गाहा --
सत्तसहस्सा णवसद पंचाणउदी सपंचमासा य ।
अइकंता वासाणं जइया तइया समुप्पत्ती ॥
एदेसु तिसु एककेण होदव्वं । ण तिण्णमुवदेसाण सच्चत्तं, अण्णोणविरोहादो ।
तदो जाणिय वत्तव्यं ।
-- धवला टीका समन्वित षट्खण्डागम, खण्ड भाग 4, 1, पुस्तक 9, पृ. 132-133
12. समणस्स भगवओ महावीरस्स जाव सव्वदुक्खपहीणस्स नव वास सयाइं विइकंताइं दसमस्स वाससयस्स अयं असीइमे संवच्छरे काले गच्छइ, वायणंतरे पुण अयं वायणं तेरे पुण अयं ते णउए संवच्छरे काले गच्छइ इह दीसइ ।
-- कल्पसूत्र (मणिकमुनि, अजमेर), 147, पृ. 145
13. पालगरणो सट्ठी पणपण्णसयं वियाणं णंदाणं ।
मरुयाणं अट्ठसयं तीसा पुण पुसमित्ताणं ॥
-- तित्थोगाली पइन्नयं (पइण्णयसुत्ताइं), 621

60 पालक + 155 नन्दवंश = 215 बीतने पर मौर्यवंश का शासन प्रारम्भ हुआ ।

14. एवं च श्री महावीर मुलेर्वर्षशते, पंच पंचाशदधिके चन्द्रगुप्तोऽभवन्नृपः ।।
-- परिशिष्टपर्व, हेमचन्द्र, सर्ग, 8/339 (जैनधर्म प्रसारक संस्था भावनगर)
15. ज्ञातव्य है चन्द्रगुप्त मौर्य को वीरनिर्वाण सं. 215 में राज्यासीन मानकर ही वीरनिर्वाण ई.पू. 527 में माना जा सकता है, किन्तु उसे वीरनिर्वाण 155 में राज्यासीन मानने पर वीरनिर्वाण ई.पू. 467 मानना होगा ।
16. Jacobi, V. Harman -- Buddhas und Mahaviras Nirvana und die Politische Entwicklung Magadhas Zu Jerier Zeit, 557.
17. Charpentier Jarl -- Uttaradhyayanasutra, Introduction p. 13-16.
18. अनेकान्त, वर्ष 4 किरण 10, शास्त्री ए. शान्तिराज -- भगवान महावीर के निर्वाण सम्वत् की समालोचना
19. Indian Antiquary, Vol. XLVI, 1917, July 1917, Page 151-152, Swati Publications, Delhi, 1985.
20. The Journal of the Royal Asiatic Society, 1917, Vankteshvara, S. V. -- The Date of Vardhamana, p. 122-130.
21. मुख्तार जुगलकिशोर -- "जैनसाहित्य और इतिहास पर विशद प्रकाश", श्री वीरशासन संघ, कलकत्ता, ई. सन् 1956, पृ. 26-56
22. मुनि कल्याणविजय -- वीरनिर्वाण संवत् और जैन कालगणना प्रकाशक क.वि. शास्त्र समिति जालौर, वि.स. 1987
23. Eggermont, P.H.L. -- "The Year of Mahavira's Decease".
24. Smith, V.A. -- The Jaina Stupa and other Antiquities of Mathura, Indological Book House, Delhi, 1969, p.14.
25. Norman, K.R. -- Observations on the Dates of the Jina and the Buddh.
26. अञ्जतरो पिखो राजामच्चो राजानं मागधं अजातसत्तु वेदेहिपुत्तं एतद्वोच -- "अयं, देव, निगण्ठो नाटपुत्तो सङ्घी चैव गणी घ गणाचरियो चं, ज्ञातो, यसस्सी, तित्थकरो, साधुसम्मतो बहुजनस्स, रत्तञ्च, चिरपब्बजितो, अद्दगतो, वयोअनुप्पत्तो ।
-- दीघनिकाय, सामञ्जफलसुत्तं, 2/1/7
27. देखें -- मुनि कल्याणविजय, वीरनिर्वाण संवत् और जैनकाल गणना, पृ. 4-5.
28. देखें -- मुनि कल्याणविजय, वीरनिर्वाण और जैनकाल गणना, पृ. 1
29. देखें -- दीघनिकाय, सामञ्जफलसुत्तं, 2/2/8
30. एवं मे सुतं । एकं समयं भगवा सक्केसु विहरति वेधञ्जा नाम सक्या तेसं अम्बवने पासादे । तेन खो पन समयेन निगण्ठो नाटपुत्तो पावायं अधुनाकालङ्कतो होति । तस्स कालङ्किरियाय भिन्ना निगण्ठा द्वेधिकजाता भण्डनजाता कलहजाता विवादापन्ना

अञ्जमञ्जं मुखसत्तीहि वितुदन्ता विहरन्ति -- "न त्वं इमं धम्मविनयं आजानासि, अहं इमं धम्मविनयं आजानामि। किं त्वं इमं धम्मविनयं आजानिस्ससि ? मिच्छापटिपन्नो त्वमसि, अहमस्मि सम्मापटिपन्नो। सहितं मे, असहितं ते। पुरेवघनीयं पच्छा अवच, पच्छा-वघनीयं पुरे अवच। अधिचिण्णं ते विपरावत्तं। आरोपितो ते वादो। निगगहितो त्वमसि। चर वादप्पमोक्खाय। निब्बेठेहि वा सचे पहोसी" ति। वधो येव खो मञ्जे निगण्ठेसु नाटपुत्तियेसु वत्तति। ये पि निगण्ठस्स नाटपुत्तस्स सावका गिही ओदातक्सना ते पि निगण्ठेसु नाटपुत्तियेसु निब्बिन्नरूपा विरत्तरूपा पटिवानरूपा -- यथा तं दुरक्खाते धम्मविनये दुप्पवेदिते अनिय्यानिके अनुपसमसंवत्तनिके असम्मासम्बुद्धप्पवेदिते भिन्नथूपे अप्पटिसरणे।

-- दीघनिकाय, पासादिकसुत्तं, 6/1/1

31. देखें --
32. देखें -- मुनि कल्याणविजय, वीरनिर्वाण संवत् और जैनकाल गणना
33. (अ) Majumdar, R.C. Ancient India, Published by Motilal Banarasidas, Banaras, 1952, p. 108
(ब) डॉ. रमाशंकर त्रिपाठी -- प्राचीन भारत का इतिहास, मोतीलाल बनारसीदास, 1968, पृ. 139
34. तित्थोगाली पङ्क्तयं, 78 [पङ्कणया सुत्ताइं, महावीर विद्यालय, बम्बई]
35. ज्ञातव्य है कि लगभग सभी श्वेताम्बर पट्टावलियों इसीकाल का उल्लेख करतां हैं देखें-- विविध गच्छीय पट्टावली संग्रह (प्रथम भाग) मुनि जिनविजय सिंघी जैन शास्त्र शिक्षापीठ, भारतीय विद्याभवन, बम्बई, 1961
36. ज्ञातव्य है कि हिमवत स्थविरावली की मूलप्रति उसके गुजराती अनुवाद के पश्चात् उपलब्ध नहीं हो पा रही है। पं. हीरालाल हंसराज जामनगर का उसका गुजराती अनुवाद ही इसका एक मात्र आधार है। इसमें महावीर के निर्वाण के पश्चात् साठ वर्ष कृणिकं और उदायी का राज्यकाल दिखाकर उसके पश्चात् नन्दों के 94 वर्ष दिखाकर वीरनिर्वाण 155 में चन्द्रगुप्त मौर्य का राज्यारोहण दिखा गया है। देखें -- वीरनिर्वाण सम्वत् और जैन काल गणना मुनि कल्याणविजय, पृ. 178
37. परिशिष्ट, हेमचन्द्र, 8/339
38. देखें - (अ) पट्टावली पराग संग्रह -- मुनि कल्याणविजयजी
(ब) विविधगच्छीय पट्टावली संग्रह -- प्रथम भाग सम्पादक-- जिनविजय, सिंघी जैन शास्त्र शिक्षा पीठ, भारतीय विद्याभवन, बम्बई
39. धवला टीका समन्वित षट्खण्डागम, खण्ड, पुस्तक
40. (अ) मुनि कल्याणविजय -- पट्टावलीपरागसंग्रह, क.वि. शास्त्रसंग्रह समिति जालौर, 1966, पृ. 52 मुनिजी द्वारा किये गये अन्य परिवर्तनों के लिये देखें-- पृ. 49-50
(ब) मुनि कल्याणविजय, वीरनिर्वाण, संवत् और जैन कालगणना, पृ. 137

ज्ञातव्य है कि मुनिजी ने मौर्यकाल को 108 के स्थान पर 160 बनाने का जो प्रयत्न किया है, वह इतिहास सम्मत नहीं है।

41. ज्ञातव्य है कि मुनिजी द्वारा एक ओर सम्भूति विजय के स्वर्ष के काल को साठ वर्ष साठ वर्ष करना और दूसरी ओर मौर्यों के इतिहास सम्मत 108 वर्ष के काल को एक सौ साठ वर्ष करना केवल अपनी मान्यता की पुष्टि का प्रयास है।
42. तित्थोगाली पडन्नयं -- पडण्णा सुत्ताई। -- सं. पुण्यविजयजी महावीर विद्याल, बम्बई, 793, 794
43. डॉ. रामशंकर त्रिपाठी, प्राचीन भारत का इतिहास, मोतीलाल बनारसीदास, देहली, 1968, पृ. 139।
ज्ञातव्य है "इन्होंने सम्प्रतिकाल 216-207 ई.पू. माना है।
44. (अ) देखें -- जैनशिलालेख संग्रह, भाग 2, प्रकाशक मणिकचन्द्र दिगम्बर जैन ग्रन्थमाला, 1952, लेख क्रमांक 41, 54, 55, 56, 59, 63।
(ब) आर्यकृष्ण (कण्ह) के लिये देखें -- V.A. Smith -- The Jain Stupa and other Antiquities of Mathura, p.24
45. नन्दीसूत्र स्थविरावली, 27, 28, 29
46. कल्पसूत्र स्थविरावली (अन्तिम गाथा भाग) गाथा 1 एवं 4
47. मुनि कल्याणविजय, वीरनिर्वाण संवत् और जैन काल गणना, जालौर, पृ. 122, आधार - युगप्रधान पट्टावलियाँ।
48. देखें-- जैन शिलालेख संग्रह, भाग 2, माणिकचन्द्र दिगम्बर जैन ग्रन्थमाला समिति, सितम्बर 1952, लेख क्रमांक 54
49. मुनि कल्याणविजय, वीरनिर्वाण संवत् और जैन काल गणना, जालौर, पृ. 121 एवं 131
50. देखें -- नन्दीसूत्र स्थविरावली, 27, 28 एवं 29
51. देखें -- जैन शिलालेखसंग्रह, भाग 2, लेखक्रमांक 41, 67
52. मुनि कल्याणविजय, वीरनिर्वाण संवत् और जैन काल गणना, जालौर, पृ. 106, टिप्पणी
53. V.A. Smith, The Jain Stupa and other Antiquities of Mathura, p.24
54. कल्पसूत्र स्थविरावली (अन्तिम गाथा भाग), गाथा 1
55. विशेषावश्यकभाष्य
56. जैनशिलालेखसंग्रह, भाग 2, लेख क्रमांक 56, 59
57. मुनि जिनविजय, विविधगच्छीय पट्टावली संग्रह, प्रथम भाग, सिंघी जैनशास्त्र शिक्षापीठ, भारतीय विद्याभवन, बम्बई, पृ. 17
58. कल्पसूत्र (सं. माणिकमुनि, अजमेर) 147
59. गुजरात नो राजकीय अने सांस्कृतिक इतिहास ग्रन्थ 3, वी.जे. इन्स्टीट्यूट, अहमदाबाद-9, पृ. 40

हमारे महत्त्वपूर्ण प्रकाशन

1. Studies in Jaina Philosophy — Dr. Nathmal Tatia 100.00
2. Jaina Temples of Western India —
Dr. Harihar Singh 200.00
3. Political History of Northern India From Jaina
Sources — Dr. G. C. Choudhary 80.00
4. Concept of Matter in Jaina Philosophy —
Dr. J. C. Sikdar 150.00
5. Jaina Theory of Reality — Dr. J. C. Sikdar 150.00
6. Jaina Perspective in Philosophy and Religion —
Dr. Ramjee Singh 100.00
7. Aspects of Jainology, Vol. II (Pt. Becharadas
Commemoration Volume) 250.00
8. Aspects of Jainology, Vol. III (Pt. Malvania
Felicitation Volume) 250.00
9. जैन साहित्य का बृहद् इतिहास (सात खण्ड) 560.00
10. हिन्दी जैन साहित्य का इतिहास (दो खण्ड) 340.00
11. जैन प्रतिमा विज्ञान — डॉ० मारुतिनन्दन तिवारी 120.00
12. वज्रालम्ब (हिन्दी अनुवाद सहित) — विश्वनाथ पाठक 80.00
13. धर्म का मर्म — प्रो० सागरमल जैन 20.00
14. जैन और बौद्ध भिक्षुणी संच — डॉ० अरुण प्रताप सिंह 70.00
15. प्राकृत-हिन्दी कोश — सम्पादक : डॉ० के० आर० चन्द्र 120.00
16. मूलाचार का समीक्षात्मक अध्ययन — डॉ० फूलचन्द्र जैन 80.00
17. अहंत् पाश्वर् और उनकी परम्परा — प्रो० सागरमल जैन 20.00
18. स्याद्वाद और सप्तभंगी नय — डॉ० भिखारी राम यादव 70.00
19. ऋषिभाषित : एक अध्ययन (हिन्दी एवं अंग्रेजी) —
प्रो० सागरमल जैन 30.00
20. अनेकान्त, स्याद्वाद एवं सप्तभंगी — प्रो० सागरमल जैन 10.00
21. जैन-धर्म की प्रमुख साध्वियाँ एवं महिलाएँ —
डॉ० हीराबाई बोरदिया 50.00
22. मध्यकालीन राजस्थान में जैन-धर्म — डॉ० (श्रीमती)
राजेश जैन 160.00
23. जैन कर्म-सिद्धान्त का उद्भव एवं विकास —
डॉ० रवीन्द्र नाथ मिश्र 100.00
24. जैन तीर्थों का ऐतिहासिक अध्ययन — डॉ० शिवप्रसाद 100.00
25. महावीर निर्वाणभूमि पावा : एक विमर्श —
भगवती प्रसाद खेतान 60.00